॥ श्रीः ॥

विद्याभवन राष्ट्रभाषा ग्रन्थमाला

१७

बार्हस्पत्य राज्य-व्यवस्था

(Political and Legal System of Bṛhaspati)

लेखक

डॉ० राघवेन्द्र वाजपेयी

एम० ए०, पी-एच० डी०

इतिहास विभाग, गवर्नमेंट कालेज, कीर्तिनगर,

दिल्ली विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली
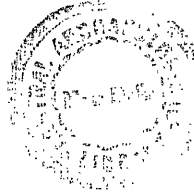
चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१

१९६६

THE

VIDYABHAWAN RASHTRABHASHA GRANTHAMALA

97

*****

BĀRHASPATYA RĀJYA-VYAVASTHĀ

(Political and Legal System of Bṛhaspati)

By

Dr. RĀGHAVENDRA VĀJPEYĪ

(M. A., Ph. D.)

THE

CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

VARANASI-1

1966

Price Rs. 10-00

Also can be had of

THE CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE

Publishers & Antiquarian Book-Sellers

P. O. Chowkhamba, Post Box 8, Varanasi-1 (India)

Phone : 3145

तस्मै श्रीगुरवे नमः
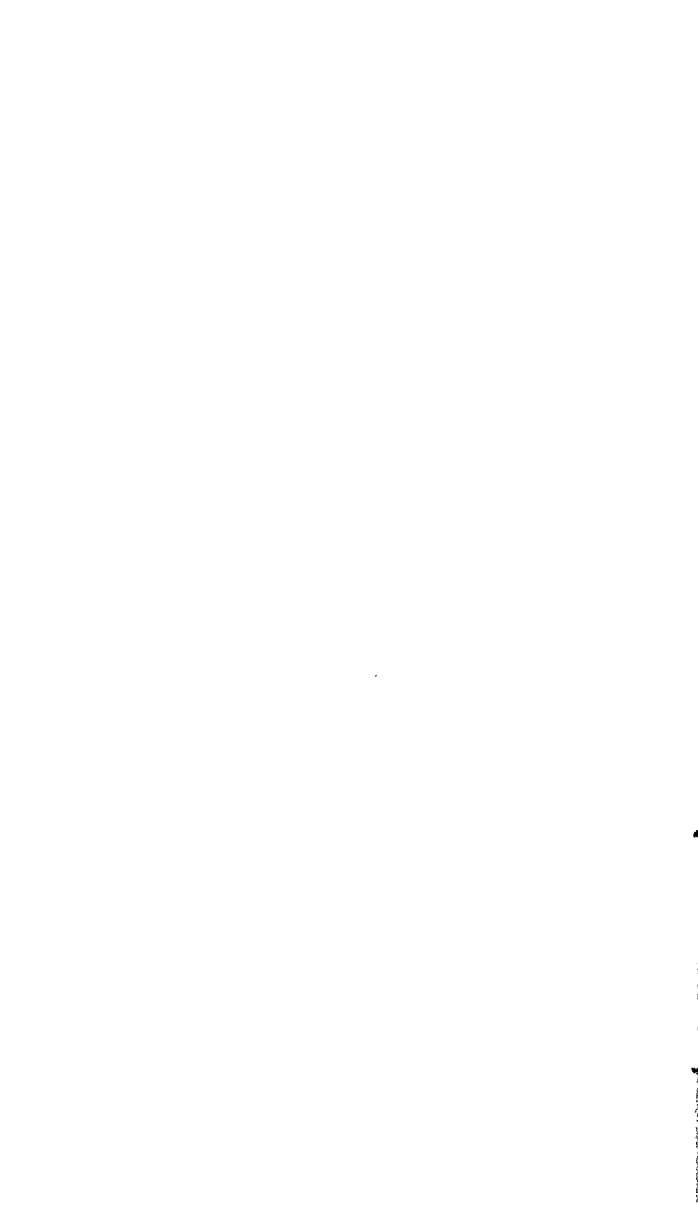
प्राक्कथन

बार्हस्पत्य अर्थशास्त्रीय शाखा की प्राचीनता, इतिहास और सिद्धान्तों का विधिवत् अध्ययन अब तक अपेक्षित था। श्री राघवेन्द्र वाजपेयी ने 'बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र' के आधार पर बार्हस्पत्य राज्य-व्यवस्था नामक पुस्तक लिखकर भारतीय राजनीति के विषय में ज्ञान-संवर्द्धक सामग्री प्रस्तुत की है। राजा, राज्य-व्यवस्था. मन्त्रिपरिषद्, कोष, सेना, दुर्ग और न्याय-व्यवस्था के सम्बन्ध में इसकी बहुमूल्य सामग्री अवश्य मनन करने योग्य है। सामग्री के चयन, वर्गीकरण, प्रस्तुत करने के ढंग, व्याख्या और तुलनात्मक दृष्टिकोण से मूल्यांकन करने के प्रयत्नों की सफलता प्रशंसनीय है। मुझे प्रसन्नता है कि काशी के प्रसिद्ध प्रकाशक चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ तथा चौखम्बा विद्याभवन के अध्यक्ष ने इस अध्ययन को प्रकाशित करके भारतीय राजनीतिक साहित्य की सेवा की है। मेरा अनुरोध है कि विश्वविद्यालयों में राजनीति विषय पढ़ने-पढ़ाने वाले इसका अवलोकन करें।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
१९ जनवरी १९६६

वासुदेवशरण

आमुख

वर्तमान शती के आरम्भिक वर्षों में प्रो० डनिंग ने प्राच्य आर्यों को राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में अक्षम माना था।[1] उस समय तक भारतीय राजनीतिशास्त्र के इतिहास का अध्ययन अपनी प्रारम्भिक अवस्था में ही था। १९०५ ई० में डा० श्याम शास्त्री ने कौटिलीय अर्थशास्त्र का उद्धार किया था और १९१५ ई० तक वे उसके संस्करण, सम्पादन एवं अनुवाद कार्य प्रारम्भ कर चुके थे। धीरे-धीरे अर्थशास्त्रीय परम्परा का अध्ययन प्रारम्भ हो चुका था। १९१५ ई० से १९५९ ई० तक की लगभग अर्धशती में राजनीतिक इतिहास एवं राज्य-चिन्तन सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना लेखों एवं शोध प्रबन्धों के रूप में अपनी प्रौढावस्था को पहुँच गयी। कौटिल्य के परवर्ती राज्य-चिन्तनों का अध्ययन पूर्णता को पहुँच चुका है। फलस्वरूप, पूर्ववर्ती अर्थशास्त्रियों और उनके अनुयायियों के मतों का अध्ययन विशेष फलप्रद हो सकता है।

राजनीतिक चिन्तन के जन्म और विकास के इतिवृत्त का वर्णन शान्तिपर्व करता है जो संक्षेपतः इस प्रकार है : ब्रह्मा राज-शास्त्र के प्रवर्तक थे। उन्होंने पैतामह शास्त्र की रचना की थी। इस शास्त्र में शत-सहस्र (–एक लाख) अध्याय थे जिसमें धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष वर्गों का वर्णन था। त्रयी, आन्वीक्षिकी, वार्ता तथा दण्डनीति का समावेश था। भगवान् शंकर ने इस ग्रन्थ का संक्षेप दस सहस्र अध्यायों (के ग्रन्थ के रूप में) किया। वह ग्रन्थ वैशालाक्ष कहलाया। पुरन्दर (–इन्द्र) ने पाँच सहस्र अध्यायों में इसका संक्षेप किया जो बाहुदन्तक कहलाया। तत्पश्चात् तीन सहस्र अध्यायों में बृहस्पति ने संक्षेप किया जो बार्हस्पत्य कहलाया और एक सहस्र अध्यायों में काव्य (–उशनस्) ने संक्षेप किया।[2] वात्स्यायन ने भी ब्रह्मा (प्रजापति) से मौलिक शास्त्र की उत्पत्ति मानी है।[3] उनके

---

१. A History of Political Theories—Ancient and Mediaeval—Intro, p. XIX, Prof. William Archibald Dunning, New York, 1903.

२. शान्तिपर्व (क्रिटिकल एडीशन) ५९।२८–९१।

३. कामसूत्र ५।७।

मतानुसार शास्त्र का नाम पैतामह[1] न होकर प्राजापत्य[2] होगा। पुनः वे संक्षेपीकरण प्रक्रिया का वर्णन न करके प्राजापत्य शास्त्र से धर्म और अर्थ अंशों के क्रमशः मनु एवं बृहस्पति द्वारा पृथक्करण का वर्णन करते हैं।[3] प्रतिमा नाटक में मानवीय धर्मशास्त्र और बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र का साथ-साथ उल्लेख मिलता है।[4] शान्तिपर्व की परम्परा की ओर संकेत करते हुए बुद्ध-चरित और युक्ति कल्पतरु के लेखक औशनस् और बार्हस्पत्य नीतियों तथा राजशास्त्रों का उल्लेख करते हैं।[5] यह (विशेष रूप से) ध्यान देने योग्य बात है कि कौटिल्य ने भी अर्थशास्त्र के प्रारम्भ में शुक्र-बृहस्पति को नमन किया है।[6] यही नहीं, उन्होंने मानव, बार्हस्पत्य एवं औशनस् मतावलम्बियों का उल्लेख और उनके मतों का खण्डन कई स्थानों पर किया है।[7] ऐसा प्रतीत होता है कि इन मतों ने कौटिल्य के समकालीन चिन्तन को विशेष रूप से प्रभावित किया था। कहना कठिन है कि अर्थशास्त्र में उल्लिखित मानव मतानुयायी अर्थशास्त्री परम्परा के मानने वाले थे अथवा वात्स्यायन समर्थित धर्मशास्त्री थे। आचार्यों में कौटिल्य भारद्वाज, विशालाक्ष, पराशर, पिशुन, कौणपदन्त, वातव्याधि तथा बहुदन्तीपुत्र के मतों का उल्लेख करते हैं।[8] आचार्यों की इस तालिका में उल्लिखित विशालाक्ष और बहुदन्तीपुत्र शान्तिपर्व के वैशालाक्ष एवं बाहुदन्तक शास्त्रों के रचयिता प्रतीत होते हैं। दोनों आचार्यों की गणना सम्भवतः अर्थशास्त्रीय प्रत्यक्ष परम्परा में होती थी, शेष की पृथक् में। इनके विपरीत मानव, बार्हस्पत्य और औशनस् आचार्य परम्परा और शाखाओं के रूप में विकसित हुए होंगे। सम्प्रति, हमारा उद्देश्य बार्हस्पत्य मतावलम्बियों द्वारा मान्य राज्यदर्शन का अध्ययन है।

बृहस्पति नाम-परम्परा का प्रारम्भ ऋग्वेद में हो चुका था। उनमें

---

१. शान्तिपर्व ५९।२८–९१।

२. कामसूत्र ५।७।

३. वही ५।७।

४. प्रतिमा नाटक–पृष्ठ १३४।

५. बुद्ध चरित १।४६; युक्तिकल्पतरु पृ० २।

६. अर्थशास्त्र पृ० १, मैसूर, १९१९—नमश्शुक्रबृहस्पतिभ्याम्।

७. वही १।२, पृ० ६, वही १०।६ पृ० ३७५, वही १।१५ पृ० २९, वही २।८ पृ० ६३, वही ३।११ पृ० १७७, वही ३।१७ पृ० १९२।

८. वही १।८ पृ० १३–१४, वही ५।५ पृ० २५३, वही ८।१ पृ० ३२२–२४, वही ८।३ पृ० ३२७–३०।

पुरोहित एवं देवता दोनों का सम्मिलित रूप माना गया था।[1] ब्राह्मण युग तक आते-आते उन्हें वाणी का अधिष्ठाता और अपूर्वमेधावी[2] मान लिया गया था। डा॰ जितेन्द्रनाथ बनर्जी का कथन है कि, प्राचीन भारतीय लेखकों में अपने विषय में स्वयं मौन और अज्ञात रहते हुए सप्तर्षियों के नाम से ग्रन्थ रचना की परिपाटी चल पड़ी थी।[3] प्रो॰ रंगस्वामी आयंगर का भी मत था कि बृहस्पति के नाम से किसी ग्रन्थ के सम्बद्ध करने का अर्थ होता—उसे प्रामाणिकता प्रदान करना।[4]

कौटिलीय अर्थशास्त्र में ६ स्थलों पर बृहस्पति के मतावलम्बियों का उल्लेख[5] एवं ग्रन्थ के प्रारम्भ में ऋषि वन्दना में शुक्र-बृहस्पति को नमन स्पष्ट कर देता है कि कौटिल्य के युग तक बृहस्पति ख्यातिलब्ध आचार्य माने जा चुके थे और उनके मतानुयायी राजनीतिक चिन्तन के क्षेत्र में प्रबल अर्थशास्त्री माने जाने लगे थे।

अर्थशास्त्र के अतिरिक्त स्मृति, संहिता, दर्शन, ज्योतिष एवं वास्तुशास्त्र विषयक्त ग्रन्थों की रचना का श्रेय भी बृहस्पति को दिया जाता है। इन ग्रन्थों में राज्य-व्यवस्था के अध्ययन के लिये प्रारम्भिक तीनों ग्रन्थों की उपादेयता विशेष है।

बृहस्पति सूत्र अथवा बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र—"ले म्यूजियों" के मार्च, १९१६ के अंक में डा॰ एफ॰ डब्ल्यू॰ टॉमस ने बृहस्पति सूत्र नामक ६ अध्यायों में विभक्त एक लघु ग्रन्थ का प्रकाशन किया था। मूल ग्रन्थ रोमन लिपि में था एवं अनुवाद तथा भूमिका अंग्रेजी में थी। १९२१ में लाहौर डी॰ ए॰ वी॰ कालेज के रिसर्च इंस्टिट्यूट के डाइरेक्टर प्रो॰ भगवद्दत्त ने अपनी अतिरिक्त प्रस्तावना के साथ डा॰ टॉमस द्वारा सम्पादित ग्रन्थ को देवनागरी

---

१. Vedic Index, Vol. II p. 72.
Brihaspasti 'Lord of prayer' is the name of a god in the Vedic texts.

२. Bṛhaspati Smṛti–G. O. S. Vol. LXXXV, Introduction p. 80.

३. The Development of Hindi Inconography–Dr. J. N. Banerjea, 1956, pp 13–18

४. Bṛhaspati Smṛti–Introduction, P. 79.

५. अर्थशास्त्र, १।२, पृ॰ ६, १।१५, पृ॰ २९, २।८, पृ॰ ६३, ३।११, पृ॰ १७७, ३।१७, पृ॰ १९२, १०।६, पृ॰ ३७५।

लिपि में प्रकाशित किया था। यह ग्रन्थ सूत्र शैली में देवराज इन्द्र और देवगुरु बृहस्पति के संवाद के रूप में है। इस ग्रन्थ को प्रारम्भ में ही नीतिसर्वस्व[1] अर्थात् राजनीति का संक्षेप कहा गया है।

इस ग्रन्थ के समय[2] एवं महत्व के बारे में विद्वानों में बड़ा मतभेद रहा है। प्रो० काणे इसे परवर्ती ग्रन्थ मानते हैं और चलताऊ संदर्भ के अतिरिक्त इसे महत्व प्रदान करना उचित नहीं समझते हैं।[3] डा० अल्तेकर ने भी इसे लघु, महत्वविहीन एवं परवर्ती ग्रन्थ माना था।[4] डा० टॉमस भी इसे बारहवीं शताब्दी से पहिले का मानने में असमर्थ हैं।[5] उपर्युक्त विद्वानों के मतों के ठीक विपरीत मत डा० काशीप्रसाद जायसवाल[6] तथा डा० कृष्णराव ने व्यक्त किये हैं। उनके अनुसार बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र कौटिल्य के लिये प्राथमिक महत्व का ग्रन्थ था, जिस प्रकार अश्वघोष, वात्स्यायन, भास और महाभारत के लेखकों के लिये बृहस्पति सूत्र था।[7] इस प्रकार के विरोधाभासपूर्ण वातावरण में बृहस्पति सूत्र के स्वरूप और उसके वर्णन क्रम की ओर संकेत अप्रासंगिक न होगा।

बृहस्पति सूत्र की रचना का उद्देश्य, जैसा कि ग्रन्थ के स्वरूप से ही प्रकट है, सूत्र शैली में संवाद क्रम द्वारा राजनीति के महत्वपूर्ण पक्षों— दण्डनीति के महत्व, शासकीय गुणों, राजा की वैयक्तिक सुरक्षा, जनता के वर्गों और विदेश से आने वाले शासकों के साथ प्रयोजनीय नीति, आन्तरिक

---

१. बार्हस्पत्य सूत्रम् अध्याय १ पृ० १।
बृहस्पतिरथाचार्य इन्द्राय नीतिसर्वस्वमुपदिशति।

२. मूल शोध प्रबन्ध में लेखक ने अंग्रेजी शब्द डेट के लिये तिथि भाषान्तर किया था किन्तु प्रो० काणे के सुझाव को सादर स्वीकार करके महाराष्ट्र आदि में प्रचलित समय शब्द का प्रयोग इन पृष्ठों में होगा।

३. History of Dharmaśāstra-Prof. P. V. Kane, Vol. I Poona, 1930, p. 126.

४. State and Government in Ancient India, A. S. Altekar p. 10.

५ Introduction (Reproduced by Prof. Bhagavad datta, p, 17).

६. Hindu Polity-Dr. K. P. Jayaswal, P. 7.

७. Studies in Kautilya-Dr. M. V. Krishna Rao, Mysore, 1953, pp. 10–11.

प्रशासन, विदेश नीति, मंत्र-विधि, मंत्र-प्रक्रिया, मंत्रियों के गुण दोष तथा विभिन्न विभागों का वर्णन है। प्रथम अध्याय में राजा के महत्व, उसके चरित्र निर्माण, उसके कर्तव्य एवं सुरक्षा के कार्यों का महत्व वर्णित है। द्वितीय अध्याय में राज्य की स्थिति के लिये आवश्यक साधनों, राजा के लिये आराध्य आदर्शों एवं धार्मिक सम्प्रदायों का वर्णन उपलब्ध होता है। तृतीय अध्याय में सामान्य प्रशासन के सिद्धान्तों, शासक के लिये प्रयोजनीय वस्तुओं, दण्डनीति के महत्व के अतिरिक्त विभिन्न धार्मिक सम्प्रदायों उनके तीर्थ स्थानों और विस्तृत भौगोलिक परिधि आदि के वर्णन उपलब्ध होते हैं। चतुर्थ अध्याय में राजा की वेषभूषा और मंत्रणा विधि तथा शत्रु से सम्बन्धों के निर्धारण के प्रयत्न किये गये हैं। पञ्चम अध्याय में उपायों और परीक्षा विधि का वर्णन है। षष्ठ अध्याय में विद्या, धन, नय, मंत्रणा और अमात्य आदि का महत्व वर्णित है।

अर्थशास्त्रीय परम्परा में इस ग्रन्थ की रचना के प्रयत्न किये गये हैं। कौटिल्य एवं कामन्दक ने वर्णन किया था कि बार्हस्पत्य मतावलम्बी (राज्य कार्य के संचालन के लिये) वार्ता और दण्डनीति को आवश्यक मानते थे।[1] इस ग्रन्थ में ठीक विपरीत मत का प्रतिपादन किया गया है। कौटिलीय और कामन्दकीय में वर्णित औशनस् मतानुयायियों की भाँति[2] बृहस्पति सूत्र का भी लेखक दण्डनीति को ही एकमात्र विद्या[3] मानता है। कामन्दक द्वारा वर्णित सप्तप्रकृति राज्य[4] का बार्हस्पत्य सिद्धान्त और अन्तर राज्य राजनीति के प्रमुख बार्हस्पत्य अष्टादशक मण्डल[5] सिद्धान्त के दर्शन कहीं नहीं होते। कौटिलीय में वर्णित सोलह अमात्यों की मंत्रिपरिषद्[6], परिहापण का दश गुना अधिक दण्ड[7] और (कक्ष, पक्ष और उरस्य से युक्त) प्रतिग्रह[8] व्यूह के बार्हस्पत्य सिद्धान्तों के दर्शन कहीं नहीं होते। प्रो० रंगस्वामी आयंगर द्वारा संकलित

---

१. अर्थशास्त्र, १।२, पृ० ६। वार्ता दण्डनीतिश्चेति बार्हस्पत्याः—संवरणमात्रं हि त्रयी लोकयात्राविद् इति। कामन्दकीय नीतिसार २।४।

२. वही, १।२ पृ० ६। दण्डनीतिरेका विद्येत्यौशनसाः

३. बृ० सू० १।३। दण्डनीतिरेव विद्या।

४. कामन्दकीय ८।४–५। अमात्य······सप्तप्रकृतिकं राज्यमित्युवाच बृहस्पतिः।

५. वही, ८।२६। मौला द्वादश राजान इत्यष्टादशकं गुरुः।

६. अर्थशास्त्र, १।५ पृ० २९। षोडशेति बार्हस्पत्याः।

७. वही, २।८, पृ० ६३। 'दशगुणः' इति बार्हस्पत्यः।

८. वही, १०।६, पृ० ३७५। 'पक्षौ कक्षावुरस्यं प्रतिग्रहः' इति बार्हस्पत्याः।

बृहस्पति स्मृति में कृत, त्रेता, द्वापर एवं तिष्यपाद् के वर्णन मिलते हैं, जिनके क्रमिक ह्रास के फलस्वरूप तिष्य के पश्चात् राज्य, राजा एवं व्यवहार का जन्म हुआ था।[१] बृहस्पति सूत्र का लेखक भी शान्तिपर्व की ही भाँति कृतयुग में भी दण्डनीति कोविद् लोगों की स्थिति स्वीकार करता है।[२]

राजनीति के अतिरिक्त अन्य विषयों के वर्णन में भारत के प्राचीन धर्म, धार्मिक सम्प्रदाय, उनके पवित्र क्षेत्र, तीर्थ एवं आगम साहित्य के वर्णन भी इस लघु ग्रन्थ में उपलब्ध होते हैं। धर्मों में बौद्ध[४], अर्हत[५], लोकायतिक[३], क्षपणक[६], कापालिक[७], वैष्णव[८], शैव[९], शाक्त[१०] तथा देवी देवताओं में दुर्गा-भद्रकाली[११], कुमार[१२], गणपति[१३] एवं शास्ता[१४] तथा गरुड़[१५] के नाम मिलते हैं।

इसी प्रकार पृथिवी और विशेष रूप से भारतवर्ष के पौराणिक वर्णन तीर्थों, नदियों तथा पर्वतों के वर्णन अपनी अलग विशिष्टता रखते हैं।[१६] भारतीय राजनीतिक भूगोल के वर्णन में भी स्पष्ट रूप से तीन स्तर (बौद्ध-युगीन, गुप्तयुगीन एवं परवर्ती) द्रष्टव्य हैं।[१७] इन वर्णनों में उपलब्ध

---

१ बृहस्पतिस्मृति संस्कार काण्ड ७–८।

२. बृ० सू० ३।१४, १।४२। कृते ज्ञानिनः॥ दण्डनीतिकोविदाः॥

३. वही, २।९, १५, २८, ३४, ३।१५, ६१।

४. वही, २।७, ९।

५. वही, २।५, ८, १२, १६, २९, ३, १५।

६. वही, २।१४, २२, २३, ३३, ३, १५।

७. वही, २।६, ९, १३, २१, ३१।

८. वही, ३।९, ११, १२, ११९।

९. वही, ३।९, ११, ३६, १२१।

१० वही, ३।९, ११, १२, ३३, १२३।

११. वही, ३।१२८।

१२. वही, ३।१२९।

१३. वही, ३।१३०।

१४. वही, ३।१३१।

१५. वही, ३।१३२।

१६. वही, ३।६७–१३१।

१७. वही, ३।९०, ९४, १०२, ९२, ९६, १०४, ८१, ८९, ३।१२३, २७, ८६, १००, ९२, ११४, १२३, १३२, ८१, १११, १३१, ९५, १०१, १०३, ३।१०७, १२३।

कोशल[1] शब्द यदि मुस्लिम इतिहास लेखकों का कोल[2] (–अलीगढ़) है तो इस अंश को तेरहवीं शती के पहिले का नहीं माना जा सकता। दक्षिण भारत को धर्माधर्म का प्राप्तिस्थान माना गया है[3] और कहा गया है कि दण्डनीति वहीं विराजती है।[4] उत्तर भारत से दण्डनीति का लोप मुस्लिम शासन की स्थापना के पहिले नहीं हुआ था। यादवों[5] के उल्लेख को डा० टॉमस बारहवीं शती के देवगिरि के यादवों के लिये मानते हैं।[6] यही नहीं ग्रन्थ में कई बार प्रयुक्त कुसुमान्त शब्द पल्लवों के लिये है अथवा मुस्लिम आक्रमणकारियों के लिये, कहना लगभग असम्भव-सा है। उपर्युक्त वर्णनों के कारण बाध्य होकर डा० टॉमस द्वारा मान्य तिथि की सार्थकता स्वीकार करनी पड़ती है।

ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारम्भिक मध्ययुग में इस ग्रन्थ की रचना की गयी थी। लेखक को बार्हस्पत्य की प्रति उपलब्ध थी अथवा प्राचीन परम्परा का उसे अच्छा ज्ञान था। बृहस्पति सूत्र परवर्ती ग्रन्थ होने के बाद भी भाषा के प्राचीन प्रयोगों एवं विषयवस्तु के प्राचीनतम का आवरण प्रदान करने के लेखक के प्रयत्नों के कारण महत्त्वविहीन ग्रन्थ नहीं है। प्राचीन बार्हस्पत्य परम्परा से लेखक ने वर्णवस्तु ग्रहण की थी और परम्परा निर्वाह करने के भरसक प्रयत्न किये थे। उदाहरणार्थ निम्नलिखित अंश प्रस्तुत किये जा सकते हैं[7] :—

बृहस्पति सूत्र	कौटिलीय अर्थशास्त्र	कामन्दकीय नीतिसार
नीतेः फलं धर्मार्थकामावाप्तिः (२।४३)	धर्माधर्मौ त्रय्याम्। अर्थानर्थौ वार्तायाम्। नयानयौ दण्डनीत्यां, बलाबले चेतासां हेतुभिरन्वीक्षमाणा लोकस्योपरोति, व्यसनेऽभ्युदये च बुद्धिमवस्थापयति, प्रज्ञावाक्यक्रियावैशारद्यं च करोति (१।२, पृ० ६–७)	

१. बृ० सू० ३।१२३।

२. Tabaqat–i–Nasiri (quoted in History of Kanauj, p. 328) Banaras, 1937.

३. बृ० सू० ३।७३। तत्र साक्षाद्धर्माधर्मफलाः सिद्ध्यन्ति।

४. वही, ३।७४।

५. वही, ३।१०४।

६. Introduction p. 17.

७. बृ० सू० १।९८, १०४–१०५।

बृहस्पति सूत्र	कौटिलीय अर्थशास्त्र	कामन्दकीय नीतिसार
कृषिगोरक्षवाणिज्यानि (२।४)	कृषि पशुपाल्ये वाणिज्या च वार्ता (१।४, पृ० ८)	
दण्डनीतिरेव विद्या (१।३)	तस्माद्दण्डनीति मूलास्तिस्रो विद्याः (१।१९, पृ० ३७)	
आत्मवान् राजा (१।१)	विद्या विनीतो राजा (१।५, पृ० ११)	आत्मवान् नृपः (२।३६)
नाडिका (१।५९)	नालिका (१।१९, पृ० ३७)	
	स्वामि सम्पत् (अंश) (६।१, पृ० २५७–५८)	
आत्मवन्तं मंत्रिणमापादयेत् (१।२)	अमात्य सम्पत् (६।१, पृ० २५८)	

बृहस्पति स्मृति—बृहस्पति के नाम से सम्बद्ध दूसरा ग्रन्थ बृहस्पति स्मृति है। जहाँ बृहस्पति सूत्र में शासनप्रणाली और राज्य-चिन्तन के प्रति अर्थप्रधान दृष्टिकोण अपनाया गया है वहीं स्मृति ग्रन्थ की रचना धर्मप्रधान दृष्टिकोण से की गयी है। स्मृति परम्परा में लिखे गये इस ग्रन्थ का प्रो० रंगस्वामी आयंगर ने लगभग २२२ ग्रन्थों की सहायता से मूलोद्धार किया है। प्रिंसिपल जॉली ने सेक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट वाल्यूम ३३ में विभिन्न निबन्ध ग्रन्थों की सहायता से संकलित ७११ श्लोकों को बृहस्पतिस्मृति-अनुवाद के रूप में प्रकाशित किया था। एलौयस एण्टोनी फूहरर ने ८४ श्लोकों के बार्हस्पत्य धर्मशास्त्र और अनुवाद के साथ प्रकाशित किया था। उनके पश्चात् गायकवाड़ ओरियण्टल सिरीज ८५ में प्रकाशित बृहस्पतिस्मृति अपने विषय का सर्वाधिक प्रामाणिक संकलन है। प्रो० रंगस्वामी आयंगर ने अपने इस संकलन के लिये ११० पेज की भूमिका में विषयवस्तु के स्वरूप, तिथि एवं मनुस्मृति के साथ तुलना आदि विभिन्न पक्षों का अध्ययन किया है। उन्होंने सम्पूर्ण ग्रन्थ को व्यवहार, संस्कार, आचार, श्राद्ध, अशौच, आपद्धर्म एवं प्रायश्चित्त काण्डों में विभक्त किया है। संकलन के अन्त में उन्होंने अपने ग्रन्थ में प्रयुक्त काण्ड और श्लोक क्रम तथा प्रो० जॉली द्वारा मान्य क्रम की तुलनात्मक तालिका प्रस्तुत की है।

प्रो० आयंगर ने अपने संकलन की प्रस्तावना में मनुस्मृति एवं बृहस्पति-स्मृति की तुलना की है। उन्होंने बृहस्पतिस्मृति को मनुस्मृति का वार्तिक मानने की परम्परा का उल्लेख किया है। प्रो० जॉली ने भी अपनी अनूदित

बृहस्पतिस्मृति की प्रस्तावना में स्कन्दपुराण की परम्परा का उल्लेख किया है जिसमें कहा गया है कि, मनु स्मृति के चार संस्करण हुए थे जिन्हें क्रमशः भृगु, नारद, बृहस्पति और अंगिरस् ने किया था।[1] बृहस्पति स्मृति में कई स्थलों पर 'मन्वर्थ विपरीता तु या स्मृतिः सा न शस्यते' वर्णन मिलते हैं।[2] यही नहीं मनु स्मृति के अनेकों संदर्भ उपलब्भ होते हैं। मनु के नियोग[3] एवं द्यूत[4] को एक स्थल पर मान्यता प्रदान करने एवं दूसरे स्थल पर उसका विरोध करने के विरोधाभास के स्पष्टीकरण के प्रयत्नों के भी बृहस्पति स्मृति में दर्शन होते हैं।[5]

बृहस्पति स्मृति-व्यवहार काण्ड में राज्य-व्यवस्था के अध्ययन के लिये विशेष रूप से सामग्री उपलब्ध होती है। यज्ञवल्क्य स्मृति की भाँति व्यवहार काण्ड के अन्तर्गत कोई पृथक् प्रकरण-राजधर्म प्रकरण बृहस्पति स्मृति में उपलब्ध नहीं होता। संस्कार काण्ड में मानव जीवन से सम्बन्धित संस्कारों का वर्णन मिलता है। प्रत्येक संस्कार के लिये ज्योतिष के वार, नक्षत्र एवं योग आदि को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है। क्षत्रिय के लिये वर्णित मान्यताएं राजा के लिये भी मान्य रही होंगी। राज्य के जन्म के पूर्व की धर्माधर्म की स्थिति एवं युग पतन का वर्णन इसी काण्ड में उपलब्ध होता है। ज्येष्ठ के उत्तराधिकार का महत्त्व भी इसी में वर्णित है। आपद्धर्म काण्ड विशेष अवस्थाओं और विपदाओं की स्थिति में शासक एवं शासित के कर्तव्यों की तालिका प्रस्तुत करता है।

व्यवहार काण्ड में राज्य और राजत्व तथा व्यवहार के जन्म के वर्णनों के अतिरिक्त दुर्ग निर्माण पद्धति, अन्तर-राज्य राजनीति का मण्डल योनि

---

१. Sacred Books of the East Vol. XXXIII. J. Jolly–Introduction p. VII.

२. बृ० स्मृ० व्या० का० २९।१७ (?)

वेदार्थोपनिबद्धत्वात् प्राधान्यं तु मनोः स्मृतम्।
मन्वर्थविपरीता तु या स्मृतिः सा न प्रशस्यते ॥

वही अशौचकाण्ड ३; वही० सं० का० १३।

३. वही, व्य० का० २५।१६। उक्त्वा नियोगो मनुना निषिद्धः स्वयमेव तु।

४. वही, व्य० का० १७।१।

५. वही, व्य० का० २५।१६। युगाह्लासादशक्योऽयं कर्तुं सर्वैर्विधानतः। वही, व्य० का० २७।१। द्यूतं निषिद्धं मनुना सत्यशौचधनापहम्। तत्प्रवर्तिमन्येस्तु राजभागसमन्वितम् ॥

सिद्धान्त, राजा के कर्तव्यों और सेना तथा व्यवहार सम्बन्धी वर्णन मिलते हैं। जैसा कि व्यवहार काण्ड की रचना से ही स्पष्ट है, न्याय और उसके स्रोत-धर्म, व्यवहार, चारित्र्य और नृपाज्ञा, वाद, वाद प्रकार एवं न्याय प्रक्रिया आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। धर्मशास्त्र साहित्य में बृहस्पति स्मृति प्रथम ग्रन्थ है जिसमें पूर्णरूपेण वैज्ञानिक स्तर पर व्यवहार काण्ड का विकास किया गया है। वाद के जन्म, उसकी स्थापना, साक्ष्य, साक्षि भेद, प्रमाण एवं उसके प्रकार, शपथ एवं परीक्षा आदि के द्वारा वाद के निर्णय के प्रयत्न किये गये हैं। बार्हस्पत्य न्याय का उद्देश्य स्पष्ट रूप से दुष्ट को दण्ड देना एवं निरापराध की रक्षा करना था। बृहस्पति स्मृति इस कार्य को यम के कर्तव्य की भाँति बताती है। अपराधों के अनुसार दण्ड प्रकार निर्धारित किये गये थे जिनमें वाग्दण्ड से लेकर वध तक सभी के अस्तित्व को स्वीकार किया गया था।

व्यवहार के वर्णनों के साथ-साथ सामान्य सामाजिक एवं प्रादेशिक आधारों के विभेदों का भी वर्णन किया गया है। इसे देश-जाति धर्म की संज्ञा प्रदान की गयी है। प्रतिलोम से उत्पन्न व्यक्तियों, दुर्ग निवासियों, स्थानीय परम्पराओं, जातीय विशिष्टताओं और कुल की रीति की प्रामाणिकता को उचित ठहराया गया है। यह भी कहा गया है कि इन्हें अस्वीकार करने एवं नियम निगडित करने के प्रयत्नों से प्रजा में विक्षोभ हो सकता है। उदाहरण के लिये कुछ प्रादेशिक मान्यताओं का वर्णन किया गया है। दक्षिणात्य ब्राह्मणों में प्रचलित मातुल कन्या से विवाह, मध्य देश के कर्मकर एवं शिल्पियों में प्रचलित गोमांस भक्षण, मत्स्य (–राजस्थान) में पुरुष एवं पूर्व में स्त्रियों को व्यभिचारी बताया गया है। उत्तर की नारियों में प्रचलित मद्यपान एवं रजस्वला होने पर स्पर्श्य होना तथा सहजात (?) में प्रचलित पति विहीन भ्रातृ भार्या को ग्रहण करना आदि कार्य धर्मशास्त्र विरुद्ध होने पर भी लोक प्रचलन के कारण बृहस्पति को स्वीकार्य हैं।

संस्कार काण्ड में संस्कारों तथा ग्रह, नक्षत्रों तथा तिथि परक वर्णनों तथा उनके शुभाशुभ फलों तथा ग्रह शान्ति के उपायों के वर्णन स्पष्ट रूप से ज्योतिष की विस्तृत जानकारी को प्रकट करते हैं। दीनार शब्द का प्रयोग बृहस्पति स्मृति और कालिदास के समय में पर्याप्त रूप से प्रचलित था। इसका दूसरा नाम सुवर्ण था।

समय निर्धारण के दृष्टिकोण से प्रो० बुहलर ने २०० ई० से लेकर नवीं शती ई० तक माना था।[1] प्रो० जॉली ने प्रारम्भिक तिथि प्रथम शती ई०

१. Digest of Hindu Law. Buhlar, p. 44, 4th Ed.

एवं अन्तिम तिथि सातवीं शती ईस्वी को माना था।[1] प्रो० काणे ने अर्थशास्त्री, धर्मशास्त्री और व्यवहार पर स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने वाले बृहस्पति की एकता में सन्देह प्रकट किया था। व्यवहार ग्रन्थ के लेखक बृहस्पति का समय वे २०० ई० ४०० ई० मानते हैं।[2] जबकि आचार और प्रायश्चित्त पर ग्रन्थ लिखने वाले बृहस्पति को वे २८० ई० से ५०० ई० के बीच में रखते हैं।[3] इन मतों के विपरीत प्रो० रंगस्वामी आयंगर मानते हैं कि गुप्तकाल के प्रारम्भ में बृहस्पति स्मृति पूर्ण हो चुकी थी। वैदिक ऋषि एवं देवगुरु बृहस्पति के नाम से अर्थशास्त्र को सम्बद्ध करके उसे विशेष महत्व प्रदान किया गया था। कौटिल्य के समय तक उनके मतानुयायी बार्हस्पत्य कहलाते थे। सूत्र रूप में लिखे गये ग्रन्थ से अर्थ और धर्म अंशों का विस्तार किया गया था। कौटिल्य के समय सूत्र के साथ-साथ भाष्य लिखने की परम्परा भी प्रचलित हो रही थी। धर्मसूत्रों की रचना क्रम में भी इस प्रकार का अन्तर आ रहा था। मौलिक बार्हस्पत्य ग्रन्थ, जिसका कौटिल्य को ज्ञान था, इन संस्कारों से होकर निकला था। मौलिक बृहस्पति सूत्रों की व्याख्या के साथ-साथ प्रचलित धर्म अंशों के संकलन ने उसे धर्म ग्रन्थ की पूर्णता प्रदान की। उसकी यह अवस्था वास्तव में चौथी या पाँचवीं शती ई० तक रही जबकि विस्तार अथवा व्याख्या के लिये विशेष रूप से ज्योतिष के नवीन ज्ञान को भी संग्रहीत किया गया था।[4] प्रो० आयंगर के विद्वत्ता पूर्ण मत के सम्बन्ध में केवल इतना ही कहा जा सकता है कि कौटिल्य के समय चाहे बृहस्पति और उनके मतानुयायियों का अर्थ विषयक ग्रन्थ सूत्र रूप में रहा हो, वह पूर्ण ग्रन्थ था और उसी की भाँति के अन्य ग्रन्थ भी कौटिल्य को उपलब्ध थे। सूत्र ग्रन्थ के विस्तार अथवा उसके अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र रूपों में पृथक्करण तथा विकास का इतिवृत्त अप्रमाणित रह जाता है। प्रथम शती ईस्वी के लगभग प्रतिमा नाटक और बुद्ध चरित के लेखक बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र का स्वतन्त्र रूप से उल्लेख करते हैं और वात्स्यायन उनके मतों की पुष्टि करते हैं। यद्यपि कौटिल्य ने बृहस्पति के मत का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है किन्तु कामन्दक ने बृहस्पति के मत का स्वतन्त्र उल्लेख किया है। महाभारत और

---

१. S. B. E., Vol. XXXIII, p. 275-276.

२. History of Dharmaśāstra, Vol. I, p. 126.

३. Ibid. Vol, I, p. 126.

४. Brihaspati Smṛti. Introduction, p. 184.

It remained virtually unaltered, till chance additions came to be made in the fourth or the fifth century A. D. to its text.

नीतिवाक्यामृत (का टीकाकार) बृहस्पति के मत एवं उनके ग्रन्थ के अध्यायों के भी सन्दर्भ देते हैं। काणे ने तो अर्थशास्त्री और धर्मशास्त्री बृहस्पति को एक मानने में शंका प्रकट की है। यह सम्भव है कि बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र की ही भाँति धर्मशास्त्र का भी पृथक् अस्तित्व रहा हो। समय के अन्तर तथा संस्करण-कर्त्ताओं के दृष्टिकोण के कारण दोनों ही ग्रन्थों में परिवर्तन हुए होंगे। इतना निश्चित है कि बार्हस्पत्य अर्थशास्त्रीय और धर्मशास्त्रीय शाखाओं का समाज, उनके आदर्शों और उनकी उपलब्धि के मार्गों के अनुगमन के प्रश्न पर कोई मतभेद नहीं था। संसार और न्याय, धर्म तथा मोक्ष दोनों मतों के आदर्श थे। इस आधार पर इतना निश्चयात्मक रूप से कहा जा सकता है कि, अर्थशास्त्र और धर्मशास्त्र (मतों) के प्रतिपादक बार्हस्पत्यों का उद्गम स्रोत एक ही था।

मूल बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र लुप्त हो चुका है। अतः बार्हस्पत्य चिन्तन का अध्ययन कुछ सुनिर्धारित अनुमानों पर करना होगा। हमें स्वीकार करना होगा कि उपलब्ध बार्हस्पत्य उद्धरणों का रचयिता कोई एक ही व्यक्ति नहीं था। बृहस्पति अर्थशास्त्र के प्रतिपादक थे। वे कुल गुरु थे।[1] उनकी अपनी शिष्य परम्परा थी, जिसमें प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों प्रकार के शिष्य सम्मिलित थें। बृहस्पति के शिष्य (प्रत्यक्ष) तथा उनके शिष्यों के शिष्य (परोक्ष) और उसी परम्परा में होनेवाले सभी शिष्य (परम्परागत शिष्य) बार्हस्पत्य कहलाते थे। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में जिन बार्हस्पत्यों का उल्लेख किया है उन्हें दूसरे प्रकार के शिष्य अथवा अनुयायी माना जा सकता है। इस प्रकार बार्हस्पत्य अंशों का न तो एक सुनिश्चित तिथि समय क्रम बताया जा सकता है और नहि यह उचित भी होगा। सूत्र तथा श्लोक शैली के प्रयोग के कारण और भाषा के प्रयोग सम्बन्धी भिन्नता के समाधान के लिये यही तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है।

अन्य साधन—अन्य साधनों में महाभारत शान्तिपर्व में उपलब्ध कोशलेन्द्र वसुमना और बृहस्पति के संवादों तथा बार्हस्पत्य राज्याधिकार (?) का उल्लेख किया जा सकता है। समस्त सामग्री में राज्य के आदर्श, शासन विधान, मन्त्रियों तथा मित्रों और शत्रुओं के साथ प्रयोजनीय नीति आदि के

---

१. बृहस्पति से लगभग अर्धशती बाद ग्रीकों में भी गुरु शिष्य परम्परा के गुरुकुलों (स्कूलों) की स्थापना की भावना जाग्रत हुई थी। दर्शन शास्त्रीय अध्ययन के लिये स्थापित किये जाने वाले गुरुकुलों (फिलोसोफिकल स्कूल्स) में प्लेटो की अकादमी का स्थान प्रथम था। पचास वर्ष बाद अरस्तू ने लीसियम में अपना स्कूल खोला था (ए हिस्ट्री ऑफ पोलिटिकल थ्योरी, पृ० ३५)।

वर्णन उपलब्ध होते हैं। कामन्दकीय नीतिसार सप्त-प्रकृति राज्य और अष्टादशक मण्डल सिद्धान्त का श्रेय बृहस्पति को प्रदान करता है, बृहस्पति की शिष्य परम्परा को नहीं। नीतिवाक्यामृत का लेखक भी बृहस्पति का ऋणी है। टीकाकार हरिबल (?) ने गुरु के नाम से बृहस्पति के श्लोकों को उद्धृत किया है, जिन्हें वह बृहस्पति के नीतिशास्त्र (?) ग्रन्थ से उद्धृत करता है। उसी प्राचीन परम्परा के अनुसार ग्रन्थ के प्रारम्भ में की जाने वाली बृहस्पति कृत ऋषिवन्दना—

वाच कायेन मनसा प्रणम्यांगिरसं मुनिम्।
नीतिशास्त्रं प्रवक्ष्येऽहं भूपतीनां सुखावहम्॥ (नीति० पृ० ७)

को उद्धृत किया है। उसने अराजक राष्ट्रों का भी सन्दर्भ उद्धृत किया है, जिनकी स्थिति बौद्ध भारत से समुद्रगुप्त के युग तक सिद्ध की जा सकती है। मन्त्र की गुरुता, मन्त्री के महत्व एवं शत्रु तथा विजिगीषु के सम्बन्धों की रूपरेखा वर्णित है। निबन्ध ग्रन्थों में वीरमित्रोदय लक्षण प्रकाश में बार्हस्पत्य संहिता का गजलक्षण प्रकरण उद्धृत है। इस ग्रन्थ के उद्धृत अंशों में सांग्रामिक गजों, उनके विभिन्न प्रकारों और शुभाशुभ फलों का निर्देश मिलता है। सम्भवतः यह ग्रन्थ मूल रूप में औशनस् धनुर्वेद की भाँति सामरिक तैयारियों और युद्ध विधान पर प्रामाणिक ग्रन्थ रहा होगा।

बार्हस्पत्य राज्य-व्यवस्था स्वरूप—उपर्युक्त ग्रन्थों में उपलब्ध बार्हस्पत्य अंशों का संकलन और वर्गीकरण करके उन्हें आधुनिक परिभाषा के अनुसार राजनीति शास्त्रीय ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत करने के प्रयत्न लेखक ने किये हैं। सम्पूर्ण शोध प्रबन्ध ग्यारह अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में राज्य के जन्म का इतिवृत्त वर्णित है साथ ही साथ राज्य के उद्देश्य एवं विभिन्न शासन-विधान सम्बन्धी प्रभेदों का भी वर्णन किया गया है। द्वितीय अध्याय में राजत्व के उद्भव और तत्सम्बन्धी विभिन्न नियामक सिद्धान्तों का वर्णन किया गया है। तृतीय अध्याय में राजा के विभिन्न विरुदों, उसके महत्व, गुण, कार्यक्रम एवं प्रशासकीय अंगों, मन्त्रियों और प्रजा के साथ प्रयोजनीय नीतियों की रूपरेखा के साथ राजा के वैधानिक महत्व का भी अध्ययन किया गया है। चतुर्थ अध्याय में राजा के सहायक एवं मन्त्रणादाता मन्त्रियों के महत्व, उनके गुण-दोष, विभिन्न पदों और मन्त्र प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। पञ्चम अध्याय में आन्तरिक प्रशासन सम्बन्धी सिद्धान्तों और प्रशासन के अंगों का वर्णन किया गया है। छठे अध्याय में प्रशासकीय सेवाओं में नियुक्त विभिन्न अधिकारियों, उनके पदों और कर्तव्यों का वर्णन किया गया है। सप्तम अध्याय में कोश वृद्धि के

सिद्धान्तों और राजकीय अर्थ व्यवस्था के लिये आवश्यक सिद्धान्तों का निरूपण किया गया है। अष्टम अध्याय में उपलब्ध अंशों के आधार पर सैन्य प्रशासन के वर्णन और युद्ध विषयक बार्हस्पत्य सिद्धान्त के विवेचन के प्रयत्न किये गये हैं। नवम अध्याय में दुर्ग के प्रकार, महत्व एवं सैनिक तथा प्रशासकीय उपयोगों का वर्णन उपलब्ध होता है। दशम अध्याय में न्याय प्रशासन के सिद्धान्तों, विभाग के संगठन, न्यायलयों के प्रकार एवं कार्य क्षेत्र के वर्णनों के अतिरिक्त न्याय सभा के सदस्यों के गुण-दोष, महत्व एवं अनिवार्य योग्यताओं के वर्णन के साथ-साथ वाद के जन्म उसके स्वरूप और कारणों की विवेचना भी की गयी है। वाद की स्थापना से लेकर जयपत्र लेखन तक की न्याय प्रक्रिया के लिये साक्षि, प्रमाण एवं शपथ तथा परीक्षाओं का महत्व बार्हस्पत्यों को स्वीकार्य था। अपराधी को दण्ड देने के विभिन्न नियमों, दण्ड के विभिन्न प्रकारों में वाग्दण्ड से लेकर अर्थदण्ड और सामान्य कारा और बन्धन से लेकर वध दण्ड तक सभी को महत्व प्रदान किया गया था। बार्हस्पत्य न्याय प्रिय और अप्रिय में अन्तर नहीं करता। न्याय करण पवित्र ही नहीं कठिन कर्तव्य भी था। यह कार्य यम का था। इन सभी सिद्धान्तों का क्रमिक वर्णन इस अध्याय में किया गया है। एकादश अध्याय में अन्तर राज्य विधान एवं विदेश नीति के सिद्धान्त और व्यवहार पक्षों तथा विभिन्न अंगों का क्रमिक विकास एवं महत्व वर्णित है।

बृहस्पति एवं उनके मातानुयायियों ने जिस राज्य-दर्शन को जन्म दिया था वह धर्म की नींव पर आधारित होते हुए भी अनावश्यक रूप से धर्म प्रभावित नहीं था। राजनीति में धर्म के प्रभाव को नगण्य कर देने के कारण बृहस्पति की नीति को सोमदेव सूरि ने अदेवमातृका[1] माना था। उनके इस कथन की टीका करते हुए श्रुतसागर सूरि ने उनकी नीति की तुलना ही नहीं की वरन् उन्हें ही भौतिकवादी चार्वाक मान लिया था।[2] वस्तुतः अदेवमातृका नीति-प्रणालियों द्वारा खेतों तक नदियों और कुओं से जल ले जाने की विधि थी जिसका प्रयोग उद्यमी कृषक करते थे और वे वर्षा के जल पर निर्भर (देवमातृक) नहीं होते थे। बृहस्पति अदेवमातृका नीति भी भाग्यवादी न होकर पौरुषवादी थी। बृहस्पति ने स्पष्ट रूप से भाग्य को पौरुष के अधीन माना था।[3]

---

१. यशस्तिलक चम्पू—पृ० १३। बृहस्पति नीतय इवादेवमातृका।

२. वही पृ० १३। बृहस्पतिनीतय इव। यथा बृहस्पतिनीतयश्चार्वाकशास्त्राणि देवं सर्वज्ञादिविशेषं न मन्यन्ते।

३. बृ० सू० २।६१।

बार्हस्पत्य नीति भारतीय समाज चिन्तन के आधारभूत तत्वों वर्गचतुष्टय को आधार मानती थी। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष में प्रथम तीनों के उपभोग पर ही चतुर्थ की सिद्धि निर्भर करती थी। अतः बृहस्पति ने अपनी नीति का उद्देश्य धर्मार्थकामावाप्ति[२] अर्थात् त्रिवर्ग की सिद्धि माना था। इस आदर्श की उपलब्धि के लिये वे क्रम को न भंग करते हुए प्रत्येक वर्ग की पृथक् परीक्षा करने[३] और सबको अन्योन्याश्रित न करने के पक्षपाती थे। इस प्रकार बार्हस्पत्य मतानुसार राज्य का उद्देश्य सामाजिक उद्देश्य से पृथक् नहीं था। आदर्श जीवन की सिद्धि चरम लक्ष्य था। जो कार्य सामाजिक पाषाण से सम्भव नहीं था, राज्य अपनी धर्म, दण्ड शक्ति द्वारा नियमन एवं नियन्त्रण द्वारा सामाजिक मर्यादा की स्थापना करता था। संक्षेप में समस्त कार्यक्रम का आदर्श था—आदर्श कृतयुगीन समाज की शान्ति, सुख और समृद्धि की स्थापना के प्रयत्न जो अपने में अन्तर्निहित होकर धर्म की स्थापना कर सकते थे।

प्राचीन भारतीय शासन-व्यवस्था के निमित्त बृहस्पति के योगदान की चर्चा वांछनीय है। बृहस्पति का महत्व दो कारणों से स्वीकार किया जाता है: (१) प्राच्य आर्यों के वे प्रथम राज्य-चिन्तक थे जिसने राजनीति को धर्म से पृथक् करके विद्या की स्वतन्त्र शाखा का स्वरूप प्रदान किया था। ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार मनु ने धर्मशास्त्र को शेष विद्या विभागों से पृथक् किया था। बृहस्पति ने प्रशासन में धर्म का स्थान गौण करके वार्ता तथा दण्डनीति को ही विशेष महत्व प्रदान किया था। उनके अनुयायी के रूप में औशनसों ने दण्डनीति को ही एकमात्र विद्या घोषित किया था। बाद के युग में धर्म को अपदस्थ करने के कारण बृहस्पति को लोकायत चार्वाक मान लिया गया था। यह कठिनाई बार्हस्पत्य मत अल्प ज्ञात होने के कारण उत्पन्न हुई थी। बृहस्पति ने राजनीति में धर्म का स्थान नहीं स्वीकार किया था किन्तु सामाजिक व्यवस्था के क्षेत्र में वे धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष एवं विद्याओं में आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति सभी को महत्व प्रदान करते हैं।[४] लोकायतिक मत का प्राबल्य महाभारत के अन्तिम संस्करण के समय विशेष रूप से था जिसके विरुद्ध भाव विह्वत होकर महाभारतकार कहता है—

---

२. वही, २।४३।

३. वही, २।४४–४८।

४. नीतिवाक्यामृत पृ० ३१।

ऊर्ध्वबाहुर्विरौम्येष न च कश्चिच्छृणोति मे ।
धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थं न सेव्यते ॥ (भारत सावित्री)

बृहस्पति का द्वितीय महत्वपूर्ण कार्य था—अर्थशास्त्र की रचना जिसका महत्व तृतीय शती ईस्वी पूर्व से लेकर दसवीं शती ईस्वी तक समान रूप से स्वीकार किया गया था । यह ग्रन्थ वैज्ञानिक आधार पर लिखा होने के कारण अपने विषय का प्रथम ग्रन्थ होने के बाद भी पूर्णरूपेण प्रामाणिक ग्रन्थ था, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार आज कौटिलीय अर्थशास्त्र माना जाता है । प्राचीन परम्पराओं तथा ऐतिहासिक ज्ञान के बल पर बृहस्पति ने अपने राज्य तथा राजत्व सम्बन्धी सिद्धान्तों का विकास किया था, जिनका विकास एवं प्रचार उनके अनुयायी बार्हस्पत्यों ने किया था । मानवों तथा औशनसों ने अपने पूर्व ऋषियों के मतों का पृथक् प्रचार किया था । वस्तुतः बृहस्पति के पश्चात् कौटिल्य ने ही विषय का सांगोपांग पृथक् अध्ययन प्रस्तुत किया था ।

लेखक पूर्वाचार्यों में प्रिंसिपल जूलियस जॉली, डा० एफ० डब्ल्यू० टॉमस, प्रो० के० वी० रंगस्वामी आयंगर एवं महामहोपाध्याय डा० पी० वी० काणे का विशेष रूप से ऋणी है । सुविज्ञ परीक्षक द्वय—प्रो० चरणदास चटर्जी और डा० वासुदेवशरण अग्रवाल का लेखक आभारी है । अस्वस्थ होते हुए भी डा० अग्रवाल जी ने इस पुस्तक के लिये प्राक्कथन लिखकर विशेष अनुकम्पा की है ।

लेखक को अपने पूज्य पिताजी तथा अन्य गुरुजनों के आशीर्वाद तथा शुभेच्छुओं और मित्रों की सद्भावनाओं का सम्बल रहा है ।

शोध प्रबन्ध को पुस्तक के रूप में प्रकाशित करने की अनुमति के लिये लेखक लखनऊ विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार का अनुगृहीत है ।

अन्ततः चौखम्बा संस्कृत सीरीज़ और चौखम्बा विद्याभवन के अध्यक्ष इस पुस्तक के प्रकाशन में विशेष अभिरुचि और सहयोग के लिये धन्यवादार्ह हैं ।

राघवेन्द्र वाजपेयी

विषय-सूची

बार्हस्पत्य राज्य-व्यवस्था

प्रथम अध्याय

राज्य

राज्य का अस्तित्व क्यों है ? :—सुव्यवस्थित राजनीतिक संस्था "राज्य" का अस्तित्व कैसे, कहाँ और क्यों हुआ ? राज्य का महत्व क्यों माना जाता है और क्यों माना जाय ? क्या राज्य में निवास करने और उसकी आज्ञा-पालन के नैतिक स्वरूप के अतिरिक्त भी कोई स्वरूप हो सकता है ? यदि अन्य स्वरूप हो सकता है, तो वह क्या होगा ? ये सभी प्रश्न राजनीति शास्त्र के मूल प्रश्नों के रूप में मानव मस्तिष्क में समस्या तथा द्वन्द्व उपस्थित करते रहे हैं । समस्या-समाधान करने और तर्कसम्मत उत्तर देने के प्रयत्न प्राचीन काल से होते रहे हैं । वैज्ञानिक विवेचन के पहिले तक पाश्चात्य राज्य-चिन्तकों ने अनुबन्धजनित राज्य, दैवी राज्य तथा शक्ति के आधार पर राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे । इन सिद्धान्तों के प्रतिपादकों ने अतीत के विस्मृत युग को दो कालों में विभक्त किया है—(१) अराज्य युग—राज्य के जन्म के पूर्व की स्थिति को सामाजिक अवस्था का युग माना है । जिसे वर्ग-भेद के अन्तर्गत वे शान्ति और व्यवस्था का युग मानते हैं; अथवा अराजकता का युग मानते हैं और (२) राज्य युग—जिसे वे अपने-अपने दृष्टिकोण के अनुसार अनुबन्धजनित, दैवी, तथा शक्तिप्रदर्शन जनित मानते हैं । आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिकोण समर्थित ऐतिहासिक विकासवाद के जन्म के पूर्व इन मतों के समर्थक दावा करते थे कि उनके मत सप्रमाण एवं सशक्त थे । सत्यान्वेषण के प्रयत्नों में वे भौतिक जगत् से ऊपर उठ जाते थे एवं सत्य की परिधि से निकल कर काल्पनिक सत्य के दर्शन करके आनन्दविभोर हो गये थे ।[1]

---

१. फ्रान्सीसी राज्यचिन्तक रूसो ने अपनी पुस्तक "सोशल कौन्ट्रक्ट" में दावा किया था कि मैं राज्य के जन्म तथा उसके महत्व की स्थापना के विषय में बता सकता हूँ । प्रो० रिकी ने उसकी अहमन्यता के आलोचक कर्लाइल का संदर्भ देते हुए रूसो के वक्तव्य के साथ अपना व्यंगपूर्ण उत्तर दिया था ।

["Man is born free; and every where he is in chains, one thinks himself the master of others and still remains a greater slave than they. How did this change come about ? I do not know. What can make it legitimate ? That question, I think, I can answer." (Book I, Chap. I)] When Carlyle objects that

सिन्धु संस्कृति के साथ प्रागैतिहासिक काल में ही राज्य का जन्म हो चुका था। राज्य के भौतिक लाभों से प्रभावित होकर सैंधवों ने एक विशाल साम्राज्य का निर्माण कर लिया था।[१] ऋग्वेद के वर्णनों से स्पष्ट हो जाता है कि आर्य राज्य के महत्त्व से पूर्णरूप से परिचित थे।[२] उत्तरवैदिक युग तक राज्य के अनेकों प्रभेद स्वीकार्य हो चुके थे।[३] बृहस्पति के समय तक राज्य प्रत्यक्ष, प्रयोग-सम्भव तथा अनुभव की वस्तु नहीं रह गया था। फलतः बृहस्पति ने प्रकृति के नियमों, मानव स्वभाव तथा इतिहास के ज्ञान के सम्मिलित आधारों पर सिद्धान्तीकरण कार्य किया था। विषय के सम्यक् विवेचन के लिये पाश्चात्य राज्यशास्त्रियों के सिद्धान्तों के सर्वेक्षण के अनन्तर बार्हस्पत्य राज्य-चिन्तन का विस्तार वांछनीय होगा।

अनुबन्ध सिद्धान्त :—सानुबन्ध सिद्धान्त के अन्तर्गत राज्य के जन्म का इतिवृत्त स्वीकार करने वाले पाश्चात्य राज्यचिन्तकों ने अपने सिद्धान्तों के निमित्त एक पृष्ठभूमि प्रस्तुत की है। मौलिक तथ्यों के बारे में वे एकमत हैं, यद्यपि सिद्धान्त के विकास सम्बन्धी दृष्टिकोण का अन्तर हो जाता है। सामान्य रूप से हौब्स, लौक तथा रूसो तीनों ही अतीत के एक ऐसे युग की कल्पना करते हैं जब राज्य, शासक एवं कानून का अभाव था। इस युग में जनता का जीवन मानवीय कानून के जन्मयुग तक प्राकृतिक कानूनों एवं परम्पराओं द्वारा सुनिर्धारित होता था। नियमों के पालन करने को बाध्य करने वाली कोई विशेष सत्ता नहीं थी एवं उनका पालन मानवीय इच्छा पर निर्भर करता था। जौन लौक तथा जीन जेक्विस रूसो ने इस प्राकृतिक युग को नियम, शान्ति एवं संयम का युग माना है। रूसो प्रकृति की क्रियात्मकता उसके नियमों एवं आदेशों के अनुसार जीवन व्यतीत करने वाले मानव को आदर्श मानव मानता है। यह अवस्था जनसंख्या वृद्धि एवं प्रकृति के नियमों के पालन के प्रति अनिच्छा के कारण समाप्त हो गयी थी। अतः एक अनुबन्ध द्वारा राज्य का हुआ।[४] हौब्स जटिल एवं उग्र राजतंत्र

Jeen Jacques could not fix the date of the Social contract, it would at least be a plausible retort to say that the date was the 11th of November, 1820.

Ritchie PS, 1891 quoted from the Elementary of Political Science-Leacock.

१. Indian Archaeology—A Review—1960.

२. ऋग्वेद—२।२८।१, ४-७।२९।१, ५-७।३।४७।५।

३. ऐतरेय ब्राह्मण—३९।१।१५।

४. Elements of political Science, p. 26.

का समर्थक था। उसने प्राकृतिक युग को मानवीय महत्वाकांक्षाओं एवं दुर्बलताओं के आधार पर अशान्ति एवं अव्यवस्था का युग माना है, जिसका अन्त करने के निमित्त अनुबन्धजनित राजतंत्रात्मक शासन-प्रणाली के अन्तर्गत राज्य का जन्म हुआ[१]। लौक मर्यादित राजतंत्र का समर्थक था[२]। हौब्स अत्यन्त शक्तिशाली राजतंत्र का[३] किन्तु रूसो प्रजातंत्र का पोषक था। वह मानता था कि राज्य का जन्म प्रारम्भिक शान्ति की स्थापना के लिये हुआ था। इस कार्य के लिये समाजानुबन्ध (सोशल कौंट्रैक्ट) अवश्य हुआ था किन्तु वह अनुबन्ध शासक और शासित के बीच नहीं था, जैसा लौक ने स्वीकार करके मर्यादित राजतंत्र का समर्यन किया था[४], वरन् यह अनुबन्ध सर्व-सम्मति (जेनरल विल) से हुआ था व्यक्ति की सम्मति ही सर्वसम्मति थी और उसी सर्व-सम्मति के अनुकूल शासक की नियुक्ति की गयी थी। शासक सर्व-सम्मति द्वारा निर्धारित कार्यों का सम्पादन कराता था[५]। इन दोनों मतों के विपरीत हौब्स ने माना था, कि समानुबन्ध समाज में हुआ था और अपने स्वशासन के अधिकार समान रूप से सबने राजा को सौंपने का अनुबन्ध किया था। अनुबन्ध में शासक ने कोई भाग नहीं लिया था। अतः शासक की आज्ञा मानना प्रजा का कर्तव्य था, किन्तु प्रजा की इच्छाएँ राजा के लिये कोई वैधानिक बाधा उत्पन्न नहीं करती थीं[६]।

अनुबन्ध सिद्धान्त ऐतिहासिकता से परे होने के कारण वर्तमान राजनीतिशास्त्रियों को स्वीकार्य नहीं है[७]। इससे वे "अव्यावहारिक" "अतार्किक" एवं "अव्यवस्थित" मानते हैं[८]। यही नहीं, इस सिद्धान्त के विपरीत एक तर्क यह भी रखा जाता है कि, अनुबन्ध में दो दलों का होना आवश्यक है किन्तु यूरोपीय अनुबन्ध सिद्धान्त में शासक अनुबन्धित नहीं हो पाता[९]।

दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त :—दूसरा महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त दैवी उत्पत्ति का माना जा सकता है। शासक की दिव्यता के सिद्धान्त का सर्वश्रेष्ठ प्रतिपादक जेम्स प्रथम था। उसने अपनी पुस्तक "ट्रू लौ औफ फ्री मोनर्की" में राजा को देवता का समकक्ष माना था[१०]। जेम्स ने अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन एक महान् उद्धेश्य से किया था। दैवी राजत्व सम्बन्धी चिन्तन इस कारण भी

---

१. Ibid, pp. 24—25.
२. Ibid, p. 26.
३. Ibid, p. 25.
४. Ibid, p. 26.
५. Ibid, p. 26.
६. Ibid, pp. 28-29.
७. Ibid, pp. 28-29.
८. Ibid, pp. 28-29.
९. Nature and Grounds of Political Obligations in Hindu States, pp. 64-65.
१०. Political thought in England, p. 7.

महत्त्वपूर्ण था क्योंकि प्रजा आज्ञापालन करती किन्तु चार्ल्स प्रथम की हत्या के पश्चात् जो प्रजा और शासक के प्रेमपूर्ण सम्बन्ध समाप्त हो गये थे उनकी पुनर्स्थापना हो सकती। यह कार्य सरल न था। अतः जेम्स ने राजा और देवता में समता स्थापित की थी। उसने प्रजा के लिये शासक की आज्ञाओं के प्रत्यक्ष तथा परोक्ष पालन का मार्ग निश्चित किया था। यही नहीं जेम्स ने कट्टर राजतन्त्रवादी होने के नाते प्रजा के लिये अत्याचारी शासक से मुक्ति के लिये सचारित्र्य भगवद्भजन के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं छोड़ा था।[१]

शक्ति सिद्धान्त :—राज्य का इतिवृत्त प्रस्तुत करने वालों की श्रृंखला में ग्रेगरी सप्तम का नाम अग्रगण्य है।[२] शक्ति का महत्त्व स्वीकार करके उसने एक ग्राम के द्वारा दूसरे ग्राम की विजय, एक जाति के द्वारा दूसरी जाति की विजय और लगातार चलने वाले युद्धों के अनन्तर जाति से राज्य और राज्य से साम्राज्य के उदय की कल्पना की थी।[३] इसी प्रकार मार्क्स और एंगिल्स ने शक्ति के आधार पर अपने समाजवाद के महत्त्व की स्थापना की थी। न्यायिक अधिकारी के स्थान पर शक्तिशाली का महत्त्व-वास्तविक अधिकारी का उत्पीड़न तथा एक समुदाय द्वारा वास्तविक अधिकारियों के श्रम के उपभोग के सिद्धान्त की पृष्ठभूमि था।[४]

ऐतिहासिक विवेचन :—राज्य की उत्पत्ति के उपर्युक्त सिद्धान्तों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है कि राजनीतिक दृष्टिकोण एवं व्यक्तिगत भावों ने पाश्चात्य राज्य चिन्तन को विशेषरूप से प्रभावित किया था। ऐतिहासिक वातावरण प्रस्तुत करने के उद्देश्य से उन्होंने प्राचीनता, प्रकृति एवं दिव्यता आदि गुणों का आश्रय लिया था किन्तु काल्पनिक होने के कारण सत्य से परे उनका अस्तित्व ठहरता है। वास्तव में पुरातात्विक उत्खननों द्वारा प्राप्त सामग्री तथा नृशास्त्रीय अध्ययन के अभाव में मानव के विकास उसकी आरम्भिक संस्कृतियों, कबीलों और उनके नियामक आधारों का अध्ययन सम्भव नहीं है।

वैज्ञानिकता एवं ऐतिहासिकता पर आधारित विवेचन यह सिद्ध कर देता है कि राज्य के जन्म अथवा उदय की एक तिथि निर्धारित करना सम्भव नहीं है। राज्य मानव के विकास तथा उसकी संस्कृति के साथ क्रमशः विकसित हुआ। उसके आदर्श और आधार निश्चित हुए। यह मानना सम्भव नहीं है कि, मानव का पहिले भौतिक एवं बौद्धिक विकास पूर्ण हो चुका था और उसके पश्चात् राज्य का जन्म एक बौद्धिक अथवा दार्शनिक चिन्तन के फलस्वरूप हुआ था। अपने

---

१. Ibid, p.7. २. Elements of political Science, p. 32.
३. Ibid, p. 33. ४. Ibid, P. 33.

मत के समर्थन में एक उदाहरण प्रस्तुत किया जा सकता है। मानवीय विकास का अपना इतिहास है और वह क्रमिक विकास का इतिहास है। यह स्वीकार करने में कोई सैद्धान्तिक बाधा नहीं है कि जिस प्रकार असभ्य मानव ने अपने प्रतीकों और संकेतों द्वारा भावाभिव्यक्ति करने के स्थान पर सभ्यता की ओर अग्रसर होते समय भाषा का प्रयोग करना सीखा था, उसी भाँति असभ्यता का परित्याग करते करते मानव ने शासन-विधान और राज्य को जन्म दे दिया था। इस विषय पर सर्वप्रथम शास्त्रीय दृष्टिकोण अरस्तू ने प्रस्तुत किया था। उसने माना था कि पहिले परिवार का उदय हुआ था। परिवार से परिवारों के समूह बने और (उससे) कबीला बना, जिसके पश्चात् राष्ट्र का उदय हुआ था।[१] यूरोपीय दृष्टिकोण से प्राचीन भारतीय राज्य-चिन्तकों के चिन्तन का अध्ययन फलप्रद नहीं हो सकता। चिन्तन के विकास में राजनीतिक पृष्ठभूमि का विशेष योग होता था। यूरोपीय चिन्तन प्रबल राजतन्त्र तथा जनतन्त्रवादी समकालीन विचारधाराओं द्वारा प्रेरित था। इसके विपरीत, प्राचीन भारत में राज्य तथा राजत्व प्राचीन एवं मान्य राजनीतिक परम्परा के रूप में विकसित हो चुके थे। अर्ध-धार्मिक एवं अर्ध-राजनीतिक आधारों पर साम्राज्यवादिता का विकास हो रहा था।[२] बौद्ध भारत में राजतन्त्र के साथ-साथ गणतन्त्रवादी परम्परा प्रबल हो गयी थी।[3] गणतन्त्रों की संघ शक्ति तथा उनकी क्षमता से प्रभावित होकर बृहस्पति आदि अर्थशास्त्री राजतन्त्रों के समर्थक के रूप में अपने शास्त्रीय ग्रन्थों की रचना कर रहे थे। फलतः राजतन्त्र समर्थकों ने राज्य के विकास का दैवी आधार माना था। गणतन्त्रों के समर्थकों ने सानुबन्ध सिद्धान्त तथा दोनों सिद्धान्तों के समन्वय का प्रयत्न किया था। बृहस्पति राजतन्त्र के समर्थक थे। उन्होंने मानव स्वभाव, प्राकृतिक नियमों तथा ऐतिह्य साक्ष्य के सम्मिलित आधारों पर राज्य-सिद्धान्त प्रतिपादित किया था।

बार्हस्पत्य चिन्तन का स्वरूप :—बार्हस्पत्य चिन्तन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण

---

१. Politics, Book I–Quoted from Leacock pp. 38–39. The family arises first,.........when several families are united, and association aims at something more than the supply of daily needs, then comes in to existence the village—When several villages are united in a single community perfect and large enough to be nearly or quite self-sufficiency, the state comes in to existence.

२. Political History of Ancient India, PP. 166–71.

३. Ibid. PP. 95–96, 191–96.

अंग, उसका काल्पनिक विकासवाद है। इस दृष्टिकोण के अनुसार मानव-समाज का दीर्घकालीन इतिवृत्त था। प्रारम्भिक "कृतयुगीन" समाज स्वनियंत्रित तथा स्वचालित था। सामाजिकता के नियम आदर्श थे एवं उनका पालन अविरोध होता था। सामाजिकता का आधार पारस्परिक शान्तिपूर्ण व्यवहार था। नैतिकता के नियम समाज की कार्य-प्रणाली के संचालक एवं नियामक थे। इस "आदि" युग में राज्य, राजा तथा व्यवहार नहीं था।[१] कृतयुग के पश्चात् त्रेता, द्वापर तथा तिष्यपाद में धर्म की क्रमिक पद-हानि के पश्चात् लोग अनृतवादी हो गये[२] तथा धर्माधर्म की परिभाषा बदल गयी। पतन की अन्तिम अवस्था "मात्स्य न्याय" की हुई जब शक्तिशाली प्रबल हो गये। सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक व्यवस्था समाप्त हो गयी।[३] इस अव्यवस्था को दूर करने के लिये राज्य, राजत्व एवं व्यवहार का जन्म हुआ था।[४] राज्य के विकास का बार्हस्पत्य विकास-क्रम मानवीय गुणहानि अथवा पतनवाद में आस्था रखता है। पुराणों में भी युग-पतन का वर्णन मिलता है।[५] यह विशेषरूप से ध्यान देने योग्य बात है कि नृशास्त्री मानव-विकास क्रम का अध्ययन करके एक विकासवादी अथवा ऐतिहासिक सिद्धान्त को जन्म देते हैं। वे पशुप्राय तथा अर्धविकसित मानव से पूर्ण विकसित मानव (होमो सेपियन्स) के क्रमिक विकास में आस्था रखते हैं।

कृतयुग :—बार्हस्पत्य चिन्तन के अनुसार संसृति का प्रथम युग-आदर्श मानवीय सम्बन्धों का युग कृतयुग था।[६] अन्य स्थल पर उस युग को अतीत का विस्मृत युग स्वीकार करके प्राचीनता का आवरण प्रदान करने के उद्देश्य से वे "पूर्व[७]" शब्द का प्रयोग करते हैं। सामाजिक नैतिकता के सिद्धान्तों द्वारा संचालित कृतयुगीन समाज का वर्णन करते हुए बृहस्पति का मत है कि, कृतयुग में धर्म ही सब कुछ था। लोग ज्ञानी, धर्मप्रधान एवं अहिंसक थे। भृत्य कार्य करते थे और स्वामी भृति देते थे।[८] उनके इस कथन का कदाचित यह अर्थ होगा कि राजनीतिक विशेषाधिकारपूर्ण सत्ता, राजनीतिक बन्धनों और राज्य के अभाव में सामाजिक मान्यताओं का नियन्ता धर्म था। भीष्म का भी कथन है कि (प्रारम्भ में) न तो राज्य था, न राजा था। न दण्ड था और न ही दाण्डिक था।

---

१. बृ० स्मृ० व्य० का, १।१–२, वही, सं० का० ७।

२. वही, सं० का० ७–८। ३. वही, व्य० का० १।८।

४. वही, व्य० का० १।४, ९।

५. Cultural History from Vāyu purāṇa, p. 47.

६. बृ० स्मृ० सं० का० ७; वही व्य० का० १।१–२।

७. वही, व्य० का० १।१। ८. वही, व्य० का० १।२।

धर्मानुसार प्रजा परस्पर रक्षा करती थी।[१] मौलिक स्थिति की विवेचना के प्रश्न पर बृहस्पति तथा भीष्म सहमत हैं। भीष्म युग-युगान्तर में राज्य के विकास का सिद्धान्त स्वीकार नहीं करते। एक स्थल पर उनका स्पष्ट मत है कि राज्य का जन्म कृतयुग में हो चुका था।[२]

कृतयुगीन आदर्श स्थिति की विवेचना अप्रांसगिक न होगी। बृहस्पति मानते हैं कि प्रारम्भिक समाज स्नेह एवं सहयोग पर आधारित था। सामाजिकता के बन्धन विशेषाधिकारपूर्ण अतिरिक्त-सत्ता के अभाव में भी मानव जीवन को सक्रिय रखते थे। लोग धर्मात्मा एवं अहिंसक थे। स्वामी भृति देते तथा भृत्य कार्य करते थे। अर्थात् सामाजिक तथा आर्थिक सम्बन्ध परम्पराजन्य एवं निर्धारित थे। उनकी धार्मिकता के कारण सम्बन्ध मधुर रहते थे। इस बार्हस्पत्य चिन्तन का इतिहासपक्ष बहुत शिथिल है। मानवीय विकासों का इतिहास दूसरी ही दिशा की ओर इंगित करता है। उसके अनुसार मानव संस्कृति वन्य

---

१. शान्ति, ५९।१४; दीघ निकाय खण्ड ३, पृ० ९२–९३।

विषय के स्पष्टीकरण के लिये धर्म शब्द की व्याख्या आवश्यक है। व्याकरण के आधार पर धर्म शब्द की व्युत्पत्ति धृ धातु से होगी जिसका अर्थ होगा धारण करना। (धृत धारणे)। लोक सम्मत, परिभाषा के अनुसार अभ्युदय श्रेयस तथा निःश्रेयस सिद्धि के सभी प्रयत्न धर्म कहलायेंगे। हिन्दू संस्कृति का आधार और आदर्श यही धर्म था, जिसके माध्यम से लौकिक तथा पारलौकिक, दोनों प्रकार की, उपलब्धियाँ सम्भव थीं। बार्हस्पत्य चिन्तन के अन्तर्गत की धर्म शब्द सार्थक था। बृहस्पति इस शब्द का प्रयोग नैतिक बन्धन के लिये करते हैं, जिसके अभाव में लौकिक जीवन असम्भव हो जाता तथा पारलौकिक उपलब्धियों का प्रश्न ही नहीं उठता। उनकी सामान्य परिभाषा के अनुसार "धर्म" शान्ति, सहयोग, प्रेम एवं सहृदयता की स्थिति का जनक होगा क्योंकि इसके विपरीत मत्सर–द्वेष ने "अधर्म" को जन्म दिया था (बृ० स्मृ० सं० का० ७)।

२. वही, ५९।१३।

वायुपुराणकार त्रेतायुग में राज्य की स्थिति स्वीकार करता है। उसके वर्णन से प्रतीत होता है कि त्रेता के पहिले भी राज्य का जन्म हो चुका था (पुनः प्रजास्तु ता मोहात् तान् धर्मान् नह्यपालयन्)।

In the Treta age, an ideal state of Varṇāśrama existed... But some how, or other the reason is not stated, the delusion again swayed over the minds of the people who consequently ceased to observe the rules of dharma.—Cultural History from the Vāyu purāṇa, P. 47.

परम्पराओं से युद्ध, कलह, तथा अव्यवस्था के स्तरों से विकसित होकर सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों तक प्रगति करके वर्तमान् संस्कृत मानव युग में प्रवेश कर चुकी है। पश्चिमी विश्व में भी १७ वीं और १८ वीं शतियों में कल्पनाजन्य स्वर्णयुग पर आधारित राजतन्त्र एवं जनतन्त्र समर्थक चिन्तन प्रस्तुत किये गये थे। बृहस्पति की ही भाँति लौक और रूसो भी स्वर्णयुग सिद्धान्त को ऐतिहासिक विकासवाद पर आधारित मानते थे।

राज्य की उत्पत्ति विषयक चिन्तन के लिये बृहस्पति "धर्म" के शाश्वत स्वरूप के ऋणी थे। प्रकृति के कार्य-व्यापार की सक्रियता और नियमितता ने उन्हें स्वर्णयुग की कल्पना करने की ओर प्रेरित किया तथा प्रकृतिके शक्तिशाली के न्याय ने मात्स्य-न्याय सिद्धान्त का बीज वपन किया था। लौक के स्वर्ण युग की कल्पना भी प्रकृति के शाश्वत नियमों पर आधारित है। उसका कथन है कि—उसी प्रकृति की आज्ञा से आकाश निरन्तर अटूट वृत्त लेता रहता है, पृथ्वी स्थित है, नक्षत्र ज्योतिष्मान् हैं और यह वही है जिसने अदम्य समुद्र की सीमा बांध दी है और प्रत्येक प्रकार की वनस्पति के लिये जन्म तथा विकास के समय का विनिश्चय किया है। यह उसीकी आज्ञा के अनुरूप है कि सभी प्राणियों के जन्म एवं जीवन नियमित हैं और बस्तुओं के नियमों में कहीं भी अस्थिरता, अनियमितता नहीं है कि (वे) प्रकृति द्वारा अपने लिये निर्धारित नियमों एवं कार्यक्रम से विलग हो जायें।[1] प्राकृतिक युग के समाज की कार्य-प्रणाली का वर्णन करते हुए लौक का विचार है कि, स्पष्ट विधान के पहले इसी नियम द्वारा प्रत्येक व्यक्ति की वैयक्तिक सम्पत्ति का विनिश्चय तथा उसकी सुरक्षा होती थी। यद्यपि ईश्वर ने यह पृथ्वी और उस पर उत्पादित वस्तुएं व्यक्तियों को समान साझे में दी हैं, प्रकृति सीमाएं बांधती है: उन्हें निश्चित करती है कि, प्रत्येक व्यक्ति किस वस्तु को अपने निमित्त रख सकता है। और फिर जब व्यक्ति के सीमित अधिकार और सुविधाएं होती हैं (तो फिर) उसके द्वारा प्राप्त सम्पत्ति के लिये कलह की संभावना अत्यल्प रह जाती है।[2] प्रकृति के क्रम, नियमितता, समान तथा अनवरत गति ने बृहस्पति तथा लौक के राज्य-वितानोंको समान रूप से प्रभावित किया। उनके मतानुसार प्राचीनतम समाज प्रचुर साधनों से सम्पन्न था। लोग परस्पर सहायता द्वारा अपने कर्तव्यों का पालन करते थे। वे अहिंसक थे। लोभ, मोह, मत्सर तथा द्वेष का उनमें अभाव था। स्वामी

---

१. Essays on the Law of Nature.—John Locke; Von leyden. Page 109,

२. Ibid, p. 81.

भृति देते और भृत्य काम करते थे। यही अर्थ हो सकता है। बार्हस्पत्य "धर्मप्रधान" शब्द का। प्रकृतिजन्य नियमितता का ऐतिहासिक स्वरूप क्या रहा होगा, कहना कठिन है। बृहस्पति, भीष्म, तथा लौक के मत के अतिरिक्त समस्त आर्य राज्य-चिन्तन में प्राकृतिक युग को स्वर्णयुग मानने वाले विचारक का सर्वथा अभाव है।

ह्रासयुग :—बार्हस्पत्य-कृतयुग की स्थिति बहुत दिनों तक न चल सकी। कृत के पश्चात् त्रेता, द्वापर एवं तिष्यपाद आदि तीन ह्रासयुगों की स्थिति वे मानते हैं।[1] तीनों युग मात्स्य-न्याय की उद्‌भाविका स्थिति माने जा सकते हैं। बृहस्पति धर्म के ह्रास को युगों के अनुसार सूचित करते हैं। उनके अनुसार, त्रेता में धर्म की एक पद की हानि हुई और एक पद अधर्म ने प्रवेश किया। द्वापर में दो पद धर्म तथा दो पद अधर्म रहे (अर्थात् दोनों की समान स्थिति थी) और तिष्यपाद में (त्रेता के तीन पद धर्म का स्थान अब अधर्म ने ले लिया फलतः (तीन पाद अधर्म तथा एक पाद धर्म रह गया) ।[2] तिष्य के पश्चात् लोग अनृतवादतत्पर (असत्यवादी) हो गये।[3] बृहस्पति अधर्म को "मत्सर-द्वेष-संभव" मानते हैं।[4] अर्थात् वे मानते हैं कि "कृत युग" का पतन तथा बाद के युगों का प्रवेश पारस्परिक कलह, द्वेष तथा बढ़ते हुए अन्याय के कारण हुआ था। पतन की चरम सीमा उस समय पहुँची जब असत्यवादन को लोगों ने धर्म समझ लिया और धर्माधर्म की परिभाषा बदल गयी। यही बार्हस्पत्य मात्स्य-न्याय का प्रवेश युग था। लोगों ने कार्य करना बन्द कर दिया। कोई हिंसा करता तो कोई देय वस्तु नहीं देता।[5] बृहस्पति की ही भाँति भीष्म ने भी एक स्थल पर स्वीकार किया है कि प्रारम्भ में लोग धर्मानुकूल एक दूसरे की सहायता करते थे किन्तु कुछ समय बाद धर्मानुकूल एक दूसरे की सहायता करना कष्टप्रद प्रतीत होने लगा। उनके हृदयों में मोह का प्रवेश हो गया। मोहवश लोगों की गुणहानि होने लगी। शिक्षा, धर्म सामाजिकता एवं आचार-विचार सभी का लोप होने लगा।[6] जहाँ भीष्म, कृतयुग में ही राज्य का जन्म स्वीकार करते हैं वहीं अन्य युगों की कल्पना करके

---

१. बृ० स्मृ० सं० का० ७-८; बृ० सू०, ३।१४०-४७।

२. वही, सं० का०, ७-८।   ३. बृ० सू० ३।१४७-४८।

४. बृ० स्मृ० सं० का० ७।   ५. वही, व्य० का० १।२।

६. शान्ति ५९।१५-२२।

(पाल्यातास्तथान्योन्यं नरा धर्मेण भारत। खेदं परममाजग्मु—)

क्रमिक पतन का चित्रण एवं मात्स्य-न्याय की उद्भाविका परिस्थिति का वैज्ञानिक वर्णन बृहस्पति की अपनी सूझ है।

मात्स्य-न्याय का युग :—"कृतयुग" की बार्हस्पत्य कल्पना प्राकृतिक व्यापारों पर आधारित थी जहाँ प्रकृतिकी नियमितता, प्रत्येक वस्तु की कार्य-प्रणाली और अबाधगति ने बृहस्पति को इस प्रकृति के वातावरण में बसे शान्तिपूर्ण समाज की कल्पना के लिये प्रेरित किया था वहीं प्रकृति के नियमों के अन्तर्गत योग्यतम व्यक्ति के जीवनाधिकार के प्रश्न ने बृहस्पति को कृतयुग की समाप्ति और मात्स्य-न्याय युग को जन्म देने वाली परिस्थितियों में प्रकृति के नियमों का प्रभाव देखने को बाध्य किया। उन्होंने प्रकृति में जहाँ नियमितता देखी, वहीं प्रकृति की विनाशकारिणी नियमितता भी देखी, जिसके अन्तर्गत शक्तिशाली ही जीवन यापन कर सकते थे। अतः जिस प्रकार जल में बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है उसी प्रकार, उनके मतानुसार, धर्म के अभाव में शक्तिशाली शक्तिहीनों को अपनी शक्ति का ग्रास बनाने लगे। राज्य की दोनों ही पूर्वावस्थाओं के लिये बार्हस्पत्य राज्य-चिन्तन समान तथा निर्विवाद रूप से प्राकृतिक नियमों से प्रभावित हुआ था।

मात्स्य-न्याय शब्द की व्याख्या न करके उस स्थिति का वर्णन करते हुए बृहस्पति का कथन है कि दण्डनीयों को दण्ड न देने वाले और अदण्ड्य को दण्ड देने वाले राजा के राज्य में मात्स्य-न्याय होता है।[१] वे मानते थे कि सामाजिकता के नियमों के उल्लंघन ने मात्स्य-न्याय के लिये वातावरण तैयार किया था। एक स्थल पर बृहस्पति स्मृति में मात्स्य-न्याय के लिए अराजक[२] शब्द का प्रयोग हुआ है। उसके अनुसार अराजक में (आर्थिक कार्य यथा) कृषि, कुसीद तथा वाणिज्य समाप्त हो गये थे।[३] वर्णाश्रम सम्बन्धी समाजिकता भी समाप्त हो गयी थी। इसी कारण वर्णाश्रमों के नेता राजा की उत्पत्ति हुई थी।[४] मनु भी राजा के अभाव में कर्तव्यपरायण व्यक्ति की स्थिति सम्भव नहीं मानते।[५] ऐसा प्रतीत होता है कि राज्यों के उत्थान तथा पतन, राजाओं के सिंहासनारोहणावरोहण तथा एक राजा की मृत्यु और दूसरे राजा के सिंहासनासीन होने के मध्यवर्ती राजाभाव-युग (इण्टरेग्नम) में होने वाली

---

१. नीति पृ० १०५।

दण्ड्यं दण्डयति नो यः पापदण्डसमन्वितः।
तस्य राष्ट्रे न संदेहो मात्स्यो न्यायः प्रकीर्तितः॥

२. बृ० स्मृ० व्य० का० १।८। ३. वही, व्य० का० १।८।

४. वही, व्य० का० १।९। ५. मानव धर्मशास्त्र (जौली) ७।२२

अव्यवस्था की पृष्ठभूमि इस सिद्धान्त को प्राप्त थी। खालिमपुर अभिलेख बंगाल के पाल शासक गोपाल को मात्स्य-न्याय का अन्तकर्ता बताता है।[1]

किसी वस्तु का वास्तविक महत्त्व उसकी स्थिति नहीं वरन् उसके अभाव से ही प्रतीत होता है। इस सिद्धान्त का अनुकरण करते हुए बृहस्पति ने "यदि राजा न पालयेत्" शीर्षक के अन्तर्गत अनुभूत एवं संभावित मात्स्यन्याय की स्थिति का विशद वर्णन किया है। इस संसार की स्थिति, बृहस्पति, राजा पर ही अवलम्बित मानते हैं। उनके मतानुसार; प्रजा राजा के भय से ही परस्पर एक दूसरे का भक्षण नहीं करती। (यदि राजा पालनकर्ता न हो तो) जिस प्रकार शशि-सूर्य के उदय न होने पर लोग अंधेरे में आपस में एक दूसरे से लड़ जायँ, जो स्थिति जल के अभाव में मछलियों की हो—उसी प्रकार प्रजा नष्ट हो जाय। रक्षक के अभाव में जिस प्रकार पशु अंधेरे में नष्ट हो जाते हैं, दुर्बल की वस्तु बलवान् छीन लें—उन्हें कष्ट पहुँचायें, उनके वाहन, वस्त्र, अलंकार एवं रत्न आदि पापी छीन लें। यह वस्तु मेरी है, कहकर लोग वस्तुएँ छीनना प्रारंभ कर दें। विश्व का लोप हो जाय। पारिवारिक सम्बन्ध समाप्त होजायँ। धर्म न रहे। न कृषि हो, न वाणिज्य हो। वणिक्पथ तथा वेदत्रयी लुप्त हो जायँ। यज्ञ न हों। समाज न रहे। स्त्रियाँ विवाह करने से इंकार कर दें। राष्ट्र में वर्ण-संकर हो जाय। राष्ट्र में दुर्भिक्ष पड़ने लगे। विश्व का लोप हो जाय[2]। इसी प्रकार भीष्म भी दण्ड के अभाव में

१. Epigraphia Indica, Vol. IV, p. 248.
मात्स्य-न्यायमपोहितुं प्रकृतिभिर्लक्ष्म्याः करं ग्राहितः।

२. शान्तिपर्व, ६८।८-२९।

राजमूलो महाराज धर्मो लोकस्य लक्ष्यते।
प्रजा राजभयादेव न खादन्ति परस्परम्॥
राजा ह्येवाखिलं लोकं समुदीर्णं समुत्सुकम्।
प्रसादयति धर्मेण प्रसाद्य च विराजते॥
यथा ह्यनुदये राजन् भूतानि शशिसूर्ययोः।
अन्धे तमसि मज्जेयुरपश्यन्तः परस्परम्॥
यथा ह्यनुदके मत्स्या निराक्रन्दे विहंगमाः।
विहरेयुर्यथाकाममभिसृत्य पुनः पुनः॥
विमथ्यातिक्रमेरंश्च विगृह्यापि परस्परम्।
अभावमचिरेणैव गच्छेयुर्नात्र संशयः॥
एवमेव विना राजा विनश्येयुरिमाः प्रजाः।
अंधे तमसि मज्जेयुरगोपाः पशवो यथा॥

मात्स्य-न्याय की स्थिति की घोषणा करते हैं, जिसमें सदसद् का विवेक समाप्त हो जाता है। वेद लुप्त हो जाते हैं। यदि उत्थित दण्ड न हो तो कोई वेद न पढ़े, कोई गाएं न दुहे और कोई युवती विवाह न करे।[1] इस प्रकार भीष्म भी बृहस्पति की ही भाँति मात्स्य-न्याय के युग में सामाजिक-नैतिकता, धर्म, एवं कृषि-वाणिज्य, अध्ययन के अभाव एवं वर्ण-संकर की अवस्था मानते हैं, जिसने समाज के पतन तथा राजनीतिक समाज के जन्म के लिये मार्ग प्रशस्त कर दिया था।

अराज्य युग के विषय में अजित कुमार सेन के विचार :—श्री अजित कुमार सेन ने अपनी पुस्तक "स्टडीज इन हिन्दू पोलिटिकल थौट" में प्राकृतिक युग की वैज्ञानिक विवेचना करने के प्रयत्न किये हैं। उनका मत है कि—प्राकृतिक युग की हिन्दू विवेचना के तीन आधार हैं। हमें पहले आधार से प्रारंभ करना चाहिये। अर्थात् प्रारम्भिक अराजकता सृष्टि सम्बन्धी भारतीय सिद्धान्त उस मौलिक अराजकता की कल्पना करता है जब कार्याकार्य नहीं थे। सृजन की भावना से आदिपुरुष ने इसे नियमित किया था……। दूसरी ओर उपयोगितावादिता के आधार पर, इसका अध्ययन किया जा सकता है। इसका उद्देश्य राजत्व की प्रशस्ति गाना है। उसके लाभ बताना है। वास्तव में लोगों ने राजा के अभाव

हरेयुर्बलवन्तो हि दुर्बलानां परिग्रहान्।
हन्युर्व्यायच्छमानांश्च यदि राजा न पालयेत्॥
यानवस्त्रमलंकारान् रत्नानि विविधानि च।
हरेयुः सहसा पापा यदि राजा न पालयेत्॥
ममेदमिति लोकेऽस्मिन् न भवेत् संपरिग्रहः।
विश्वलोपः प्रवर्तेत यदि राजा न पालयेत्॥
मातरं पितरं वृद्धमाचार्यमतिथिं गुरुम्।
क्लिश्नीयुरपि हिंस्युर्वा यदि राजा न पालयेत्॥
पतेद् बहुविधं शस्त्रं बहुधा धर्मचारिषु।
न योनिपोषो वर्तेत न कृषिर्न वणिक्पथः॥
मज्जेद्धर्मस्त्रयी न स्याद्यदि राजा न पालयेत्।
न यज्ञाः सम्प्रवर्तेरन्विधिवत्स्वाप्तदक्षिणाः॥
न विवाहाः समाजा वा यदि राजा न पालयेत्।
अनयाः संप्रवर्तेरन्भवेद् वै वर्णसंकरः॥
दुर्भिक्षमाविशेद्राष्ट्रं यदि राजा न पालयेत्।

१. वही० १५।३०—३७।

की स्थिति की अव्यवस्था देखी थी, जब शक्तिशाली दण्ड उठ जाता था। गणतंत्रों के पतन से ये लोग सचेत थे। संभवतः इस विचारधारा का जन्म भी अनुभवजन्य था। अन्त में, इस विचारधारा को पूर्णतः काल्पनिक चिन्तन माना जा सकता है। चिन्तन का स्वरूप यह था कि, राज्य की भौतिक विशेषताएँ और उसके उद्देश्य क्या थे ? प्रथम प्रश्न का उत्तर था—दण्ड; और द्वितीय का त्रिवर्ग अथवा चातुर्वर्ग्य का उपभोग। अब यदि राज्य की ये मूल विशेषताएं हैं तो निश्चय ही उनका अभाव, जैसा कि तर्क की भावना होती है, अराज्य स्थिति होगी।[१] श्री सेन की विचारधारा की कसौटी पर परखने पर पूर्व अनुभव, राजशासन की यश-गाथा और राज्य की विशेषताओं तथा राज्य के अभाव में उनकी कमी की भावना बार्हस्पत्य राज्य-चिन्तन में भी समान रूप से वर्तमान प्रतीत होती है।

राज्य की उत्पत्ति का सिद्धान्त :—राजनीतिक समाज को क्रमिक विकासशील समाज स्वीकार करते हुए बृहस्पति राज्य की दैवी उत्पत्ति के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करते हैं। कृतयुगीन[२] समाज क्रमिक पतन के पश्चात्[३] तिष्यपाद के अनन्तर "अनृतवादियों"[४] के कारण मात्स्य-न्याय की स्थिति उत्पन्न हुई। फलतः सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं धार्मिक स्तर पर जो अव्यवस्था फैली,[५] उसके कारण राज्य एवं वर्णाश्रमों के नेता-नियन्ता राजा का निर्माण किया गया था।[६] बृहस्पति की ही भाँति हौब्स ने भी अव्यवस्था तथा कलह के पश्चात् देव-प्रतिनिधि में आस्था प्रकट की थी। अन्तर यह था कि यह देव-प्रतिनिधि महान् लेवायथन का वंश समाजानुबंध द्वारा मनोनीत शासक था,[७] जबकि बार्हस्पत्य राजा दैवी था और उसके निर्माण में देवताओं के अतिरिक्त किसी का हस्तक्षेप संभव नहीं था।[८] वास्तव में हौब्स से सहमत होना कठिन है कि, वही प्रजा जो कुछ समय पहिले व्यक्तिगत हितों और स्वार्थों के लिये कलह कर रही थी कुछ ही समय बाद इतनी विवेकशील हो गयी कि अपनी हीन भावनाओं से ऊपर उठकर एक विचार गोष्ठी द्वारा अपनी दयनीय दशा की समाप्ति के लिये

---

१. Studies in Hindu Political Thought, A. K. Sen, page 43-44.

२. बृ० स्मृ० व्य० का०, १।१, वही, सं० का० ७।

३. वही, व्य० का० १।२–८, वही, सं० का० ७–८।

४. बृ० सू० ३।१४७–४८।

५. बृ० स्मृ० व्य० का० १।८–९।

६. वही, व्य० का० १।९।

७. Leviathan, chap. 17, pp. 131–32.

८. बृ० स्मृ० व्य० का० १।६–७।

अनुबन्ध बद्ध हो गयी।[१] यह मत तर्कपूर्ण नहीं है क्योंकि प्रजा की भाँति राजा ने कोई वक्तव्य नहीं दिया था। अतः यह अनुबन्ध एकतरफा था। समान रूप से अनुबन्ध द्वारा बाधित होने वाले दो दलों के अभाव में प्रजा के वक्तव्य को एक योग्य शासक के प्रति प्रजा का आदरपूर्ण आत्म-समर्पण मात्र माना जा सकता है।

"दीघनिकाय" प्रथम ग्रन्थ जो अनुबन्ध के स्वरूप का वर्णन करता है। उसके अनुसार प्रारम्भ में लोग नैतिकता के आधार पर आचरण करते थे किन्तु धीरे-धीरे उनका पतन होने लगा। चोरी होने लगी। अतः लोगों ने एकत्र होकर सर्वमान्य, सुन्दर एवं कुशल व्यक्ति को अपना नेता चुनने का निश्चय किया। उन्होंने उस व्यक्ति से प्रार्थना की कि वह दण्डनीयों को दण्ड दे, लोगों को उचित मार्ग पर लावे तथा निर्वासन योग्य लोगों को निवासित करे। उसने (राजा ने) उनकी बात स्वीकार कर ली। उसके कर्तव्यों के प्रतिरूप में प्रजा ने उसे धान्य का अंश देना स्वीकार किया। वह "महासम्मत" (बहुमत द्वारा निर्वाचित), "खत्तिय" (खेतोंका स्वामी) तथा (धर्मानुकूल शासन द्वारा प्रजा को प्रसन्न करने वाला) "राजा" कहलाया।[२] बृहस्पति राजा को अनुबन्ध द्वारा बाधित नहीं करते। वे ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित दिव्यता सम्बन्धी वर्णनों के आधार पर राज्य एवं राजा को दिव्यता का आवरण प्रदान करते हैं। कौटिल्य ने आर्य एवं व्रात्य चिन्तन के सम्मिलन के प्रयत्न किये थे। वे वैवस्वत मनु के निर्वाचन-जनित राजत्व का वर्णन करते हैं।[३] जहाँ निर्वाचन व्रात्य चिन्तन का समर्थक था वहीं देवपुत्र होने के कारण वैवस्वत मनु दैवी थे। राजा के वक्तव्य के अभाव में प्रजा का वक्तव्य केवल एकतरफा अनुबन्ध प्रस्तुत करता है। राजा किसी भी वैधानिक आधार पर उससे अनुशासित नहीं था।

विवेचन :—ऐतिहासिक दृष्टिकोण से अनुबन्ध सिद्धान्त का विवेचन कठिन है। प्रागैतिहासिक युगीन समाज में अनुबन्ध कब हुआ, नहीं बताया जा सकता। उसी प्रकार दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त प्रबल, सतर्क एवं सप्रमाण नहीं है। वस्तुतः अतीत के प्रति अगाध प्रेम और प्रकृति के शान्तिपूर्ण वातावरण में बसे समाज की कल्पना की पृष्ठभूमि में ही इस प्रकार के चिन्तन का उद्भव सम्भव है। जहाँ तक राज्य और राजा की दिव्यता का प्रश्न है ऐतिहासिक दृष्टिकोण अपना कर उसका प्रारम्भ ऋग्वेद के "पुरुष सूक्त" (१०/९०) में

---

१. Leviathan, pp. 131-32.

२. Digha Nikāya (PTS), Davids and Carpenter, Vol. III, pp. 92-93.

३. अर्थ. १।१३। पृ. २२।

देखा जा सकता है। इस सूक्त के अनुसार समस्त समाज अपने अंगों सहित अनन्त "पुरुष" के अंगों का मानवीयकरण मात्र था। चन्द्रमा, सूर्य, अग्नि, वायु, प्राण सभी का उद्भव इसी पुरुष से हुआ था। अतः यदि राज्य एवं राजा दैवी थे तो ब्राह्मण, राजन्य, वैश्य एवं शूद्र सभी दिव्यता के साझीदार थे। पुनः जब सम्पूर्ण समाज दैवी था तो राजा की दिव्यता कोई अतिरिक्त गुण का सृजन नहीं करती थी।

वैज्ञानिक विकासवाद अथवा ऐतिहासिक विकासवाद वर्तमान युगीन चिन्तन का परिणाम है। इस दृष्टिकोण के अनुसार विकासशील, शक्ति-प्रधान ग्रामीण वातावरण में राज्य का उद्भव हुआ होगा। ग्रामीण वातावरण में संयुक्त रूप में अनेकों परिवारों के संगठन, अनेकों पीढ़ियों का एक परिवार में निवास, वंश तथा वंश परम्परा ग्रामीण जीवन का स्रोत होता था। पारस्परिक संघर्ष एवं सीमा विवाद ग्रामीण जीवन के संघटन का कारण होता था। ग्रामणी का महत्त्व सांस्कृतिक तथा राजनीतिक कारणों से विशेष रूप से होता था। सिंहल के इतिहास से स्पष्ट हो जाता है कि अनुराधपुर तथा मागम के शासक बहुत बाद तक अपनी ग्रामीण पृष्ठभूमि के द्योतक सांकेतिक शब्द "गामणी" को अपने नाम के साथ प्रत्यय के रूप में लगाते रहे।[1]

राज्य का स्वरूप :—राज्य-प्रभेदों के वर्णन के पूर्व बृहस्पति तथा उनके मतानुयायियों द्वारा प्रतिपादित राज्य के स्वरूप का वर्णन हमारा अभिप्रेत है। उनके मतानुसार, राज्य (वास्तविक एवं आदर्श) का उद्भव एक महान् उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त हुआ था। राज्य के स्वरूप की विवेचना में वे, भौतिक उपयोगितावाद एवं वैज्ञानिक आधार को ही विशेष महत्त्व प्रदान करते हैं। संक्षेप में उनके चिन्तन का विश्लेषण इस प्रकार हो सकता है कि राज्य केवल मानसिक अनुभूति मात्र नहीं है। उसमें जीवन है। वह एक "महान् तन्त्र" है[2] जिसके निर्माण और संचार के लिये सात प्रकृतियों का सम्मिलित योग[3] आवश्यक है। प्रकृति सिद्धान्त एक दार्शनिक तत्व का सृजन करता है। मानव जीवन, शरीर और उसके संचार के लिये आवश्यक परिस्थितियों से राजनीतिक समाज अथवा राज्य की स्थिति एवं उसकी कार्यप्रणाली तुल्य है। मानव शरीर की भौतिक स्थिति के लिये पंचमूलतत्व—क्षिति, जल, पावक, आकाश एवं वायु का सम्मिलित रूप आवश्यक है। उसी भाँति राज्य की स्थिति के लिये सात प्रकृतियों—पृथिवीपति, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोष, दण्ड,

१. Early History of Ceylon, p. 26.
२. शान्ति ५८।२१। राज्यं हि सुमहत्तंत्रम्। ३. कामन्दकीय ८।४–५।

मित्र[1] का सम्मिलन आवश्यक है। जिस प्रकार मूल तत्वों में से किसी एक अथवा अधिक का अभाव मानव शरीर की स्थिति संदिग्ध कर देता है, उसी भाँति किसी एक प्रकृति की भी हानि राज्य की सार्वभौमिकता को संदिग्ध कर देती है।

प्रकृति एवं अंग :—"अर्थशास्त्र" के छठे अधिकरण में प्रकृति-सम्पत् के अन्तर्गत कौटिल्य भी प्रकृतियों का वर्णन करते हैं। वे स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दण्ड तथा मित्र के सम्मिलन को सप्त प्रकृति मानते हैं।[2] अन्यत्र वे प्रकृतियों को प्रत्यंगभूत मानते हैं।[3] उनका अनुगमन करते हुए मनु[4] भी अंग और प्रकृति को पर्यायवाची मान लेते हैं। अंग सिद्धान्त एवं प्रकृति सिद्धान्त दो पृथक् दिशाओं के द्योतक हैं। जहाँ किसी एक अंग की विकलता पर शरीर विकलांग होते हुए भी नष्ट नहीं हो जाता, क्षमता कम अवश्य हो जाती है, वही स्थिति

---

१. वही ८।४।५।

अमात्यराष्ट्रदुर्गाणि कोषो दण्डश्च पंचमः।
एताः प्रकृतयस्तज्ज्ञैर्विजिगीषोरुदाहृताः॥
एताः पंच तथा मित्रं सप्तमः पृथिवीपतिः।
सप्तप्रकृतिकं राज्यमित्युवाच बृहस्पतिः॥

२. अर्थ ६।१, पृ० २५७।

स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्राणि प्रकृतयः॥

३. वही ६।१, पृ० २५९।

अरिवर्जाः प्रकृतयः सप्तैतास्स्वगुणोदयाः।
उक्ताः प्रत्यंगभूतास्ताः प्रकृता राजसम्पदः॥

४. मनु ९।२९४।

"सप्तप्रकृतयो ह्येताः समस्तं राज्यमुच्यते"। अन्यत्र मनु प्रकृति और अंग शब्दों को समानार्थ मान लेते हैं (सप्तांगस्येह राजस्य) (वही ९।२९६)।

बृहस्पति ने राज्य की जीवनी शक्ति प्रकृति भावना पर विशेष बल दिया था। कामन्दक ने कौटिलीय आदर्शों को स्वीकार करते हुए भी बार्हस्पत्य मत का उल्लेख (८।४–५) किया था। मनु ने अंग सिद्धान्त का समर्थन किया था, फिर भी, वे, प्रकृति सिद्धान्त से एकदम विलग नहीं हो सके थे। उन्होंने अंगों के तुलनात्मक महत्व के वर्णन में एक स्थल पर व्यसन ग्रस्त होने पर प्रारम्भिक प्रकृतियों के व्यसन को गरीय (अर्थात् बड़ा) माना था। (वही ९।२९५)। अंग सिद्धान्त के अनुसार उन्हें जकड़ कर बांधे गये त्रिदण्ड की भाँति माना था (वही ९।२९६), जिनका महत्व स्थान एवं गुणवैशिष्ट्य के कारण था। यदि उनके उदाहरण का दार्शनिक रूप स्वीकार किया जाय तो माना जा सकता है कि तीनों ही दण्ड वस्तु के विशेष गुण के द्योतक हैं।

राज्य की भी होगी। इसके विपरीत प्रकृति सिद्धान्त आदिभूत मौलिक निर्माणकारी तत्वों में आस्था रखता है जिनमें एक की भी न्यूनता उसे नष्ट कर देती है। प्रकृति सिद्धान्त आत्मिक शक्ति एवं सृजनात्मक तत्व में आस्था रखता है। प्रकृति परिभाषा राज्य में पूर्णता की आशा करती है, विकलता में भी कार्य सम्पादन की भावना उसका ध्येय नहीं है।

बार्हस्पत्य सप्त-प्रकृति सिद्धान्त का उद्धरण कामन्दकीय के लेखक ने दिया है।[1] धर्मशास्त्रियों में गौतम ने इसे मान्यता प्रदान की थी, (जैसा कि सरस्वती विलास में उद्धृत गौतमीय परिभाषा से स्पष्ट है[2]), किन्तु डा० रामशरण शर्मा इसे प्रामाणिक न मान कर कहते हैं कि, राज्य की सर्वप्रथम सम्पूर्ण परिभाषा कौटिल्य के युग में उपलब्ध होती है।[3] यह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य बात है कि कामन्दकीय का लेखक सप्त-प्रकृति राज्य सिद्धान्त के लिए बृहस्पति का प्रमाण प्रस्तुत करता है,[4] कौटिल्य का नहीं। पुनः, हमारे धर्मार्थशास्त्रीय ग्रन्थों एवं साहित्य दोनों में ही लेखन कर्म के साथ संस्करण एवं पुनःसंस्करण कार्य चलता रहा। अतः उपलब्ध गौतम धर्मसूत्र में सप्त प्रकृति राज्य का उल्लेख न मिलना कोई तार्किक प्रमाण प्रस्तुत नहीं करता जिसके आधार पर हम मान लें कि यह वर्णन अप्रामाणिक है।[5]

पृथिवीपति[6] :—बार्हस्पत्य राज्य-व्यवस्था में पृथिवीपति का केन्द्रीय स्थान था। राजतन्त्रात्मक शासन प्रणाली के अन्तर्गत राजा प्रशासन का केन्द्रविन्दु होता था। उसका व्यक्तित्व महत्वपूर्ण होता था। उसी के व्यक्तित्व तथा कार्य-

---

१. कामन्दकीय ८।४—५।

२. सरस्वती विलास, पृ० ४५।
तथा च गौतमसूत्रम्—"स्वाम्यमात्यसुहृद्दुर्गकोशदण्डजनाः।" इति।

३. Aspects of Political Ideas and Institutions in Ancient India, p. 14.
द्रष्टव्य—अर्थ ६।१, पृ० २५७।
स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्राणि प्रकृतयः।

४. कामन्दकीय ८।५।
"सप्तप्रकृतिकं राज्यमित्युवाच बृहस्पतिः"।

५. Aspects of Political Ideas and Institutions in Ancient India, p. 14.
The Sarasvati Vilāsa, a text of the 16th century A. D., ascribes the seven-elements definition to Gautama from whom it quotes, but this cannot be traced in his law book.

६. कामन्दकीय ८।५।

क्षमता पर राज्य का भविष्य निर्भर करता था। पाणिनीय परम्परा के अनुसार भी वह "राजा" तथा "स्वामी" कहलाता था। दोनों ही शब्द उसकी शासकीय शक्ति के द्योतक थे।[१] अतः उसके महत्व को ध्यान में रख कर बृहस्पति राजा के लिए सर्वगुणोपेत होना आवश्यक मानते थे।[२] विद्यागुण, अर्थगुण तथा सहायगुण[३] उसे गुणवान्[४] बना देते थे जिनसे सम्पन्न होकर वह सामान्य राजा से सम्राट् हो सकता था।

अमात्य-मंत्री[५] :—बृहस्पति राजा के पश्चात् अमात्य को सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रकृति मानते थे। पाणिनि[६] तथा बौद्ध साहित्य[७] समान रूप से मंत्रियों का महत्व स्वीकार करते हैं। शासन यंत्र के कुशल संचालन तथा राजकीय नीति के कार्यान्वयीकरण और मित्र तथा शत्रु शक्ति के सामर्थ्य के बारे में विश्वस्त सूचनाएँ भी कुशल सहायक तथा मंत्रणादाता मंत्रियों की सहायता से ही उपलब्ध हो सकती थीं। अमरकोश कार्यवाहक तथा मंत्रणादाता मंत्रियों के लिये क्रमशः "कर्मसचिव" और "धी सचिव" शब्दों का प्रयोग करता है।[८] मंत्रियों के सर्वश्रेष्ठ समर्थक भारद्वाज थे। वे अमात्य शक्ति तथा राजा पर आये हुए व्यसनों (—विपत्तियों) में अमात्य-व्यसन को अधिक भयंकर मानते थे।[९] यद्यपि उपलब्ध बार्हस्पत्य उद्धरणों में कहीं भी व्यसनों की चर्चा नहीं मिलती फिर भी राज्य प्रकृतियों के वर्णन क्रम के आधार पर यह निर्विवाद रूप से माना जा सकता है कि बृहस्पति पूर्व वर्णित प्रकृति को अधिक महत्वपूर्ण मानते थे।[१०] अतः उनके मतानुसार स्वामि-व्यसन ही अधिक भयंकर होगा। राजतन्त्र के प्रबल समर्थक कौटिल्य भी इसी मत के समर्थक थे। वे राजा में ही समस्त राज्य प्रकृतियों के दर्शन कर लेते थे।[११]

राष्ट्र :—बृहस्पति राष्ट्र को तृतीय प्रकृति मानते हैं।[१२] कौटिल्य ने इस भाव की द्योतना के निमित्त "जनपद" शब्द का प्रयोग किया है।[१३] शब्द के

---

१. पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृ० ३९० ।
२. नीति पृ० ५६ ।   ३. बृ० सू० २।२ ।
४. वही २।१ ।   ५. कामन्दकीय ८।४ ।
६. अष्टाध्यायी ५।४।७ ।   ७. देखिये अध्याय ४ पृ० १२४–३३ ।
८. अमरकोश पृ० १९१ ।   ९. अर्थ ८।१, पृ० ३२२ ।
स्वाम्यमात्यव्यसनयोरमात्यव्यसनं गरीयः इति ।
१०. कामन्दकीय ८।४–५ ।
११. अर्थ ८।१, पृ० ३२५ । राजा राज्यमिति प्रकृतिसंक्षेपः ।
१२. कामन्दकीय ८।४, मनु ९।२९४; शान्ति ८८।१–२, कामन्दकीय ४।१ ।
१३. अर्थ ६।१, पृ० २५७, मनु ९।२९४; विष्णु स्मृति ३।३३ ।

प्रयोग से स्पष्ट है कि जहाँ राज्य का भौतिक एवं नैतिक स्वरूप होता था, वहीं राष्ट्र का भौतिक महत्व होता था। अंग्रेजी में भी "स्टेट" एवं "नेशन" शब्द इन्हीं दोनों भावों को प्रकट करते हैं।

मोनियर विलियम्स मानते हैं कि, ऋग्वेदिक युग से लेकर मनु के समय तक "राष्ट्र" शब्द का प्रयोग राज्य, साम्राज्य, क्षेत्र, जिला और देश तथा जनता अथवा प्रजा के अर्थों में होता रहा।[१] मोनियर विलियम्स की यह परिभाषा, कौटिलीय अर्थशास्त्र के "अर्थ" शब्द की परिभाषा से सामंजस्य उत्पन्न कर देती है जिसमें, मनुष्य एवं मनुष्यवती भूमि दोनों के ही लिये अर्थ शब्द का प्रयोग किया गया है।[२] कौटिल्य ने "राष्ट्र" के स्थान पर जनपद शब्द का प्रयोग किया है।[३] "जनपद" शब्द के कोशगत अर्थ जनसंकुल एवं बसा हुआ देश होंगे।[४] "राष्ट्र" एवं "जनपद" समानार्थ ही नहीं हैं, वरन् दोनों के ही अर्थ होंगे कि केवल एक जाति या एक प्रदेश ही किसी राष्ट्र को जन्म नहीं दे सकता। उसके लिये एक जाति को एक निश्चित भूभाग में बसा हुआ एवं राज्य-निष्ठ होना अनिवार्य था। आधुनिक राजसत्ता की परिभाषा के अन्तर्गत भी यह राज्य की स्थिति एवं राज्यसत्ता के लिये अनिवार्य अवस्था होगी।[५] यही कारण है कि, प्राचीन जाति होने के बाद भी, कुछ वर्षों पूर्व तक, इसराइल में बसने के पहिले यहूदियों का कोई राष्ट्र नहीं था। दुर्ग का वर्णन करते हुए बृहस्पति द्विज, वैश्य, वणिक्, शिल्प, कारु, सैनिकों तथा ब्राह्मणों एवं क्षत्रियों के निवास की व्यवस्था का महत्व प्रकट करते हैं।[६] इससे स्पष्ट है कि राष्ट्र की प्रजा के ये ही प्रमुख अंग होते रहे होंगे, जिसमें चातुर्वर्ण्य (के साथ-साथ समाज के अन्य वर्ग) निवास करते रहे होंगे। बृहस्पति "संदिग्ध-विनय" वाले व्यक्तियों के लिये व्यवस्था को मान्यता प्रदान करते हैं,[७] अर्थात् बलप्रयोग द्वारा उन्हें राजभक्ति की शिक्षा दी जाय। मनु के "राष्ट्र" शब्द की टीका करते हुए मित्रमिश्र का कथन है कि, राष्ट्र में रक्षा-स्थान हों तथा ग्राम-प्रशासन में ग्रामाधिप नियुक्त किये जायँ।[८] आपस्तम्ब

---

१. Sanskrit English Dictionary, Sir M. M. Williams p. 879. राष्ट्र a kingdom (Mn. VII, 157) one of the 5 Prākritis of realm, empire, dominion, district, country, RV & etc. nation, subjects.

२. अर्थ १५।१, पृ० ४२६। ३. वही-६।१, पृ० २५८।

४. Sanskrit English Dictionary, p. 410.

५. A Dictionary of American Politics, pp. 287-88, 291.

६. बृ० स्मृ० व्य० का० १।३४। ७. वही व्य० का० १।३२।

८. राजनीति प्रकाश पृ० २४८।

ग्रामों एवं नगरों में चरों को नियुक्त करने का आग्रह करते हैं।[१] जनपद की विशेषताओं का वर्णन कौटिलीय में उपलब्ध होता है। उसके अनुसार जनपद सम्पत् के अन्तर्गत अच्छी जलवायु, व्रज, शीघ्रकृष्या भूमि, उद्योगी किसान, अर्थ तथा दण्ड (–प्रशासन) वहन करने में समर्थ भक्त, शुचि एवं कर्तव्यपरायण लोग अनिवार्य थे।[२] कौटिलीय मत की व्याख्या करते हुए कामन्दक का मत है कि (वहाँ) शूद्र, कारु, वणिक् कर्म करने वाले एवं कृषीवल हों।[३] अर्थात् राष्ट्र के निवासी राजभक्त एवं राजकीय करों के वहन में समर्थ हों।

चतुर्थ प्रकृति "दुर्ग" थी।[४] कौटिल्य, मनु, शान्तिपर्व, कामन्दकीय तथा अमरकोशकार समान रूप से दुर्ग को महत्व प्रदान करते हैं।[५] मनु "दुर्ग" एवं "जनपद" में अन्तर मानते हैं।[६] दुर्ग को वे राजधानीय नगर मानते हैं तथा जनपद को राजधानी के अतिरिक्त शेष राज्य मानते हैं। कौटिल्य ने "दुर्ग विधान" एवं "दुर्ग निवेश" नामक अध्यायों में इसके निर्माण का विस्तृत वर्णन किया है। बृहस्पति "दुर्ग" एवं "पुर" दोनों ही शब्दों का समान रूप से व्यवहार करते हैं।[७] प्रशासन के केन्द्र और राजधानीय नगर के रूप में इसका विशेष महत्त्व होता था। इस प्रकार बार्हस्पत्य राज्य की दूसरी एवं तीसरी प्रकृति आधुनिक शब्दों में सम्पूर्ण राष्ट्र की द्योतक होती थीं।

बृहस्पति कोश[८] को पाँचवाँ स्थान प्रदान करते हैं। वे मानते हैं कि, धन से सभी कार्यों का आरम्भ हो सकता है। राज्यकार्य के सम्पादन के निमित्त हिरण्य आदि से पूर्ण तथा आपत्ति के समय में बहुत अधिक व्यय करने में सक्षम कोश को बृहस्पति "गुणवान् कोश" मानते हैं। बृहस्पति कोश-वृद्धि अनिवार्य मानते हैं किन्तु वे न्याय मार्ग का अनुगमन भी अनिवार्य मानते हैं।[९]

छठी प्रकृति "दण्ड" थी।[१०] "दण्ड" शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता रहा है। सामान्य अर्थ में "दण्ड" शब्द शक्ति का द्योतक है। अपराधियों को

---

१. आपस्तम्ब पृ० १६१। (S B E)।

२. अर्थ ६।१, पृ० २५८। ३. कामन्दकीय ४।५४-५५।

४. वही ८।४। ५. अध्याय ९, पृ० २२३-२४।

६. मनु ७।२९। ततो दुर्गं च राष्ट्रं च लोकं च सचराचरम्।

७. बृ० स्मृ० व्य० का० १।२८,३२।

८. कामन्दकीय ८।४; अर्थ ६।१, पृ० २५७; मनु ९।२९४; कामन्दकीय ४।१; शुक्रनीतिसार १।६२; नीति २१।५।

९. अध्याय ८, पृ० १८६-८७।

१०. कामन्दकीय ८।४; अर्थ ६।१; पृ० २५७; मनु ९।२९४; कामन्दकीय ४।१; शुक्र १।६१। शुक्र ने बल शब्द का प्रयोग किया है।

दण्ड देने के राज्य के विशेषाधिकार, राजदंड या राजा के विशेषाधिकार के लिये भी इस शब्द का प्रयोग हुआ है। राज्य की शक्ति के प्रतीक सेना के संदर्भ में इसका प्रयोग हुआ है। अर्थशास्त्र को दण्डनीति कहा जाता है, ऐसी अवस्था में कुछ अर्थशास्त्री दण्ड का अर्थ राजकीय प्रशासन यंत्र के लिये लेते थे।[१] राज्य प्रकृतियों के वर्णन में "दण्ड" शब्द का प्रयोग असंदिग्ध रूप से "बल" अथवा "सैन्य" शक्ति के संदर्भ में हुआ है।[२] सेना ही राज्य सीमाओं की रक्षा करती थी, राज्य में शान्ति स्थापित रखती थी और अपने पड़ोसी राज्यों पर आक्रमण करके राज्य-विस्तार करने में राजा की सहायक होती थी। विजयिनी नीति और प्रतिष्ठा दोनों के लिये ही सैन्य-शक्ति आवश्यक होती थी। बृहस्पति चतुरंगिणी और षडंगिणी सेना का वर्णन करते हैं। महाभारत शान्तिपर्व अष्टांग बल शब्द का प्रयोग करता है। बृहस्पति सैन्य शक्ति को अनावश्यक महत्व नहीं प्रदान करते। उनका मत है कि आवश्यक भर की ही सेना रखनी चाहिये अधिक शक्तिशाली सेना राजा को मार डालती है।[३] बृहस्पति के मतानुसार अमात्य से प्रारम्भ होने वाली पाँचों प्रकृतियाँ मानते हैं।

राज्य के स्वरूप के निर्धारण के लिये "मित्र"[४] प्रकृति समान रूप से महत्वपूर्ण होती थी। कौटिल्य ने भी प्रकृति अर्थ में "मित्र" शब्द का प्रयोग किया है।[५] कामन्दकीय के "सुहृद्" की ही भाँति बार्हस्पत्य "अन्त:मित्र" अन्त:करण से अपने मित्र राज्य का हित चाहता था।[६] राज्य की प्रतिष्ठावृद्धि में ऐसे शुभचिन्तकों का विशिष्ट महत्त्व होता था, जिनकी सहायता से शत्रु भयभीत होते थे एवं राज्य प्रगति करके साम्राज्य के रूप में विकसित होता था।

उपलब्ध बार्हस्पत्य अंशों में हमें एक भी प्रबल प्रमाण नहीं मिलता जिसके बल पर हम कोई निर्णायक मत प्रकट कर सकें कि बृहस्पति एवं उनके अनुयायियों ने राज्य प्रकृति में तुलनात्मक महत्व के मापदण्ड प्रस्तुत किये थे अथवा नहीं। कौटिलीय अर्थशास्त्र में "प्रकृति व्यसन" के अन्तर्गत हमें क्रमशः महत्व एवं तुलना के दृष्टिकोण से "व्यसन-गांभीर्य" के वर्णन मिलते हैं। इसके विपरीत बार्हस्पत्य राज्य सिद्धान्त को यदि प्रमाण मानकर चला जाय तो यह कहा जा सकता है कि बृहस्पति राजा, अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोश, दण्ड, एवं मित्र में क्रमिक हीनता मानते थे।[७] एक स्थल पर अराजक

---

१. वही ४।१५। २. अर्थ ६।१, पृ० २५८; कामन्दकीय ४।६७।

३. अध्याय ९। ४. कामन्दकीय ८।५।

५. अर्थ ६।१, पृ० २५७। ६. बृ० सू० ३।२४।

७. कामन्दकीय ८।४-५; अर्थ ८।१, पृ० ३२२। स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्रव्यसनानां पूर्वं पूर्वं गरीय इत्याचार्याः।

राष्ट्रों के अन्तर की स्थापना के संदर्भ से भी इसी मत की पुष्टि होती है। यहाँ स्पष्ट रूप से राजतंत्र में राजा को कूट स्थानीय माना गया है।[1] कौटिल्य भी इस मत का समर्थन करते हैं।[2] इस मत का यह अर्थ कदापि नहीं कि राजा पर ही सब कुछ निर्भर करता था क्योंकि एक अन्य स्थल पर मंत्री और पुरोहित को राजा का माता-पिता स्वीकार करके उन्होंने अमात्य वर्ग को महत्व प्रदान किया है।[3] अनेकों "स्थलों" पर प्रशासकीय कार्य में राजा को सहायता प्रदान करने के लिए मंत्रियों का महत्व स्वीकार किया गया है।[4] तृतीय महत्व कोश को प्रदान किया गया है, क्योंकि धन को समस्त क्रियाओं का "मूल" माना गया है।[5] राज्य की स्थिति एवं महत्व के लिये बृहस्पति भूमि का महत्व स्वीकार करते हुए उसकी अक्षुण्णता में आस्था रखते हैं।[6] राजा के निवासस्थान एवं राजधानीय दुर्ग के रूप में दुर्ग का अपना महत्व होता था।[7] बार्हस्पत्य एवं कौटिलीय चिन्तन के अन्तर्गत राज्य का लक्ष्य साम्राज्यवाद था, जिसके निमित्त विजिगीषु भावना आवश्यक होती थी। साथ ही साथ ऐसे मित्रों का भी महत्व होता था जो अन्तःकरण से अपने मित्र के शुभचिन्तक होते।[8] संदेह नहीं कि बृहस्पति को छद्मवेशधारी

---

१. नीति पृ० ५६।

२. अर्थ ८।१, पृ० ३२२। तत्कूटस्थानीयो हि स्वामीति। वही ८।२, पृ० ३२५। राजा राज्यमिति प्रकृतिसंक्षेपः।

३. नीति; अर्थ ८।१, पृ० ३२२। भारद्वाजः—स्वाम्यमात्यव्यसनयोरमात्यव्यसनं गरीयः इति।

४. वही बृ० स्मृ० व्य० का० १।२२, ६५, ७०।

५. बृ० स्मृ० व्य० का० ७।१; नीति पृ० २०३।

६. नीति।

बृहस्पति राज्य की पूर्णता में आस्था रखते हैं। वे मानते हैं कि राज्य की दृढ़ता के लिये आवश्यक है कि, "भूमि की मर्यादा" भंग न हो। राज्य सत्ता सम्पन्न आधुनिक राष्ट्र भी इसे अनिवार्य गुण मानते हैं।

७. बृ० स्मृ० व्य० का० १।२८।

८. बृ० सू० ३।२४। मण्डल योनि अन्तर-राज्य व्यवस्था के अन्तर्गत विस्तारपूर्वक मित्र, शत्रु, मध्यम एवं उदासीन राज्यों के साथ विजिगीषु के सम्बन्धों का विवेचन अन्तर-राज्य व्यवस्था एवं विदेश नीति अध्याय में किया गया है। अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने मण्डल योनि एवं षाड्गुण्य अध्यायों में लगभग ७० पृष्ठों में इस विषय पर विस्तार किया है।

मित्रों का भी ज्ञान था जिनके निमित्त उन्होंने एक नयी नीति प्रतिपादित की थी कि अपने अन्य शत्रु के विरुद्ध युद्ध में अग्रगामी सहायक सेना के रूप में उन्हें रख कर उनका नाश करा दिया जाय।[१]

बार्हस्पत्य प्रकृतियों के स्वरूप एवं उनके पारस्परिक सम्बन्धों की रूपरेखा प्रस्तुत करना कठिन कार्य है। कौटिल्य एवं मनु के लिये भी यह कठिन कार्य था। कौटिल्य पूर्ववर्ती प्रकृति का व्यसन अधिक भयंकर मानते थे।[२] मनु ने एक स्थल पर इस मत को मान्यता प्रदान की है;[3] किन्तु, अन्यत्र वे सम्बद्ध त्रिदण्ड की भाँति इनका पारस्परिक समान तथा अवसर के अनुरूप विशेष महत्व स्वीकार करते हैं।[४] इस अस्थिरता से स्पष्ट हो जाता है कि मनु के समय तक भारतीय राज्य-चिन्तक किसी निर्णायक मत पर नहीं पहुँच पाये थे। शुक्र ने प्राचीन परम्परा के "अंग-प्रकृति" सिद्धान्त को अपनी सहज कल्पना के बल पर एक नूतन स्वरूप प्रदान किया था। उन्होंने राज्य को मानव शरीर का सहधर्मी मान कर राजा को शीर्ष, अमात्य को नेत्र, सुहृद् को कान, कोश को मुख, सेना को मन तथा दुर्ग एवं राष्ट्र दोनों को हाथ एवं पैर माना था।[५] शुक्र का यह वर्गीकरण व्यावहारिक एवं प्रयोगात्मक नहीं प्रतीत होता। शुक्र से बहुत पहिले ऋग्वेद के पुराणसूक्त[६] में मानवीयकरण के प्रयत्नों के दर्शन होते हैं। इस सूक्त में समस्त संसार को पुरुषमय मान कर मानवीय समाज को तज्जन्य माना गया है। समाज के सभी अंग पुरुष के अंग माने गये हैं। इसी परम्परा में यजुर्वेद राज्य के अंगों का वर्णन करते हुए राजा को उसका प्राण बताता है और प्रजा को (उस पुरुष के) अन्य अंग मानता है।[७]

---

१. नीति पृ० ३२१। २. अर्थ ६।१, पृ० २५७।

३. मनु ९।२९४-९५। ४. वही ९।२९६।

५. The conception is indeed novel, but its significance is not explained by the author.

It becomes clear from the above survey that the doctrine of Saptāṅga represents only an attempt to analyse the government in to what seems to our author to be its constituent parts. These are said to be limb like, but the organic relation of these elements of Rājya is not brought out...........Beyond that the doctrine of Saptāṅga throws no light on the nature of the mutual obligation of the subjects and the King. (Nature and Grounds of Political Obligation in Hindu states). 40 pp.

६. ऋग्वेद १०।९०। ७. वाजसनेयी संहिता २०।८।

राज्य का लक्ष्य :—अनाचार एवं अत्याचार की समाप्ति के लिये बृहस्पति राज्य एवं राजा की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं। बार्हस्पत्य अंशों में कहीं निर्णायक वर्णन नहीं मिलते जिनसे माना जा सके कि मनु की भाँति वे मानते थे कि दण्ड के ही कारण समस्त संसार अपने कर्तव्य पथ पर चलता है। दण्ड के अभाव में शुचि अथवा पवित्र मनुष्य दुर्लभ है।[1] बृहस्पति राज्य एवं शासक के विशेषाधिकार एवं उसकी दण्ड शक्ति के समर्थक हैं। वे वास्तव में, प्रारम्भिक स्वर्णयुग अथवा कृत युग की भाँति की शान्ति की स्थापना के लिये राज्य का उदय मानते हैं। वे मात्स्य-न्याय से अभिभूत प्रजा के लिये वर्णाश्रमों के नेता राजा की उत्पत्ति स्वीकार करते हैं जिसके भय से कोई अपने कर्तव्य मार्ग से विलग नहीं होता। लोग स्वधर्म का पालन करते हैं।[2] बार्हस्पत्य मत के अनुसार अधर्म के कारण स्वधर्म का पालन कठिन ही नहीं असम्भव भी हो गया था और उसका अन्त राज्य के विशेषाधिकार—उसकी दण्ड शक्ति के द्वारा ही सम्भव था। शान्ति की स्थापना के लिये दण्ड शक्ति का सृजन किया गया। इस विशेषाधिकार की सहायता से शान्ति की स्थापना की गयी थी। शान्ति की स्थापना के पश्चात् राज्य का आदर्श दण्ड शक्ति "बल" की सहायता से प्रजापालन एवं प्रजारंजन हो गया था।[3]

राज्य के प्रकार :—बृहस्पति शासन प्रणाली भेद के अनुसार राजतन्त्र तथा गणतन्त्र में ही अन्तर की स्थापना नहीं करते वरन् वे राज्य, भोज्य, वैराज्य तथा साम्राज्य में उसका वर्गीकरण करते हैं।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि उनका वर्णन भौगोलिक स्थानों के अनुसार न होकर राजा के ही विभिन्न विरुदों तथा उसके महत्व के अनुरूप किया गया था क्योंकि, वे, इन नामों को "भूपतिनृप" की स्तुति में प्रयुक्त "शब्द" मानते हैं।[5] बौद्ध भारत तक आते आते मगध साम्राज्यवादी सत्ता के रूप में ख्याति प्राप्त कर चुका था।[6] अतः ऐतरेय ब्राह्मण परम्परा में मान्य भौगोलिक आधार पर राज्य, भोज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमेष्ठ्य तथा साम्राज्य विषयक वर्गीकरण बृहस्पति को स्वीकार्य नहीं है।

●

---

१. मनु ७।२२। २. बृ० स्मृ० व्य० का० १।८।
३. वही व्य० का० १।६६।
४. शान्ति ६८।५४। राजा भोजो विराट् सम्राट् क्षत्रियो भूपतिर्नृपः।
५. वही ६८।५४। य एवं स्तूयते शब्दैः कस्तं नार्थितुमिच्छति।
६. ऐतरेय ब्राह्मण ३९।१।१४–१५।

परिशिष्ट

अराजक समस्या

बृहस्पति स्मृति, शान्ति पर्व, आचारांग सूत्र, नीतिवाक्यामृत आदि ग्रन्थों में पृथक् संदर्भों और पारिभाषिक अर्थों में "अराजक"[1] शब्द का प्रयोग हुआ है। बृहस्पति स्मृति--व्यवहार काण्ड में "अराजक" में वणिक्, कुसीद तथा पशुपालन सम्बन्धी आर्थिक कार्यक्रमों का अभाव बताया गया है।[2] इस वर्णन के अनुसार "अराजक" शब्द का प्रयोग आधुनिक युग में प्रचलित अराजकता की भावना को प्रकट करने के लिये हुआ है। शान्ति पर्व में एक स्थल पर कहा गया है कि, "अराजक" में निवास करना वैदिक परम्परा के प्रतिकूल है।[3] ऐसा प्रतीत होता है कि इस कथन का अर्थ होगा कि, "अराजक" में निवास करने की व्यवस्था अवैदिक थी। यह आर्येतर व्यवस्था की ओर संकेत प्रतीत होता है। इन अस्पष्ट वर्णनों के विपरीत आचारांग सूत्र वर्णन करता है कि, "अराय" अर्थात् "अराज (क)" शासन व्यवस्था का एक प्रकार था।[4] विषय को और अधिक स्पष्ट करते हुए नीतिवाक्यामृत का टीकाकार बृहस्पति का एक श्लोक प्रस्तुत करता है। उसके

---

१. बृ० स्मृ० व्य० का० ११८; शान्ति ६७।५; उत्तराध्ययन सूत्र नीति-पृ० ५६—शान्ति पर्व (६७ अध्याय) में अराजकों का वर्णन मिलता है। उन्हें धर्महीन (६७।३), परस्पर एक दूसरे का भक्षण करने वाला (६७।३), व्यवस्था विहीन (६७।१२–१५), अराजकतापूर्ण (६७।१७) और अवैदिक (६७।५) माना गया है। इन वर्णनों में समरसता नहीं है, क्योंकि कहीं अराजकों को मात्स्य-न्याय की स्थिति माना गया है तो कहीं उन्हें राष्ट्र माना गया है। श्लोक १२–१५ में अराजक में धन और स्त्री सम्बन्धी व्यक्तिगत अधिकार का अभाव बताया गया है। इस कथन की तुलना हम प्लेटो के दार्शनिक साम्यवाद से कर सकते हैं जिसमें उसने राज्य में समतापूर्ण पारस्परिक व्यवहार के निमित्त आवश्यक माना था कि यह स्थिति उसी समाज में सम्भव है जिसमें अपनी पत्नी, अपने पुत्र, अपने माता-पिता आदि अपनत्व सूचक सम्बन्धों का सर्वथा अभाव हो (ए हिस्ट्री औफ पोलिटिकल थ्योरी, पृ० ५६)।

२. वही व्य० का० ११८। ३. शान्ति ६७।५।

४. आचारांगसूत्र २।३।१०—अरायाणि।

अनुसार बृहस्पति का मत था कि "अराजक" राष्ट्र परस्पर एक दूसरे की रक्षा कर लेते हैं किन्तु जिन (राजतंत्रों) में मूर्ख राजा होता है, उनका शीघ्र क्षय हो जाता है।[1] यह बार्हस्पत्य मत स्पष्ट रूप से अराजकों की सफलता और उनकी संघ शक्ति का वर्णन करता है। बृहस्पति स्मृति में प्रयुक्त "अराजक" शब्द नीतिवाक्यामृत के टीकाकार के मत के विरुद्ध प्रकट होता है, क्योंकि बृहस्पति स्मृति किसी प्रकार के प्रशासन का वर्णन न करके सामाजिक दुर्व्यवस्था का ही वर्णन करती है। इसके विपरीत नीतिवाक्यामृत टीका में उद्धृत बार्हस्पत्य मत "अराजक राष्ट्रों" का वर्णन करता है। उनकी बहुलता लोकप्रियता की ओर संकेत करती है। परस्पर विरोधाभास पूर्ण मतों की समीक्षा आवश्यक हो जाती है।

विषय की सम्यक् आलोचना के लिये हमें "अराजक" शब्द के प्रयोग और विकास का अध्ययन करना होगा। व्याकरण के आधार पर यह माना जा सकता है कि इस शब्द के निर्माण में "क" प्रत्यय का प्रयोग किया गया है।[2] किसी भी शब्द से "क" के सम्बन्ध होने का अर्थ होता था उस शब्द में कर्तृत्व भाव की स्थापना करना। "अ" उपसर्ग है। अतः शब्द "राजा" था। मूल शब्द "राट्" था, जिसका अर्थ था शासक। इस प्रकार उपसर्ग अलग करने से "राजक" शब्द सिद्ध होगा। इसका अर्थ होगा, वह विधान जिसमें राजा कर्त्ता अथवा समस्त शासन-विधान का संचालक होता था। यह राजतन्त्र का पर्याय-वाची होगा। "अ" उपसर्ग से संलग्न होने पर इसका अर्थ होगा, वह विधान जिसमें राजा कर्त्ता नहीं होता। अतः इस शब्द का व्याकरण सम्मत अर्थ उस शासन-विधान विशेष का द्योतक होगा जो राजतन्त्र के विपरीत था। परोक्ष रूप से इसका अर्थ जनतन्त्र होगा।

नीतिवाक्यामृत टीका में उपलब्ध बार्हस्पत्य मत निर्विवाद रूप से शासन-विधान के संदर्भ में प्रयुक्त हुआ है। राजतन्त्र के समर्थक के रूप में बृहस्पति राजा के व्यक्तित्व एवं गुणों, प्रतिभा और बुद्धि पर शासन की कुशलता मानते हुए राज-कार्य की गुरुता की तुलना करते हुए कहते हैं कि, "अराजक राष्ट्र

---

१. नीति पृ० ५६।

२. पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृ० ३५२ में डा० अग्रवाल ने माना है कि पाणिनि के समय तक शब्द में कर्तृत्व भाव की द्योतना के लिये "क" प्रत्यय प्रचलित हो चुका था। उनके अनुसार जिस मत के नेता वासुदेव कृष्ण थे, वह "वासुदेवक" था। वासुदेव कृष्ण के उपासक भी "वासुदेवक" कहलाते थे। (वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन् ४।३।९८)।

परस्पर रक्षा कर लेते हैं किन्तु मूर्ख शासित (राजतन्त्रों) का शीघ्र क्षय हो जाता है।"[1] इस स्थल पर बृहस्पति का उद्देश्य राजतन्त्रों और गणतन्त्रों के मौलिक अन्तर की ओर संकेत करना है। वे बहुबुद्धिशासित गणतन्त्रों का कार्य सरल ही नहीं मानते हैं वरन् उनकी संघ शक्ति में उनके महत्व का रहस्य निहित मानते हैं। प्रबल राजतन्त्र के समर्थक के रूप में वे राजा को "सर्वगुणोपेत" "राजद्रव्य" के रूप में देखना चाहते हैं।[2] गणतन्त्रों की प्रशंसा करना उनका अभिप्रेत नहीं है। समकालीन राजनीति से प्रभावित होकर राजतन्त्रों और गणतन्त्रों की तुलना उन्होंने की है। सम्भवतः बौद्ध भारत के गणों और उनकी संघ शक्ति ने बृहस्पति को इस प्रकार की तुलना के लिये प्रेरित किया होगा। जब अजातशत्रु ने वज्जियों पर आक्रमण करने के उद्देश्य की सूचना बुद्ध को देने एवं उनकी प्रतिक्रिया जानने के लिये वर्षकार को बुद्ध के निकट भेजा था, तब बुद्ध ने वज्जियों की समृद्धि एवं यश के कारणों में संस्थागार में होने वाली नियमित सभाओं और उनके बहुमत निर्णय को विशेष महत्वपूर्ण बताया था।[3] बार्हस्पत्य "अराजक राष्ट्र" बौद्ध गणों के संघ राज्यों (वज्जि तथा मल्लराज्यों) की भाँति प्रतीत होते हैं क्योंकि "राष्ट्राणि" शब्द का प्रयोग दो से अधिक राष्ट्रों के संघ का भाव प्रकट करता है।

"अराजक" विषयक बार्हस्पत्य वर्णन स्पष्ट कर देता है कि, इस शब्द को "मात्स्य-न्याय" शब्द का पर्यायवाची मानना सर्वथा अनुचित होगा।[4] वस्तुतः इसे समस्या का स्वरूप प्रदान करने और भ्रमपूर्ण बना देने का श्रेय धर्मार्थशास्त्रीय ग्रन्थों के गुप्तयुगीन संस्करणों को मिलना चाहिये। राजतन्त्र के कट्टर समर्थक और गणतन्त्रीय परम्पराओं से अनभिज्ञ, इन ग्रन्थों के संस्करण कर्ताओं ने दोनों शब्दों को पर्यायवाची मान लिया था। "अराजक" व्यवस्था में शासक (एक व्यक्ति) के अभाव और "मात्स्य-न्याय" स्थिति में शासिका शक्ति के अभाव-साम्य ने उन्हें इस निष्कर्ष पर पहुँचाया था। बृहस्पति[5] और भीष्म[6] के अतिरिक्त किसी राज्य-चिन्तक ने राज्य एवं राजत्व के जन्म के पूर्व की अवस्था को

---

१. नीति पृ० ५६।

अराजकानि राष्ट्राणि रक्षन्तीह परस्परम्।
मूर्खो येषां भवेद्राजा तानि गच्छन्ति संक्षयम्॥

२. वही पृ० ५६। ३. दीघनिकाय खण्ड ३, पृ० ९२–९३।

४. नीति पृ० १०५; शान्ति ६७।१७ दोनों शब्दों को पर्यायवाची मानता है।

५. बृ० स्मृ० व्य० का० १।१–२; वही सं० का० ७–८।

६. शान्ति ६८।८–३८।

शान्तिपूर्ण नहीं माना था। वे उसे अत्याचार तथा शक्ति के बल पर अपना अस्तित्व बनाये रखने वालों का युग मानते थे।[१] बृहस्पति[२] और भीष्म[३] "मात्स्य-न्याय" सिद्धान्त के समर्थक थे किन्तु उसे वे राज्य के जन्म के पूर्व की अराज्य स्थिति की अन्तिम अवस्था मानते थे।[४] इस दृष्टिकोण के अनुसार कृतयुग से मात्स्य-न्याय युग तक का समस्त युग शासक विहीन था। यदि हम उसे इस आधार पर "अराजक" मानें तो "मात्स्य-न्याय" युग "अराजक" का अन्तिम युग होगा, न कि स्वतः में पूर्ण "अराजक युग"। यही नहीं, इस विचारधारा के अनुसार अव्यवस्था पूर्ण "अराजक" केवल अन्तिम युग के संदर्भ में ही संगत होगा। यदि विपरीत दृष्टिकोण स्वीकार करें तो मानना होगा कि, शासक शक्ति एवं व्यक्ति अथवा व्यक्तियों की संस्था के अभाव में राज्य—राष्ट्र नहीं कहलायेगा (जैसे बृहस्पति ने अराजकों को राष्ट्र-संज्ञा प्रदान की है)। साम्राज्यों के विकास और अराजक राष्ट्रों की परम्परा के लुप्त हो जाने के कारण पारिभाषिक—प्रयोग सम्बन्धी भ्रम फैल गया था। अन्यथा एक ही भाव की अभिव्यक्ति के लिये दो पारिभाषिकों का प्रयोग राजनीतिक शब्दकोश के दृष्टिकोण से कहां तक उचित होता, कहना कठिन है।

डा० जायसवाल ने "अराजक" को शासन-प्रणाली के प्रकार के रूप में स्वीकार किया था। वे मानते थे कि, वह आदर्श शासन-प्रणाली थी, हिन्दू राज्यशास्त्रियों ने जिसकी भर्त्सना की है। इस शासन-विधान का आदर्श था कि धर्म शासक है। किसी अन्य व्यक्ति का शासन नहीं होना चाहिये। इस राज्य का मूल पारस्परिक समझौते अथवा प्रजा के सामाजिक अनुबन्ध में था। यह उग्र प्रजातन्त्र का स्वरूप था—लगभग टौल्स्टाय के आदर्श पर।[५] अन्यत्र "अराजक" गणतन्त्रों का आधार व्यक्तिवादी दृष्टिकोण को मानते हुए उनका कथन है कि, व्यक्तिवाद का उग्र-स्वरूप "अराजक" व्यवस्था या शासकविहीन राज्यवाद था। उस वर्ग के राज्य-शास्त्रियों ने सरकार को एक दोष माना था। किसी व्यक्ति में कार्यपालिका शक्ति निहित नहीं थी। केवल धर्म या न्याय ही शासक था एवं अपराधी घोषित व्यक्ति के लिये निर्वासन ही उन्हें मान्य था। व्यक्ति की सर्वोच्च शक्ति किसी एक व्यक्ति अथवा व्यक्तियों की संस्था को नहीं

---

१. अर्थ १।१३७, पृ० २२–२३; मनु ७।

२. नीति पृ० १०५; बृ० स्मृ० व्य० का० १।८।

३. शान्ति ६७।१७।

४. बृ० स्मृ० व्य० का० १।१–२; सं० का० ७–८; शान्ति ५९।१५।

५. Hindu Polity pp. 82–83.

सौंपी जा सकती थी।[1] यही नहीं, "अराजक" शासन-प्रणाली के अन्तर्गत लिखित संविधान की वे सम्भावना प्रकट करते हैं।[2]

डा० जायसवाल के मत की समीक्षा आवश्यक है।[3] बौद्ध साहित्य एवं महाभारत[4] दो भिन्न-भिन्न स्तरों पर गणतन्त्रों एवं संघीय शासन-प्रणाली का वर्णन करते हैं। पालि साहित्य में कहीं भी बौद्ध गणतन्त्रों के लिखित संविधान के वर्णन उपलब्ध नहीं होते। लिच्छवियों की साम्य भावना नागरिक अधिकारों के संदर्भ में प्रतीत होती है।[5] इस संदर्भ में डा० जायसवाल से सहमत होना कठिन है, कि इन गणतन्त्रों में व्यक्तिवाद चरम सीमा पर था। वस्तुतः गणतन्त्रों की शासन-प्रणाली आधुनिक जनतन्त्रों का पूर्व-रूप प्रतीत होती है। पुनः डा० जायसवाल ने धर्म को शासक मानने की "अराजकों" की भावना का उल्लेख किया है। यह गणतन्त्रों की ही विशेषता नहीं थी। वैदिक भावना के अनुसार भी धर्म ही शासक था।[6] "धर्म" को भौतिक स्वरूप प्रदान करने वाला "दण्ड" "धर्म" का ही पुत्र था।[7] धर्म की रक्षा के निमित्त राजा का सृजन हुआ था।[8] और उसी के लिये उसे दण्डधर और उत्थित-दण्ड होना पड़ता था।[9] राजतन्त्रों में राजा प्रमुख अधिकारी होता था। गणतन्त्रों में भी सभापति राजा कहलाता था।[10] बौद्ध साहित्य में कहीं लिखित संविधान के वर्णन नहीं मिलते और न ही महाभारत में अंधक-वृष्णियों के लिखित संविधान के वर्णन मिलते हैं। अतः "अराजक" शासन-प्रणाली को परम्पराजन्य नियमों पर आधारित गणतन्त्र शासन-प्रणाली मानना अधिक संगत होगा।

●

१. Ibid p. 165. २. Ibid p. 164.

३. दीघनिकाय खण्ड ३, पृ० ९२–९३। ४. शान्ति।

५. Lalita Vistra Vol. 1, p. 21 quoted in Kshatriya Clans in Buddhist India.

६. The Vedic Age pp. 365–66; A History of political Ideas P. 23.

७. मनु ७।१३–१४। ८. वही।

९. वही ७।२२। १०. दीघनिकाय खण्ड ३, पृ० ९२–९३।

द्वितीय अध्याय

राजत्व सिद्धान्त और उसके नियामक तत्व

प्रौढ़ राज्य-चिन्तन परम्परा में राजत्व सिद्धान्त और उसके नियामक तत्वों का अध्ययन महत्वपूर्ण होता है। राजनीति की मौलिक समस्या है कि, राजाज्ञा पालन के समर्थन में न्यायिक अथवा कानून सम्बन्धी सिद्धान्त के अतिरिक्त भी कोई तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है अथवा नहीं, जिसके आधार पर राजा अथवा राज्य की आज्ञाओं का पालन करना प्रजा का कर्तव्य सिद्ध किया जा सके ? सुकरात ने राज्य के इस अधिकार को स्वीकार करके नगर के अधिनियम पालन करने की इच्छा से कारा से भाग निकलने से स्पष्ट इंकार कर दिया था। बाद के युग में इस समस्या के समाधान के लिये पश्चिमी विश्व ने दैवी राजत्व, अनुबन्ध, शक्ति, उपयोगितावाद और क्षेत्रीय राज्याधिकार सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे।[1]

बार्हस्पत्य राजत्व सिद्धान्त के अध्ययन के पहिले पाश्चात्य दृष्टिकोण पर विहंगम दृष्टि डालना अनुचित न होगा।

पाश्चात्य राज्यदर्शन में वर्णित राज्य के विशेषाधिकार और आज्ञा पालन करने के लिये बाध्य करने की क्षमता सम्बन्धी चिन्तन के तीन स्तर मानने होंगे। प्रथम स्तर, ग्रीक और रोमन राज्य-चिन्तन का होगा। द्वितीय स्तर, मध्य युगीन राज्य-चिन्तन का होगा। तृतीय स्तर, आधुनिक राज्य-चिन्तन की पृष्ठ-भूमि और उसके विकास का होगा। इन्हीं तीनों स्तरों का अध्ययन हमारा अभिप्रेत है।

हमें प्रथम स्तर से प्रारम्भ करना चाहिये। ग्रीक लोग पाश्चात्य जगत् की प्राचीनतम संस्कृत जाति थे। सुकरात से प्रारम्भ होने वाले युग में ग्रीस में नगर राज्य की भावना के साथ-साथ दार्शनिक चिन्तन का भी विकास हुआ। सुकरात सत्य तथा ज्ञान के दार्शनिक चिन्तन तक ही सीमित रहा। उसका प्रसिद्ध शिष्य प्लेटो अद्वितीय विद्वान् था। उसने अपनी पुस्तकों "रिपब्लिक", "स्टेट्समेन" तथा "लीज़" में ज्ञान के लिये ही नहीं वरन् न्याय के लिये भी राज्य का महत्व स्वीकार किया था। वह दार्शनिक शासक के अन्तर्गत ही न्याय तथा शान्ति की कल्पना करता था। उसके शिष्य अरस्तू ने पहिली बार राजनीति

---

१. Elements of Modern Political Science, pp. 108-33.

को शास्त्रीय स्वरूप प्रदान किया था। वह मानव को राजनीतिक अथवा सामाजिक जन्तु मानता था। उसका मत था कि, व्यक्ति से अधिक महत्वपूर्ण स्थान राज्य का है। नगर पूर्णता है और व्यक्ति उसका अंग है। व्यक्ति को राज्य में रहना है और राज्य ही तर्कसंगत एवं नीतिसंगत माध्यम है, जिसके द्वारा जीवन के आदर्शों की उपलब्धि होती है तथा व्यक्ति कल्याणकारी एवं समुचित जीवन का निर्वाह करता है। ग्रीकों से अधिक रोमनों ने राज्य का अधिनियम सम्बन्धी और कानूनी स्वरूप स्वीकार किया था। रोमन साम्राज्यवाद ने समता के सिद्धान्त को जन्म दिया था। सिसरो ने नैतिक समता का सिद्धान्त स्वीकार किया था।

इस वक्तव्य पर भी लोगों ने शंका प्रकट की है कि मध्य युग में राज्य की स्थिति थी। फ़िजिस का विचार है कि यदि राज्य था तो वह चर्च (के ही रूप में) था।

आधुनिक युग में "नैतिकता की ग्रीक विचारधारा" के साथ-साथ "राष्ट्रवाद" का विकास हुआ। हॉब्स ने चार्ल्स द्वितीय के गुरु, राजतन्त्र के कट्टर समर्थक के रूप में सानुबन्ध सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए "महान् लेवायथन" के वंशज (राजा) का समर्थन किया था। लॉक ने "ग्लोरियस रेवोल्यूशन" के समर्थक के रूप में अपनी पुस्तक "टू ट्रीटाइज़ेज ऑफ सिविल गवर्नमेंट" की रचना की थी और वह प्रारम्भिक शान्ति की स्थापना के लिये अनुबन्ध की स्थिति स्वीकार करते थे। १७६२ ई० में रूसो ने "सोशल कौंट्रैक्ट" की रचना की थी। उसने राज्य के महत्व का वर्णन करते हुए "सर्व-सम्मति" और "सर्व-हित" की भावना को राज्य के महत्व का कारण माना था। और आगे बढ़ कर कांण्ट ने व्यक्ति और राज्य के कार्यों की एकात्मकता के आधार पर राज्य के प्रति व्यक्ति की कर्तव्यनिष्ठा को अनिवार्य घोषित किया था। हेगेल ने राज्य को व्यक्ति की "पूर्ण सतर्क ज्ञानावस्था" (रेशनलिटी) माना था। बोसाँके ने उसके मत का समर्थन किया था। हौवहाउस के मतानुसार, "व्यक्ति की वास्तविक इच्छा उसकी मूल इच्छा से बहुधा विपरीत होती है। उसकी मूल इच्छा समाज की सामान्य इच्छा होती है, और समाज की सामान्य इच्छा राज्य की इच्छा होती है।" १८ वीं शती के लेखकों में डेविड ह्यूम ने अनुबन्ध सिद्धान्त के विरुद्ध अपना मत प्रकट किया था। उसने सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त को "बुरा इतिहास, बुरा तर्क और बुरी नीति" बताया। ह्यूम ने राज्य को उपयोगितावाद प्रभावित माना था। बेंथम और जॉन स्टुअर्ट मिल "सहमति सिद्धान्त (कन्सेन्ट) के समर्थक हैं। राज्य को "शक्ति" के रूप में देखने का श्रेय वॉन ट्रेट्स्की को है।

भारत में राजत्व सिद्धान्तों का विवेचन एवं विकास सर्वथा भिन्न परिस्थितियों में हुआ था।

बार्हस्पत्य राजत्व सिद्धान्त के विकास एवं नियामक तत्वों के वर्णन के पूर्व तद्विषयक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का विस्तार अवांछनीय न होगा। एक महत्वपूर्ण संस्था के रूप में राज्य एवं राजत्व का विकास आर्यों के इतिहास के साथ सम्बद्ध रहा होगा। सिंहली राजत्व की ही भाँति भारतवर्ष में भी राजत्व का विकास ग्रामीण समाज के दायित्व एवं ग्रामणी (मुखिया) के महत्वपूर्ण नेतृत्व के इतिहास के साथ प्रारम्भ हुआ होगा। सिंहल के ऐतिहासिक युग में भी राजाओं के नाम से ग्रामणी शब्द सम्बद्ध रहा।[१]

ग्रामीण समाज में ग्रामणी का महत्वपूर्ण स्थान होता था। यद्यपि उसके कर्तव्यों के बारे में संकेतमात्र मिलते हैं फिर भी इतना निश्चित है कि ग्राम के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक कार्यों में उसका महत्वपूर्ण योग होता था।[२] राजनीतिक विकासों के साथ-साथ ग्रामणी का राजनीतिक महत्त्व अक्षुण्ण बना रहा। उत्तर वैदिक काल में राजा के निर्वाचन (अथवा अधिक संगत शब्दों में सांकेतिक निर्वाचन) के अवसर पर राजन्य एवं सूत के साथ ग्रामणी भी

---

१. डा० मेंडिस के वर्णनों से प्रतीत होता है कि, पितृसत्तात्मक आर्य परिवार में ऋग्वेद में वर्णित सर्वशक्तिमान् पिता की सत्ता, एवं परिवारों के ग्राम के रूप में संगठन ने सर्वशक्तिशाली, लोकप्रिय एवं परार्थ सेवा में रत त्यागी ग्रामणी के व्यक्तित्व का विकास किया होगा। विजय और पराक्रम के प्रयत्नों ने ग्रामणी के महत्त्व की वृद्धि के साथ राज्यवृद्धि में सहायता की होगी : राजत्व को जन्म दिया होगा। इस ग्रामीण पृष्ठभूमि के ही कारण सिंहली शासक दिव्यता का दावा नहीं कर सके।

The Early History of Ceylon–Dr. G. C. Mendis. pp 26–29.
When the early Aryans came to Ceylon, they settled in villages, and established as their form of government gansabhas with gamanis or the elders of the villages as their chief. When the gamanis of Anuradhapura and Magama established themselves as kings over the northern and the south-eastern regions, as form of Central government was imposed over the village councils. It was probably too early at this time to attribute any divine powers or a high origin to kings (Op. cit. p. 29).

२. Indo–Aryan Polity, pp. 38, 39–40.

उपस्थित होता था।[१] राजत्व का विकास इन्हीं ग्रामीण परम्पराओं में हुआ होगा। ऋग्वैदिक परिवार में पिता अथवा कुलपा को अपने परिवार के सदस्यों को प्राणदण्ड तक दे देने का अधिकार था। परन्तु दण्ड देने के कारण वह अपराधी नहीं होता था।[२] इसी भावना ने अपराधी को दण्ड देने के बाद भी राजा के अदण्ड्य बने रहने की भावना को जन्म दिया होगा।

ऋग्वैदिक युग में ही राज्य एवं राजत्व प्राचीन संस्था के रूप में माने जाने लगे थे। उत्तराधिकार के लिये पिता के पश्चात् पुत्र के सिंहासनारोहण का सिद्धान्त स्वीकृत हो चुका था।[3] वैदिक साहित्य में, ऐतरेय ब्राह्मण में, निर्वाचन-जनित राजत्व सिद्धान्त के वर्णन उपलब्ध होते हैं। उसमें सामरिक नेतृत्व की आवश्यकता राजत्व के उद्भव का कारण मानी गयी है।[४] इसके पहले भी अथर्ववेद में राजा के निर्वाचन के मंत्रों का वर्णन मिलता है,[५] जिससे स्पष्ट होता है कि ऐतरेय ब्राह्मण में वर्णित निर्वाचन-जनित राजत्व सिद्धान्त का वर्णन प्राचीन परम्पराओं की पुनरावृत्ति मात्र है।

ऋग्वैदिक युग में ही जन स्तर के विशाल राज्यों का विकास हो चुका था।[६] अथर्ववेद में जन प्रतिनिधियों द्वारा राजा के अप्रत्यक्ष निर्वाचन का उल्लेख मिलता है जिससे ज्ञात होता है कि, प्रजा के विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व अभिषेक कराने वाला पुरोहित, राजन्य, सूत, ग्रामणी, रथकार तथा कर्मकार करते थे। अभिषेक-कार्य ब्राह्मण पुरोहित ही सम्पादित कराता था तथा अन्य सभी वर्ग भावी राजा को शासनाधिकार सूचक पर्ण प्रदान करते थे।[७] समय की प्रगति के साथ राजत्व परिवार विशेष का गौरव बन गया। जनमत के महत्त्व का प्रतीक ऐतरेय ब्राह्मण का ऐन्द्र महाभिषेक प्रतीक रूप में रह गया जिसमें ऐन्द्र महाभिषेक के अवसर पर अभिषिक्त शासक भक्तिपूर्वक (अद्रोह-पूर्ण) शासन करने की प्रतिज्ञा करता था।[८]

बृहस्पति के समय तक राजत्व सम्बन्धी परम्पराओं से सम्बन्धित कर्मकाण्ड का विकास हो चुका था। उन्होंने राजनीतिक विचारधाराओं के विश्लेषण एवं

---

१. अथर्ववेद ३।५।७।

२. The Vedic Age, p. 384, R. V. I. 24. 12-15, V. 2. 7; X. 34. 4.

३. Ibid p. 354.

४. ऐतरेय ब्राह्मण ३९।१।१४।

५. अथर्ववेद ६।८७–८८।

६. The Vedic Age, p. 356.

७. अथर्ववेद ३।५।६–७।

८. ऐतरेय ब्राह्मण ३९।१।१५; देखिये शान्ति ५९।६–१२।

सिद्धान्तीकरण का कार्य आवश्यक मान कर अपने अर्थशास्त्र की रचना की थी। ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित तर्क-संगत मत का प्रतिपादन उनकी विशेषता थी। पुनः राजत्व सम्बन्धी विचारधारा के सिद्धान्तीकरण का कार्य इस कारण भी विशेष महत्वपूर्ण हो गया कि राजत्व के समर्थन के लिये पृष्ठभूमि तैयार की जा सके। यद्यपि प्राचीन भारतीय राजतन्त्र के समर्थक थे किन्तु हेतुवाद प्रस्तुत करने और राज्य-चिन्तन को बल प्रदान करने के लिये तर्क-संगत प्रौढ़ चिन्तन की आवश्यकता प्रतीत हुई, जिसके आधार पर बहुसंख्यक प्रजा पर एक व्यक्ति (राजा) के शासनाधिकार को उचित अंगों और गुणों के होते हुए दूसरे व्यक्ति (सामान्य प्रजा) अथवा व्यक्तियों (सम्पूर्ण प्रजा) से महान् ठहराया जा सके। आखिर क्यों, अकेला होता हुआ भी राजा बहुतों पर शासन करे ?[१] दूसरे शब्दों में प्रश्न का स्वरूप यह था कि, प्रजा राजा की आज्ञाओं का पालन क्यों करे ? इसी प्रश्न का उत्तर राजशासन का समर्थन एवं राज्य के प्रति प्रजा की निष्ठा का जनक था।

ब्राह्मण ग्रन्थों की रचना के समय भी इस प्रश्न पर विचार प्रारम्भ हो चुके थे। राजा की दिव्यता के मत का समर्थन करते हुए शतपथ ब्राह्मण का स्पष्ट कथन है कि दिव्यता के ही कारण राजा अकेला होता हुआ भी अनेकों पर शासन करता है।[२]

धर्मार्थशास्त्रियों में बृहस्पति सम्भवतः प्रथम व्यक्ति थे जिन्होंने राजा के व्यक्तित्व में दिव्यता के दर्शन करके उसे राजनीतिक सिद्धान्त का स्वरूप प्रदान किया था।

विकास-क्रम—प्राचीन समाज में राजत्व के जन्म का वर्णन करते हुए, बृहस्पति राजनीतिक समाज को एक ऐतिहासिक विकास मानते हैं। उनके अनुसार इस विकास-क्रम के भी तीन स्तर थे। प्रथम स्तर में राज्य और राजा दोनों के ही अभाव में व्यवस्था धर्मानुकूल चलती रही।[3] लोग शान्त-प्रकृति एवं अहिंसक थे। आर्थिक क्षेत्र में भी भृत्य कार्य करते थे एवं स्वामी भृति देते थे। विशेष शक्तिधारी सत्ता के अभाव में भी समाज स्वचालित एवं स्वनियंत्रित था। कहीं भी नियम भंग या अव्यवस्था न थी।[४] यह अवस्था पूर्व [५] अथवा कृत[६] युग में थी।

---

१. शान्ति ५९।६–१२।

२. शतपथ ब्राह्मण ५।२।५–१४।

३. बृ० स्मृ० व्य० का० १।१, वही सं० का० ७।

४. वही व्य० का० १।३, वही० स० का० ७।

५. वही व्य० का० १।१। ६. वही सं० का० ७।

द्वितीय स्तर युग पतन का रहा। इसमें भी राज्य और राजा का अभाव था। धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि इसका कारण था। अधर्म का जन्म ही मत्सर एवं द्वेष के कारण हुआ था। त्रेता में तीन, द्वापर में दो और तिष्य-पाद में एक पद धर्म रह गया। धर्म के शेष पदों का स्थान अधर्म ने ले लिया।[१] धर्म के अभाव में सामाजिक, नैतिक एवं आर्थिक क्षेत्रों की अव्यवस्था होने लगी। उसके पश्चात् जनता में अनृतवादियों का प्राबल्य हो गया।[२]

इस विकास-क्रम के अनुसार तृतीय स्तर पूर्ण अराजकता एवं अस्थिरता का था।[3] इसे मात्स्य-न्याय[४] युग कहा गया है। नैतिकता, सामाजिकता के बन्धन, आर्थिक व्यवस्था सभी कुछ शक्तिशालियों के हाथ में पड़ कर समाप्त हो गयी।[५]

इन वर्णनों से स्पष्ट हो जाता है कि, कृत युग से लेकर मात्स्य-न्याय युग तक पर्याप्त समय बीत चुका था। समस्त युग राजा और राज्य के अभाव का युग था। पूर्ण अव्यवस्था इसकी अन्तिम अवस्था और राजत्व की उद्‌भाविका स्थिति थी।[६] इस अव्यवस्था की स्थिति का वर्णन करते बृहस्पति का कथन है कि, शासक के अभाव में कृषि, वणिक्, कुसीद, पशुपालन कार्य बन्द हो गये थे। लोग अपने कर्तव्यों का पालन नहीं करते थे। इस कारण सोम, अग्नि, अर्क, अनिल, इन्द्र, वित्तापति एवं यम (के तेज) की शाश्वत मात्राओं को लेकर राजा का निर्माण किया गया था।[७]

---

१. वही सं० का० ७–८।

२. वही व्य० का० १।८; बृ० सू० ३।१४०–४७।

३. वही व्य० का० १।१–४, ७–८. वही सं० का० ८, शान्ति ६८।६–२९।

४. नीति पृ० १०५। ५. शान्ति ६८।६–२९।

६. बृ० स्मृ० व्य० का० १।९। वर्णाश्रमाणां तु नेताऽसौ निर्मितः पुरा।

७. वही व्य० का० १।६–७।

सोमाग्न्यर्कानिलेन्द्राणां वित्ताप्पत्योर्यमस्य च।
तेजो मात्रं समुद्धृत्य राज्ञो मूर्तिर्हि निर्मिता॥

मनु ७।४–५। इन्द्रानिलयमार्काणामग्नेश्च वरुणस्य च।
चन्द्रवित्तेशयोश्चैव मात्रा निहृत्य शाश्वतीः।

शुक्र १।७२। श्लोक के वनन को छोड़ शब्दशः मनु के शब्द प्रयुक्त हैं।

The Early History of Ceylon, p. 29.

The Sinhalese during this period, unlike most ancient peoples, attached no special sanctity to the kings. They did not believe that they were of divine origin or that they possessed divine powers. The kings themselves, unlike Indian rulers,

राजा के महत्व और उसके प्रति प्रजा की निष्ठा का कारण बृहस्पति नहीं ढूँढ़ते । वे अर्जुन की भाँति नहीं कहते कि राजा के महत्व का क्या कारण है ?[१] उनके मौन से स्पष्ट है कि इस कार्य में मनुष्यों का कोई हस्तक्षेप नहीं था। सम्भवतः 'महान् शक्ति' देवताओं ने अपने उपासक मनुष्यों की दयनीय दशा देखकर, करुणा से द्रवित होकर अपनी शक्तियों के उदार त्याग द्वारा सामाजिक एवं आर्थिक अव्यवस्था दूर करके, सामाजिक शान्ति और आर्थिक व्यवस्था की स्थापना के लिये राजा का निर्माण किया था । व्यवस्था भंग करने वालों को दण्ड देने के लिये उसे विशेष शक्ति प्रदान की गयी । उसे स्थावर एवं चर जगत् का स्वामित्व प्रदान किया गया । उसके भय (अर्थात् दण्ड भय) से लोग अपने कर्तव्यों का पालन करते और पथभ्रष्ट नहीं होते हैं ।[२] इस प्रकार राजत्व की प्राचीनता से लाभान्वित होकर बृहस्पति ने उसे दिव्यता प्रदान की थी । राजनीतिक समाज का महत्वपूर्ण प्रधान व्यक्ति, शासन-शक्ति का केन्द्र और दण्डधर होने के कारण ही नहीं वरन् दैवी उत्पत्ति और शासनाधिकार के कारण भी राजा शेष प्रजा का नेता, शासक और उससे अधिक महत्वपूर्ण होता था । देवताओं द्वारा प्रदत्त शासन-शक्ति उसकी आज्ञाओं को अनुलंघनीय बना देती थी । राजा न केवल देव-प्रेषित एवं देव-प्रतिनिधि था वरन् उसमें संकलित विभिन्न महत्वपूर्ण देवशक्तियाँ उसे सर्वाधिक प्रतिभाशाली बना देती थीं । उसकी आज्ञाओं का उल्लंघन केवल मानवीय शासक की आज्ञाओं का ही उल्लंघन नहीं होता वरन् देवताओं द्वारा प्रशस्त मार्ग पर न चलना और मार्ग-दर्शक देव-प्रतिनिधि का अपमान भी होता । फलतः माननीय शासक के रूप में उसकी आज्ञाओं का उल्लंघन लौकिक दण्ड का भागी बनाता था और देव-प्रतिनिधि के रूप में उसकी आज्ञाओं का उल्लंघन देवताओं का अपमान करने के कारण प्रजा को मृत्यु अनंतर पाप तथा दैवी दण्ड का भागी बना देती । इस प्रकार बार्हस्पत्य चिन्तन प्रजा को राजा एवं राज्य के प्रति कर्तव्यनिष्ठ और आज्ञापालक ही नहीं बनाता था वरन् वह स्पष्ट उद्घोषित कर देता था कि राज्य और राजा के प्रति निष्ठा, भक्ति एवं आज्ञापालन, इस लोक के लिये राजा एवं परलोक के लिये देवताओं की इच्छाओं का पालन है । पालन पुण्यप्रद एवं उल्लंघन दण्ड तथा पाप दोनों का स्रष्टा होगा ।

मत्स्य-न्याय के अधर्म, कलह और अव्यवस्था से व्यथित होकर उपर्युक्त

---

did not trace their origin to the Sun or to the Moon and claim to belong to the Solar or Lunar Dynasty.

१. शान्ति ५९।६–१२ । २. बृ० स्म० व्य० का० १।७–८; मनु ७।५ ।

देवताओं ने अपने भक्तों के उद्धार के लिये अपने-अपने विशिष्ट गुणों के उत्सर्ग द्वारा राजा के व्यक्तित्व का निर्माण किया था। अतः अपने उद्देश्यों एवं आकांक्षाओं से उसे अवगत कराया। साथ ही साथ अपना प्रतिनिधि बना कर उसे प्रजा के कष्टों को समाप्त करने के लिये भेजा। दैवी होने के कारण राजा ने शेष प्रजा से श्रेष्ठ और उसके शासक के रूप में स्थान प्राप्त किया होगा। आशा के अनुरूप, धर्म की पुनर्स्थापना और सामाजिक न्याय उसके कर्तव्य माने गये होंगे। समाज के नैतिक पतन के पश्चात् राज्य की उत्पत्ति होने के कारण सामाजिकता अथवा नैतिकता के आधार पर यह कार्य सम्भव नहीं था। फलतः राजा को अतिरिक्त अधिकार एवं शक्ति (दण्डशक्ति) की आवश्यकता पड़ी। इस विशिष्ट शक्ति अथवा राजसत्ता के प्रयोग द्वारा ही वह प्रजा को अपने कर्तव्य पालन के लिये बाध्य कर सकता था। इसी विशेषाधिकार दण्ड के प्रयोग के कारण वह राज्य में सर्वोच्च स्थान प्राप्त करता था।

प्राचीन मनीषी दण्ड को धर्मज मानते थे।[१] अतः दण्डशक्ति का भी उद्देश्य परोक्ष रूप में धर्म की ही स्थापना था। राजा स्वयं शक्ति का स्रोत नहीं माना जाता था। वह केवल दण्डधर (अर्थात् दण्ड का व्यावहारिक स्वरूप प्रस्तुत करता) था।[२] दण्ड का उद्देश्य था—मात्स्य-न्याय अथवा अन्याय का अन्त करना। अन्यायमार्गियों को दण्ड देना और शान्ति की स्थापना करना। इसके लिये "यथार्ह दण्ड" आवश्यक था। बृहस्पति का कथन है कि, राजा वसन्त के सूर्य की भाँति हो। न अधिक शीत (अर्थात् दुर्बल) हो और न अधिक घर्मद (अर्थात् उग्र) ही हो।[3] कौटिल्य भी इसी मत के समर्थक हैं। उनका कथन है कि, तीक्ष्ण दण्ड लोगों को उत्तेजित कर देता है एवं मृदु दण्ड की अवमानना होती है। यथार्ह दण्ड ही श्लाघ्य है।[४]

देव-प्रतिनिधि एवं देव-प्रेषित बार्हस्पत्य राजा देवताओं के अतिरिक्त किसी पार्थिव शक्ति अथवा व्यक्ति के प्रति उत्तरदायी नहीं था। पवित्र एवं कल्याण-कारी उद्देश्यों के कारण उसका जन्म हुआ था, अतः कर्तव्यपरायणता उसे पुण्य एवं स्वर्ग की प्राप्ति कराती[५] और कर्तव्यविमुखता पाप-वृद्धि करके नरक के द्वार प्रशस्त कर देती थी।[६] देवताओं ने ही उसके कर्तव्य निश्चित किये थे।

१. मनु ७।१३–१४। २. बृ० स्मृ० व्य० का० १।२२; शान्ति ५७।४०।
३. शान्ति ५७।४०। ४. अर्थ १।४, पृ० ९।
५. बृ० स्मृ० व्य० का० १।४२। ६. वही व्य० का० १।५०।

देव प्रतिनिधि होने के कारण राजा विपरीत मार्गगामी नहीं हो सकता था। धर्म एवं दण्ड की प्रतिष्ठा के अनुसार वह सदैव नियंत्रित रहता था। उसके

उसे अपने-अपने क्षेत्रों का शासनाधिकार (मानवीय शासक के रूप में) सौंपा था। उन्हीं देवताओं ने कर्तव्य पालन के बदले में उसे "षड्भाग" प्राप्त करने की मान्यता प्रदान की होगी। राजस्व देकर प्रजा अपने मानवीय शासक ही नहीं इष्ट देवताओं के प्रति भी कर्तव्यों का पालन करती थी।[१] प्रजा का अपने समाज, राज्य एवं देवताओं के प्रति कर्तव्य था कि राजा की आज्ञाओं का पालन करे।

बृहस्पति की ही भाँति कौटिल्य भी राजत्व का जन्म मात्स्य-न्याय की अव्यवस्था को दूर करने के लिये मानते हैं। उनके मतानुसार मात्स्य-न्याय से अभिभूत प्रजा ने वैवस्वत मनु को राजा बनाया था।[२] विवस्वान्, अर्थात् सूर्य, का पुत्र होने के कारण राजा देवपुत्र था। अन्यत्र, कौटिल्य जनता में प्रचलित राजा की दिव्यता की भावना से, राजा की दिव्यता में आस्था न रहते हुए भी, अपने शासक को लाभान्वित करने के अभिप्राय से चरों द्वारा जनता में प्रचार करवाते हैं कि, "ये राजा इन्द्र एवं यम के समान हैं। अनुग्रह करने और दण्ड देने में समर्थ हैं। इनकी अवमानना करने वालों को दैवी-दण्ड मिलता है। इस कारण राजाओं की अवमानना नहीं करनी चाहिये। (यह कह कर) क्षुद्र जनों का प्रतिषेध करे।[3] वस्तुतः कौटिल्य के युग तक राजा की दिव्यता की भावना महत्वपूर्ण एवं प्राचीन हो चुकी थी और लोक-ग्राह्य भी। कौटिल्य ने स्वयं नन्द राजा से पृथिवी को मुक्त किया था और हृदय से दिव्यता के सिद्धान्त का समर्थक न होने के कारण उन्होंने अनुबन्ध जनित दैवी राजत्व का वर्णन इस प्रकार किया था—"मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे। धान्यषड्भागं पण्यदशभागं हिरण्यं चास्य भागधेयं प्रकल्पयामासुः। तेन भृता राजानः प्रजानां योगक्षेमवहाः तेषां किल्विषमदण्डकरा हरन्ति यो

महान कर्तव्य ही उस पर अंकुश का कार्य करते थे। अन्य किसी पार्थिव शक्ति द्वारा वह कदापि नियंत्रित नहीं था।

१. यही कारण है कि अध्ययनशील विद्यार्थियों, यज्ञ में व्यस्त एवं अन्य धार्मिक कृत्यों में लगे हुए लोगों के पुण्यों का षड्भाग उसे प्राप्त होता था। कालिदास ने भी इस मत का समर्थन किया है किन्तु उनके युग में भौतिक लाभों के इच्छुक तपोवनवासियों से क्या उपज नीवार का षड्भाग माँगना संगत समझते थे। अभिज्ञान शाकुन्तल अंक २, पृ० ३३। नीवार के छट्ठभाअ मे तावसा उवहरन्तु त्ति।

२. अर्थ १।१३, पृ० २२।　　३. वही १।१३, पृ० २२।

(रन्त्ययो ?) योगक्षेमहाश्च प्रजानाम् ।[1] इस प्रकार राजत्व का जन्म मात्स्य-न्याय की स्थिति को दूर करने के लिये हुआ था। मनु यद्यपि सूर्यपुत्र थे, फिर भी प्रजा अथवा जनता द्वारा निर्वाचित थे और अपने कर्तव्य की पूर्ति के लिये उन्हें प्रजा द्वारा धन-धान्य पुरस्कार स्वरूप देने का निश्चय उन्हें दैवी और अनुबन्ध जनित राजत्व का सम्मिलन-स्थल सिद्ध करता है। इस प्रकार कौटिलीय अर्थशास्त्र में राजत्व सम्बन्धी दो चिन्तन परम्पराओं का सम्मिलन हुआ है।

दैवी और सानुबन्ध राजत्व सिद्धान्तों का विकास महाभारत में अधिक स्पष्ट और ग्राह्य प्रतीत होता है। शान्ति पर्व में राजत्व के जन्म के पहिले की अव्य-वस्था के वर्णन उपलब्ध होते हैं। अव्यवस्था को दूर करने के लिये देवताओं ने चिन्तित हो ब्रह्मा से उपाय विचारने की प्रार्थना की थी, जिन्होंने यह कार्य सहर्ष स्वीकार करके वर्गचतुष्टय के वर्णनों से पूर्ण शास्त्र की रचना की थी।[2] तत्पश्चात् योग्य शासक के बारे में पता लगाने के लिये देवता विष्णु के पास गये। विष्णु ने अपने तेज से मानस पुत्र "विरज" का सृजन किया।[3] "विरज" मानवों का प्रथम राजा हुआ। इस प्रकार महाभारत के अनुसार राजत्व दैवी था। इस वर्णन से ज्ञात होता है कि, विरज की वंशपरम्परा में राज्य चलने लगा। अन्यत्र विकासक्रम का वर्णन मिलता है जिसे अनुबन्ध सिद्धान्त का जनक बताया जा सकता है। "विरज परिवार में अत्याचारी राजा" वेन उत्पन्न हुआ जिससे क्रुद्ध होकर ब्रह्मवादी ऋषियों ने उसे मार डाला।[4] वेन की हत्या के साथ ही राजा की दिव्यता और दैवी उत्तराधिकार का सिद्धान्त व्यर्थ हो गया। वेन के शरीर-मंथन से उत्पन्न "पृथु" "वैन्य" ने ब्रह्मवादी ऋषियों से अनुबन्ध किया कि आप जो आज्ञा देंगे उसी का पालन करूँगा।[5] इस प्रकार "पृथु" का राजत्व दैवी न होकर लोक-सम्मत था। यह "वेन" के पश्चात् राज्य एवं राजत्व का पुनर्जन्म था। "पृथु" के राजा होने के पश्चात् अपने तपोबल से भगवान् विष्णु "पृथु" के शरीर में प्रवेश कर गये।[6] इस प्रकार अनुबन्ध जनित द्वितीय राजत्व पुनः दैवी हो गया। देवताओं की भाँति नरदेवता राजा के सम्मुख, जगत् नमन करने लगा।[7] महाभारत ने अनुबन्धजनित राजत्व में भी दिव्यता की स्थापना करके उसे पूर्णरूपेण दैवी बना दिया।

---

१. वही १।१३, पृ० २३।
२. शान्ति ५९।२९–३१।
३. वही ५९। ९४।
४. वही ५९। १००।
५. वही ५९। १०६–०९।
६. वही ५९। १३०।
७. वही ५९। १३०।

मनु[1] और शुक्र[2] ने भी देवांशों के सम्मिलन द्वारा राजत्व की उत्पत्ति का समर्थन किया था ।

यूरोपीय दैवी सिद्धान्त—

दैवी राजत्व सम्बन्धी बार्हस्पत्य सिद्धान्त की वैज्ञानिक एवं तर्क-सम्मत व्याख्या करने के पहले यूरोपीय राज्य-दर्शन में दैवी राजत्व की स्थिति की विवेचना असंगत न होगी। डा० फिजिस के मतानुसार, दैवी राज्याधिकार के सिद्धान्त के चार आवश्यक तत्व हैं। वे हैं:—(१) राजत्व देवताओं द्वारा प्रचारित संस्था है, (२) उत्तराधिकार नियम भंग नहीं किया जा सकता, (३) "राजा केवल भगवान् के प्रति उत्तरदायी है, एवं (४) "अविरोध एवं राजाज्ञा पालन के कर्तव्य देवता द्वारा निर्धारित हैं।[3] इन तर्कों के आधार पर बार्हस्पत्य राज्याधिकार सिद्धान्त की समालोचना आवश्यक है किन्तु दैवी राज्याधिकार के प्रचारक एवं प्रबल समर्थक जेम्स प्रथम के विचारों के उल्लेख के पश्चात् ही दैवी राज्याधिकार के सिद्धान्त की वैज्ञानिक समालोचना सम्भव है। अपनी पुस्तक "दि ट्रू लॉ ऑफ फ्री मॉनर्की" में जेम्स का कथन है कि, "राजा को देवता कहना उचित ही है। क्योंकि वे दैवीशक्ति का पार्थिव प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करते हैं। देवता निर्माण एवं विनाश कार्य करने में समर्थ हैं, अपनी इच्छा के अनुसार निर्माण और अनिर्माण, जीवन प्रदान करने या मृत्यु भेजने, सभी के लिये निर्णय करने एवं स्वयं किसी के प्रति उत्तरदायी न होने (का सामर्थ्य रखते हैं)। राजाओं की शक्तियां भी समान होती हैं। राजा की दुष्टता उन्हें (प्रजा को) कभी यह शक्ति प्रदान नहीं करती कि अपने निर्णायक का निर्णयक बन बैठें। सान्त्वना, सच्ची प्रार्थना एवं अपना उच्च (चारित्रिक) जीवन ही सही मार्ग हैं, जिनके द्वारा वे उस दुःखद अभिशाप से मुक्ति दिलाने

---

१. मनु ७।४–५ । २. शुक्र १।७२ ।

किन्तु अन्यत्र शुक्र (१।३१–३३) राजगुणों का आधार लेकर सत्व, रज और तम वर्गों में राजत्व का वर्गीकरण करते हैं। सत्त्वगुण देवत्व एवं तमोगुण राक्षस वर्ग में राजा का स्थान निर्धारित करते थे।

३. The Nature and Grounds of Political Obligation in Hindu State, p. 40.

The theory of divine right involves, according to Dr. Figgis, four component elements. They are : firstly, that "monarchy is divinely ordained institution;" Secondly, that "hereditary

के लिये देवताओं को बाध्य कर सकते हैं।[1]—यदि राजकुमार ऐसी आज्ञाएं देते हैं जिनका पालन दैवी सिद्धान्त के प्रतिकूल है या प्रकृति के प्रतिकूल है अथवा असम्भव है तो प्रजा उसके लिये बिना किसी प्रकार के विरोध अथवा अवरोध के दण्ड की भागिनी है। इस प्रकार जहाँ प्रत्यक्ष आज्ञापालन सम्भव नहीं, वहाँ परोक्ष ढंग से आज्ञा पालन कर सकती है।[2]

इस प्रकार पश्चात्य दैवी राज्याधिकार का सिद्धान्त राजा की दिव्यता, उसके वंश परम्परागत अधिकार, देवताओं के सदृश उसके कार्यों एवं उसकी आज्ञाओं के पालन को अनिवार्य घोषित करता है। राजाज्ञा के पालन की अक्षमता पर दण्ड सहर्ष स्वीकार कर लेने और उसके विरुद्ध किसी प्रकार के विरोध प्रस्तुत न करने की भावना राजा को सर्वश्रेष्ठ मनुष्य घोषित कर देती थी। यह जानते हुए कि उसकी (राजा की) आज्ञा देवता एवं प्रकृति विरुद्ध तथा असम्भव है, आज्ञा पालन करने के प्रयत्न करना और असमर्थ होने पर दण्ड स्वीकार करने के लिये प्रस्तुत रहना राजा का दैवीकरण पूर्ण कर देता है। अत्याचारी राजा से मुक्ति के लिये विरोध न करके देवता के प्रति प्रार्थना, अपने कार्यों को उन्नत करने को अन्तिम मार्ग बता कर जेम्स ने राजा के दैवीकरण को पूर्ण कर दिया था। जेम्स के लिये निकटभूत का इतिहास उदाहरण था,

---

right is indefeasible," thirdly, that "kings are accountable to God alone," 'and fourthly, that 'nonresistance and passive obedience are enjoined by God."

१. Political Thought in England—From Bacon to Halifax, p. 7.

Extracts of James's work 'True Law of Free Monarchy'.

"Kings are justly called gods; for they exercise a manner of resemblance of divine power on earth. God hath power to create or destroy, make or unmake at His pleasure, to give life or to send death, to judge all and to be accountable to none. And the like power have kings. The wickedness of the king can never make them that are ordained to be judged by him to become his judges. Patience, earnest prayer and amendment of their lives (are) the only lawful means to move God to relieve them of that heavy curse."

२. Ibid p. 9.

"If princes command anything which the subjects may not perform because it is contrary to the laws of God or nature or

जब चार्ल्स प्रथम को निष्ठा त्याग कर कुपित हो प्राणदण्ड दे दिया गया था।[१] प्रजा में शासक के प्रति निष्ठा परमावश्यक हो गयी थी। इसके विपरीत प्राचीन भारत में राजत्व का जन्म, विकास एवं महत्व सभी दैवी कृपा, प्रेरणा एवं प्रजा के सुख-समृद्धि की भावना के लिये माना गया था। अतः राजा के अत्याचारी होने पर दैवी इच्छा का विरोध होता था। उसके अपने कर्तव्य के प्रति निष्ठावान् होने तक ही प्रजा भक्त होती थी। तभी तक वह चराचर का स्वामी, वर्णाश्रमों का नेता एवं देव-निर्मित माना जाता था।[२] विचलित होने पर उसकी दिव्यता समाप्त हो जाती थी। वह "वेन" की भाँति जीवनमुक्त किया जा सकता था।[3]

दैवी राजत्व सिद्धान्त का व्यवहार पक्ष—

बार्हस्पत्य चिन्तन का सिद्धान्त ही नहीं वरन् प्रबल व्यवहार पक्ष भी था। बृहस्पति मानते हैं कि राजा की दिव्यता उसके व्यक्तित्व में नहीं वरन् उसके कर्तव्य में निहित रहती है। दैवी राज्याधिकार के सिद्धान्त को अधिक व्यापक बनाते हुए उनका कथन है कि आवश्यकतानुसार (राजा) अग्नि, आदित्य, अन्तक, वैश्रवण और यम आदि की भाँति कार्य करता है। अनुचित मार्ग पर चलने वालों को जब वह अपने तेज से ग्रस्त करता है, तब वह पावक होता है। अपने चरों द्वारा लोगों के कार्यों का निरीक्षण तथा उनके लिये कल्याणकारी कार्य करते समय (वह) भास्कर होता है। जब अशुचि लोगों पर क्रुद्ध होकर पुत्र, पौत्रों और अमात्यों सहित (उन्हें) नष्ट करता है, अधार्मिकों को तीक्ष्ण दण्ड द्वारा नियंत्रित करता है, और धार्मिकों पर (जब) अनुग्रह करता है तब यम सदृश होता है। जब उपकारियों को धन देता है और अपकारियों का उन्मूलन करता है; किसी को श्री (धन) देता है और किसी

---

impossible; subjects are bound to undergo punishments without either resistance or reviling and so yield a passive obedience where they can not exhibit an active one."

१. History of Europe. p. 277.

High Court of Justice......found the king guilty of treason as defined for this particular occasion. On January 30, 1649 Charles was executed on a scaffold created in front of his palace of White-hall.

२. बृ० स्पृ० व्य० का० १।७–९।

३. शान्ति ५९।१००।

का उच्छेदन करता है, तब वह इस लोक में वैश्रवण कुबेर होता है।[1] बृहस्पति की ही भाँति शुक्र भी उसके विभिन्न कार्यों के अनुरूप राजा की दिव्यता स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि इन्द्र की भाँति राजा धन एवं सम्पत्ति की रक्षा करता है। जिस प्रकार वायु सुगंधि का प्रसार करता है, उसी भाँति राजा अच्छे एवं बुरे कार्यों का कारण होता है। जिस प्रकार सूर्य अन्धकार को समाप्त करता है उसी भाँति राजा धर्म की स्थापना तथा अधर्म का नाश करता है। यम जिस भाँति दण्ड देता है, उसी प्रकार राजा दण्ड्यों को दण्ड देता है। अग्नि की भाँति उत्तमों का शोधक राजा है। जिस प्रकार देवता वरुण प्रत्येक वस्तु में आर्द्रता का सृजन करता है उसी भाँति धन प्रदान करके राजा सब का पालन करता है। जिस प्रकार चन्द्रमा अपनी किरण द्वारा लोगों को आनन्दित करता है उसी भाँति राजा अपने गुणों तथा कार्यों द्वारा लोगों को प्रसन्न करता है। जिस प्रकार कुबेर विश्व के रत्नों का रक्षण करता है। उसी भाँति राजा

---

१. शान्ति ६८।४१–४७।

नहि जात्ववमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति ॥
कुरुते पंच रूपाणि कालयुक्तानि यः सदा।
भवत्यग्निस्तथादित्यो मृत्युर्वैश्रवणो यमः ॥
यदा ह्यासादतः पापान्दयस्युग्रेण तेजसा।
मिथ्योपचरितो राजा तदा भवति पावकः ॥
यदा पश्यति चारेण सर्वभूतानि भूमिपः।
क्षेमं च कृत्वा व्रजति तदाभवति भास्करः ॥
अशुचींश्च यदा क्रुद्धः क्षिणोति शतशो नरान्।
सपुत्रपौत्रान्सामात्यांस्तदा भवतिऽसोन्तकः ॥
यदा त्वधार्मिकान्सर्वांस्तीक्ष्णैर्दण्डैर्नियच्छति।
धार्मिकान् चानुगृह्णाति भवत्यय यमस्तदा ॥
यदा तु धनधाराभिस्तर्पयत्युपकारिणः।
आच्छिनत्ति च रत्नानि विविधान्यपकारिणां ॥
श्रियं ददाति कस्मैचित्कस्माच्चिदपकर्षति।
तदा वैश्रवणो राजन् लोके भवति भूमिपः ॥

होमर युगीन ग्रीस में भी इसी प्रकार देवताओं से राजा को संबद्ध करने की योजनाएँ हो रही थीं।

राज्य के कोश तथा सम्पत्ति की रक्षा करता है। जिस प्रकार समस्त अंशों में किसी की न्यूनता के कारण चन्द्रमा का सौंदर्य कम हो जाता है, उसी भाँति उपर्युक्त आवश्यक अंशों के अभाव में राजा समृद्ध नहीं होता।[1] बृहस्पति राजा के विभिन्न प्रकार या श्रेणियाँ नहीं मानते किन्तु शुक्र ने गुणों के अनुसार राजा का सत्व, रज तथा तम आदि तीन श्रेणियों में वर्गीकरण किया है।[2] बृहस्पति तथा शुक्र दोनों से ही अधिक राजा में व्यावहारिक दिव्यता के दर्शन सोमदेव सूरि ने किये हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि, राजा के अतिरिक्त अन्य कोई प्रत्यक्ष देवता नहीं क्योंकि वह त्रिमूर्ति (ब्रह्मा, विष्णु, शिव) का भौतिक स्वरूप धारण करता है। ब्रह्मचर्य आश्रम में क्षत्रिय ब्रह्मा होता है; तब वह शाश्वत ब्रह्म में अपने चित्त को स्थिर करता है तथा विद्या की समस्त शाखाओं का पूर्ण अध्ययन करता है। जब राज्यश्री एवं अभिषेक के पश्चात् राजा प्रेम-पूर्वक प्रजा पालन करता है, तब वह विष्णु माना जाता है। जब अपने प्रताप द्वारा कण्टक-शोधन करता है और राक्षसों की भाँति के शत्रुओं का संहार करता है, तब सम्राट् पिनाकपाणि (शिव) होता है।[3]

राज्याधिकार का बार्हस्पत्य सिद्धान्त राजा के दिन प्रति दिन के प्रजापालन के प्रयत्नों का दैवीकरण मात्र है। नीरक्षीर विवेकी व्यक्ति को यह स्पष्ट प्रतीत होगा कि, यह सिद्धान्त राजा के व्यक्तित्व की नहीं वरन् राजत्व अथवा राजपद को दिव्यता स्वीकार करता है। यह सिद्धान्त राजा के पद की दिव्यता स्वीकार करता है, उसके व्यक्तित्व अथवा शरीर की नहीं। राजगुण ही उसके पद एवं उसके राजत्व के अन्तर्गत उसके व्यक्तित्व को दिव्यता प्रदान करते हैं। राज-परिवार में जन्ममात्र नहीं। इस सिद्धान्त द्वारा अनुशासित राजा कभी स्वच्छन्द अथवा अत्याचारी नहीं हो सकता। यदि राजा अन्तिम मौर्य सम्राट् बृहद्रथ की भाँति "प्रतिज्ञा दुर्बल" होता है तो उसे अपदस्थ करने में दिव्यता

---

१. शुक्र, १।७२–७७।

२. वही १।२९।

३. नीति अ० २९–१६–१९।

त्रिपुरुषमूर्तित्वान्न भूभुजः प्रत्यक्षं देवमस्ति ॥
प्रतिपन्नप्रथमाश्रमः परे ब्रह्मणि निष्णातमतिरुपासितगुरुकुलः।
सम्यग्विद्यायामधीती कौमारवयोऽलंकुर्वन् क्षत्रपुत्रो भवति ब्रह्मा ॥
संजातराज्यलक्ष्मीदीक्षाभिषेकं स्वगुणैः प्रजास्वनुरागं जनयन्तं राजानं नारायणमाहुः।
प्रवृद्ध-प्रताप तृतीय–लोचनानलः परमैश्वर्यमातिष्ठमानो राष्ट्रकण्टकान्।
द्विषद्दानवान् छेत्तुं यतते विजिगीषुभूपतिर्भवति पिनाकपाणिः ॥

कोई बाधा उपस्थित नहीं करती।[१] वह ब्रिटेन के स्टुअर्ट शासकों की भाँति दिव्यता का दावा नहीं कर सकता।[२]

राजा के प्रति प्रजा में आदरभाव की स्थापना के लिये बृहस्पति कहते हैं कि, मनुष्य समझ कर सद्यःजात राजा की अवमानना न की जाय (क्योंकि), इसके व्यक्तित्व में मनुष्य के रूप में महान् देवता का वास होता है।[३] संभवतः इस कथन से उनका उद्देश्य सुप्रतिष्ठित राजवंश की मर्यादा-स्थापना एवं राजा को महत्त्व प्रदान करने से अधिक कुछ नहीं था। इन सब वर्णनों के विपरीत महाभारतकार राजा के व्यक्तित्व को दैवी घोषित करता है। उसका मत है कि, राजा की उत्पत्ति देवताओं द्वारा हुई। देवों ने राजा की स्थापना की है। इसी कारण कोई उसकी आज्ञा का उल्लंघन नहीं कर सकता। इसी कारण राजा के वश में समस्त जगत् है। तप द्वारा भगवान् विष्णु राजा के शरीर में प्रवेश कर गये थे, तभी से बुद्धिमानों का कथन है कि देव तथा नरदेव (राजा) तुल्य हैं।[४] मनु ने भी इस मत का समर्थन किया है।[५]

ऐतिहासिक दृष्टिकोण—

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से इस विषय का अनुशीलन कम महत्त्वपूर्ण न होगा। विषय का मूल वैदिक वाङ्मय में है। इस सिद्धान्त का बीजवपन यजुर्वेद ने किया था। उसका कथन है कि सविता से आज्ञा प्रसारित करने के लिये, अग्नि से गृहस्थों की रक्षा के लिये, सोम से वनस्पतियों की रक्षा के लिये, बृहस्पति से वाणी के लिये, इन्द्र से ज्येष्ठता के लिये और वरुण से धर्म की रक्षा के लिये राजा शक्ति ग्रहण करता है।[६] अथर्ववेद उसे इन्द्र, सोम, वरुण, मित्र, यम, पितृ तथा सविता का भागस्थ मानता है।[७] शतपथ तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण राज्याभिषेक का विस्तृत वर्णन करते हैं जिसके अनुसार वैधानिक राजत्व प्राप्त करने के पहले

---

१. इण्डियन एण्टिक्वेरी—२ पृ० ३६३, हर्षचरित (अंग्रेजी अनु) पृ० १९३।

२. Political Thought in England, p. 7.

३. शान्ति ६८।४०

नहि जात्ववमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवताह्येषा नररूपेण तिष्ठति॥

४. वही, ५९—१२९—३०, १४०। ५. मनु ७।८।

६. वाजसनेयी संहिता ९—३९, १०—२१, २८।

७. अथर्ववेद १०।५।८—१४।

उसे (राजा को) किसी प्रकार के अधिकार नहीं होते थे ।[१] वह विभिन्न देवी शक्तियों के क्षेत्रों पर शासनाधिकार उन शक्तियों से प्राप्त करता था ।[२] वैदिक वाङ्मय से राजनीतिक तत्त्वों का संकलन, चयन तथा सिद्धान्तीकरण का कार्य बृहस्पति की विशेषता है, जिसके कारण उन्हें राजनीतिक परम्परा को जन्म देने का श्रेय प्रदान किया गया हैं ।

●

---

१. शतपथ ब्राह्मण ३।२।२।१९ ।
तैत्तिरीय ब्राह्मण १।२।१० ।

२. Hindu Polity—p. 224.

With tne actual ovservation of the sacrament of Coronation Oath, it was impossible for a theory of origin other that human to take root in Hindu Politics. Even a usurper, as long as he was a Hindu had to undergo the sacrament of coronation and when he actually took the oath, his old title of force and conquest disappeared.

वाजसनेयी संहिता ९।४० ।

सोमस्य त्वा द्युम्नेनाभिषिचाम्यग्नेर्भ्राजसा सूर्यस्य वर्चसा ।
इन्द्रस्येन्द्रियेण क्षत्राणां क्षत्रपतिरेध्यति दिद्यून् पाहि ॥

उपर्युक्त वर्णनों का समर्थन करते हुए डा० प्रमथनाथ बनर्जी ने अपना मन्तव्य प्रकट किया है—

The king in India was invested with some thing like a divine halo, but it was only a righteous monarch who was regarded as divine. The Hindu king's claim was very different from the divine right-"the right divine to gevern wrong," to use the words of a famous historian—which was claimed by the monarchs of Europe in the latter part of the Middle Ages. Kingship in India was a political office and not the sphere of power of a fortunate individual.........Whatever might be the character of the monarchy on the surface, there is no doubt that at bottom the relations between the ruler and the ruled were contractual. It was in return for the services he rendered to the people that he received their obedience and their contributions for the maintenance of royalty.

Public Administration in Ancient India pp. 71-72.

पृथिवीपति

बार्हस्पत्य राज्य-व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य के समस्त क्रिया-कलापों का जनक, शासकीय शक्ति का स्रोत, स्थावर एवं समस्त चर जगत्[१] का नैतिक स्वामी तथा सामाजिक व्यवहार का नेता राजा होता था।[२] बृहस्पति राज्य-प्रकृतियों में उसे सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं।[३] वह राज्य यान के दो चक्रों में से एक था। उसके अभाव में राज्य का व्यावहारिक सर्वेसर्वा अमात्य, प्रथम चक्र के अभाव में राज्य रूपी यान को गति नहीं दे सकता था।[४] बृहस्पति का सप्तप्रकृति राज्य सिद्धान्त राज्य की मौलिक आवश्यकताओं का सिद्धान्तीकरण मात्र था। वस्तुतः वे राजनीति अथवा अधिक संयत शब्दों में शासन-प्रणाली की राजतंत्रात्मक परम्परा के ही पोषक थे। यही कारण है कि, गणतंत्र परम्पराओं से पूर्णरूप से अवगत होते हुए बृहस्पति सप्तप्रकृति राज्य सिद्धान्त (अथवा राज्य की मौलिक आवश्यकताओं) में राजा (अर्थात् सर्वोच्च शासन-शक्ति के प्रतीक एक व्यक्ति) को महत्व प्रदान करते हैं, अराजक राष्ट्रों की (बहु-सम्मत) शक्ति को नहीं।[५] अर्थशास्त्र की रचना भी उन्होंने अराजक राष्ट्रों की संगठन शक्ति से प्रभावित होकर राजनीति के उन सिद्धान्तों एवं व्यवहारों का शास्त्रीय ढंग से निरूपण करने के लिये की थी जिनके कुशल प्रयोग द्वारा राजा अपनी शक्तिवृद्धि करके अन्तर-राज्य राजनीति में न केवल महत्व प्राप्त कर सकता था, वरन् वह विश्वेश्वर (–सम्राट्) पद प्राप्त करने में समर्थ हो सकता था।[६] कामन्दक ने (८।४–५) बार्हस्पत्य राज्य-प्रकृतियों के वर्णन में शासक के लिये पृथिवीपति विरुद का प्रयोग किया है, अतः उसी विरुद के अनुरूप इस अध्याय का नामकरण उचित होगा।

राजा के विभिन्न विरुद एवं पद :—उत्तर वैदिक युगीन राजनीतिक विचारधारा ने बार्हस्पत्य चिन्तन को विशेष प्रभावित किया था जिसके फलस्वरूप राजा के विभिन्न विरुदों एवं पदों की अतिशय वृद्धि हो गयी थी। सामान्य प्रयोग में बृहस्पति शासक के लिये राजा[७] विरुद का प्रयोग करते हैं। इस शब्द का उन्होंने अनेक स्थलों पर प्रयोग किया है। राजा ;

---

१. बृ० स्मृ० व्य० का० १।७ २. वही० व्य० का० १।९, शान्ति ६८।४०-४७ ;
३. कामन्दकीय ८।४–५ ४. वही० ८।४–५
५. नीति पृष्ठ ५६ ६. बृ० सू० १।७१
७. वही० १।१, बृ० स्मृ० व्य० का० १।५

शब्द की व्युत्पत्ति भी उन्होंने विचित्र ढंग से की है। उनका कथन है कि, चतुरंग-बल की सहायता से प्रजारंजन करने के कारण दीप्यमान् शरीरवाला (व्यक्ति) राजा कहलाता है।[१] उनके इस कथन से राजा के उन कर्तव्यों की ओर संकेत मिलता है जिनका प्रिय नामकरण प्रजारंजन था। डा० काशी प्रसाद जायसवाल ने भी इस प्रश्न का अध्ययन किया था। उनका मत था कि, राजन् शब्द और उसके मूल राट् शब्द का शाब्दिक अर्थ है— शासक। यह लैटिन के रेक्स शब्द से सान्निध्य रखता है। किन्तु हिन्दू राजशास्त्रियों ने इसकी दार्शनिक व्युत्पत्ति की है। राजा इस कारण राजा कहलाता है क्योंकि उसका कर्तव्य है सुशासन द्वारा जनता को प्रसन्न करना (रञ्)।[२] अपने इन्हीं राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा नैतिक कर्तव्यों के सफल निर्वाह द्वारा प्रजा तथा पृथिवी दोनों पर स्वामित्व प्राप्त कर लेता था। राज्य के निर्माण और उसकी स्थिति में प्रजा की ही भाँति पृथिवी का भी महत्वपूर्ण योग होता था। जनपद अथवा भूमि पर राजा के स्वत्व एवं आधिपत्य की घोषणा भूप,[३] भृभृत्,[४] भूपति[५] एवं पृथिवीपति[६] आदि विरुद करते हैं। इनमें प्रथम और द्वितीय विरुद उसके रक्षक एवं भरण करने वाले स्वरूप के द्योतक हैं तथा अन्तिम दोनों अपने कर्तव्यों के सफल पालन के फलस्वरूप उसे मिलने वाले पृथिवी अथवा राज्य के स्वामित्व या पतित्व की द्योतना करते हैं। अपने कर्तव्यों के प्रति सजग रहने वाला राजा महीभुज्[७] या राज्य का उपभोग करने वाला माना जाता था। इसी प्रकार प्रजा पर राजा के स्वामित्त्व को प्रकट करने के लिए बृहस्पति नृपति[८] तथा नृप[९] विरुदों का प्रयोग करते हैं। प्रजा तथा पृथिवी दोनों के शासक के रूप में वह प्रभु[१०] तथा स्वामी[११] विरुद धारण करता था। पाणिनि ने भी राजा के लिये स्वामी[१२] विरुद का प्रयोग किया है। विषय की सम्यक् आलोचना करते हुए डा० वासुदेव-

---

१. बृ० स्मृ० व्य० का० १।६६

बलेन चतुरंगेण यतो रञ्जयते प्रजाः।
दीप्यमानः स्ववपुषा तेन राजाऽभिधीयते॥

२. Hindu Polity. p. 184.

३. बृ० स्मृ० व्य० का० १।२९		४. वही, व्य० का० ३।४७

५. नीति पृ० १२७		६. कामन्दकीय ८।५

७. बृ० स्मृ० व्य० का० १।६२

८. वही० व्य० का० १।२५; बृ० सू० ३।७६

९. वही० व्य० का० १।१८; बृ० सू० १।५४		१०. बृ० सू० १।७१

११. वही ४।३७		१२. पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृ० ३९०।

शरण अग्रवाल का मत है कि, ईश्वर शब्द के सम्बन्ध में यह ध्यान देने योग्य है कि प्राचीन साहित्य में प्रायः वह राजा या पृथिवीपति के लिये प्रयुक्त हुआ है, भगवान् के लिये नहीं।—जिस पुरुष में ऐश्वर्य रहे वह स्वामी कहलाता था (स्वामिन्नैश्वर्ये ५/२/१२६) ईश्वर या राजा की अधिकार शक्ति या वर्चस्व को ऐश्वर्य कहते थे।[1]

जहाँ एक ओर बृहस्पति राजा के कर्तव्यों एवं उनके पालन में उसकी सफलता के अनुरूप राजकीय विरुदों की वृद्धि मानते हैं वहीं दूसरी ओर वे उत्तर वैदिककालीन राजनीतिक परम्परा का भी महत्व स्वीकार करते हैं। ब्राह्मण युग में राजा के सम्मुख सामान्य राजत्व के ही आदर्श नहीं थे, वरन् अन्य राज्यों की विजय द्वारा अपनी राज्यवृद्धि भी अपेक्षित थी। राजा के सम्मुख चक्रवर्ति-एकराट् (–समुद्र पर्यन्त पृथिवी के स्वामित्व का) आदर्श होता था, जिसकी पूर्ति के निमित्त उसे राजनीतिक तथा सांग्रामिक स्तर पर ही प्रयत्न नहीं करने पड़ते थे वरन् उसे विभिन्न यज्ञों की आयोजना भी करनी पड़ती थी।[2] बृहस्पति भी राजा के सम्मुख विश्व-विजय (विश्वेश्वर)[3] का आदर्श प्रस्तुत करते हैं। विश्वेश्वर होने के लिये उसे विजिगीषु[4] अर्थात् विजय का अभिलाषी होना पड़ता था। अपनी सफलता के अनुरूप वह भोज, विराट् तथा सम्राट् आदि विरुद

---

१. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ३८९–९०।

पतंजलि ने कहा है कि, "स्वामी" शब्द में ऐश्वर्य का अर्थ प्रयत्न के कारण नहीं आता वरन् उस शब्द का प्रातिस्विक अर्थ है (नायं प्रत्ययार्थः) ज्ञात होता है कि ऐश्वर्य-सम्पन्न स्वामी आरम्भ में राजा के लिये ही प्रयुक्त होता था। (वही, पृ० ३९०)

२. Political History of Ancient India, pp. 158–59.

It is not easy to decide whether all the terms...referred to essentially different forms of royal authority in the Brāhmanic pericd. But the terms at least, namely, Sāmrājya and Rājya are clearly distinguished from each other by the Śatapatha Brāhmaṇa.

By offering the Rejasuya he becomes Reje and by the Vājapeya he becomes Samrāj.

३. बृ० सू० १।७१।

४. कामन्दकीय ८।४। विजिगीषु शब्द की व्याख्या करते हुए कामन्दक का कथन है कि, अपनी प्रकृतियों से सम्पन्न, उत्साही, परिश्रमी, विजय की निरन्तर कामना करने वाला विजिगीषु माना जाता है (वही, ८।६)

धारण करता था।[१] पाणिनीय प्रयोग में सम्राट् का स्थान निश्चित करते हुए डा० अग्रवाल का मत है कि, सम्राट् शब्द (८।३।२५ मो राजि समःक्वौ) विशिष्ट राजपदवी का सूचक था।[२] महाभारत में सम्राट् को कृत्स्नभाक् कहा गया है, अर्थात् वह शासन प्रणाली जो औरों के स्वत्व या अधिकारों को छीन कर आत्मसात् कर लेती है, एवं साम्राज्य में सम्मिलित होने पर उनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं रह जाता (सम्राज् शब्दो हि कृत्स्नभाक्, सभापर्व १४।२)[३]। बृहस्पति ने ऐतरेय ब्राह्मण के एकराट् आदर्श के स्थान पर अपने शासक के सम्मुख विश्व राज्य के शासक विश्वेश्वर[४] का आदर्श रखा था जो राजा को सदैव कर्मठ एवं क्रियाशील रखता था।

राजा के गुण :—राजतंत्रात्मक शासन-प्रणाली के अन्तर्गत राजा ही समस्त शासन का प्रधान एवं केन्द्रबिन्दु होता था। राज्य की प्रभुशक्ति उसी के अधीन होती थी एवं समस्त प्रशासन चक्र उसी के चतुर्दिक सक्रिय रहता था। एकतंत्र होने के कारण राजा के व्यक्तित्व, उसके गुणों तथा उसकी क्षमता, कर्मठता और उसके वीर्य पर शासन-यंत्र की स्थिति निर्भर करती थी। उत्कर्षशील राज्य के लिये प्रशासक की शक्ति-क्षमता का महत्व और भी अधिक बढ़ जाता था। आन्तरिक शान्ति, प्रशासन कुशलता एवं समृद्धि पर भी राज्य विस्तार के साम्राज्यवादी प्रयत्न निर्भर कर सकते थे। राजा के महत्व से भली भाँति परिचित होने के कारण बृहस्पति राजा में आदर्श व्यक्तित्व के दर्शन करना चाहते थे। यह कार्य इस कारण भी आवश्यक था क्योंकि जिस व्यक्ति पर राज्य तथा समाज दोनों के ही कुशल संचालन का दायित्व हो यदि वह व्यक्ति आदर्श एवं गुणों का सम्मिलन स्थल न होगा तो समाज एवं राज्य आदर्शहीन और क्षणभंगुर हो जायेंगे। अतः राजा का महत्व स्वीकार करते हुए बृहस्पति का कथन है कि राजा राजद्रव्य हो।[५] उन्होंने राजद्रव्य शब्द का पारिभाषिक अर्थों में प्रयोग किया है। इस शब्द की विवेचना करते हुए उनका कथन है कि सर्वगुणोपेत राजा राजद्रव्य कहलाता है।[६] राजा ही समस्त कृत्यों का साधन होता है।[७] प्लेटो ने भी गुणों और ज्ञान का महत्व शासक के व्यक्तित्व के निर्माण के लिये स्वीकार किया है। उनका अनुमान है कि दार्शनिक शासक

१. शान्ति ६८।५४।

२. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ० ३९०। ३. वही, पृ० ३९०।

४. बृ० सू० १।७१। ५. नीति, पृ० ५८।

६. वही पृ० ५८। यः स्यात्सर्वगुणोपेतो राजद्रव्यं तदुच्यते।

७. वही पृ० ५८। सर्वकृत्येषु भूपानां तदर्हं कार्यसाधनम्।

ही राज्य की बुराइयों को समाप्त कर सकता है।[1] वास्तव में प्लेटो के शासक और बृहस्पति के राजद्रव्य में आदर्श व्यक्तित्व के समान रूप से दर्शन होते हैं। बृहस्पति का स्पष्ट मत है कि, गुणवान् व्यक्ति ही शासक रह सकता है।[2] वे सर्वगुणोपेत शासक के निर्माण में तीन गुणों का सम्मिश्रण अनिवार्य मानते हैं। तीन गुण हैं : विद्यागुण (अर्थात् शासक की शैक्षिक योग्यता एवं अनुभव), अर्थगुण (अर्थात् राजकीय व्यय-योजना की पूर्ति के लिये सक्षम कोश) तथा सहायगुण (अर्थात् मंत्रिवर्ग अथवा सहायक प्रशासकीय कर्मचारी संस्था)।[3]

इस स्थल पर शासक के लिये अनिवार्य शैक्षिक योग्यता के वर्णन के साथ-साथ उसे शासन-सूत्र प्रदान करने के लिये अनिवार्य योग्यताओं पर विहंगम दृष्टि डालना अनुचित न होगा।

बार्हस्पत्य युग तक राजतंत्रात्मक शासन-प्राणली लोकमान्य एवं प्राचीन संस्था के रूप में विकसित हो चुकी थी। राजवंश में जन्ममात्र से ही व्यक्ति राजपद का अधिकारी नहीं हो सकता था। इस पद की प्राप्ति के लिये छत्रिय-राजरक्त ही पर्याप्त गुण नहीं माना जाता था वरन् अन्य बहुत सी मान्यताएँ एवं सामाजिक प्रचलन समान रूप से नियंत्रक-शक्ति का कार्य करते थे जिनका राज्याधिकार के निर्धारण में महत्वपूर्ण योग होता था। प्रथम अर्थशास्त्री के रूप में उन परम्पराओं एवं राजनीतिक मान्यताओं का संकलन एवं उनका सिद्धान्तीकरण करके उन्हें राज्यदर्शन के रूप में प्रस्तुत करने का बार्हस्पत्य प्रयत्न श्लाघनीय था।

जाति एवं राजत्व :—बृहस्पति से लगभग दो शती पूर्व धर्मसूत्रकारों ने भारतीय समाज के लिये आदर्श कल्पना प्रस्तुत की थी जिसे वर्णश्रम-धर्म नाम प्रदान किया गया था। वर्णाश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक वर्ण के लिए पृथक् कर्तव्य तालिका प्रस्तुत की गयी थी, जिसके अनुसार शासन एवं राज्य व्यवस्था क्षत्रिय का कार्य था। पृथ्वी "क्ष" थी और उसे त्राण दिलाने वाला क्षत्रिय था। पृथ्वी की रक्षा और उसे भयमुक्त करना क्षत्रिय का कार्य था। आपत्काल को छोड़ किसी भी अवसर पर बृहस्पति विप्र को क्षत्र-वृत्ति ग्रहण करने की मान्यता नहीं प्रदान करते।[4] आपत् काल में क्षत्रवृत्ति ग्रहण करने को मान्यता

---

१. A History of Political Theory pp. 41, 50, 52 and ff.

२. बृ० सू० २।१। गुणवतो राज्यम्।

३. वही २।२। विद्यागुणोऽर्थगुण: सहायगुणाश्च।
अन्यत्र वे इन गुणों की सहायता से उसे आत्मवान् (१।१) मानते हैं।

४. बृ० स्मृ० आपद्धर्म ५।२। अजीवन् कर्मणा स्वेन विप्र: क्षत्रं समाचरेत्

प्रदान करने का संभवतः अभिप्राय रहा होगा कि विदेशी आक्रमणों के अवसर पर विप्र राजा की सहायता के लिये क्षत्रवृत्ति ग्रहण करें अर्थात् योद्धा का कार्य करें। यह एक राष्ट्रीय कर्तव्य के रूप में एवं असामान्य अवस्था के कारण विशेष रूप से आवश्यक रहा होगा। ब्राह्मणों के राजशक्ति ग्रहण करने का प्रश्न नहीं उठता था क्योंकि एक स्थल पर बृहस्पति का कथन है कि, पृथ्वी पावन और उत्तम है। यही कारण है कि प्रजा पापी (-क्षत्रिय) राजा को स्वीकार कर लेती है किन्तु किसी दूसरे (व्यक्ति को अर्थात् दूसरी जाति) के व्यक्ति को (शासन शक्ति) नहीं देना चाहती।[1] उनके इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि उनका राज्य-चिन्तन वर्णाश्रम सम्बन्धी धर्मसूत्रयुगीन भावना से अप्रभावित नहीं रह सका।

पितृपैतामह राज्य :[2]—ऋग्वेद में राजन्य[3] शब्द का प्रयोग निर्विवाद रूप से शासक वर्ग अथवा सामन्त वर्ग की द्योतना करता है। निश्चय ही ऋग्वैदिक युग तक राजपरिवार से सम्बन्धित व्यक्तियों का वर्ग सामाजिक इकाई के रूप में विकसित हो चुका था। अथर्ववेद "राजानः"[4] शब्द का प्रयोग करता है। व्याकरण के आधार पर यह शब्द राजा का बहुवचन होगा अर्थात् अनेकों राजा किन्तु अथर्ववेद में इस शब्द का प्रयोग सूतों एवं ग्रामणियों के साथ हुआ है। अतः यह प्रयोग भी शासकीय परिवार की ही द्योतना करता है। वंशपरम्परा में शासन-व्यवस्था मान्य थी। ऋग्वेद में स्पष्ट वर्णन मिलता है कि सुदास का पिता अथवा पितामह दिवोदास भी राजा था।[5] ब्राह्मण युग में दस पीढ़ियों तक के राज्य का वर्णन मिलता है।[6] शताब्दियों के पश्चात् तृतीय शती ईस्वी पूर्व का ग्रीक दूत मेगस्थनीज भी स्वयंभू, बुध एवं क्रतु के पश्चात् वंशपरम्परागत उत्तराधिकार का वर्णन करता है।[7] बृहस्पति से पहिले वाराणसी के ब्रह्मदत्त

---

१. वही आपद्धर्म ५।२१।

अति पापकृतां राज्ञां प्रतिग्रहणन्ति साधवः।
पृथ्वीं नान्यदिछन्ति पावनं ह्येतदुत्तमम्॥

२. शान्तिपर्व ३७।७। पितृपैतामहं राज्यम्। ३. ऋग्वेद १०।९०।

४. अथर्ववेद ३।५।६–७। ५. Vedic Index Vol. II pp. 466.

६. शतपथ ब्राह्मण १२।९।३।१-३। दशपुरुषं राज्यम्।

७. Ancient India—Megasthenes and Arrian pp. 205,06

But when he (i.e. Dionysos) was leaving India, after having established the new order of things. he appointed, it is said, Spatembas (i. e. Svāyambhuva Manu), one of his companions and the most conversant with Bakkhic matters, to be

एवं कोशल के महाकोशल, प्रसेनजित् एवं विरुद्धक, मगध के बिम्बिसार एवं अजातशत्रु आदि राजाओं के नाम वंशपरम्परागत पितृपैतामह उत्तराधिकार की ओर संकेत करते हैं।[१]

ऐसा प्रतीत होता है कि बृहस्पति से पूर्व निकट अतीत में, वंशपरम्परागत शासन एवं पितृपैतामह राज्य के नियम का भंग नहीं हुआ था। अतः बृहस्पति भी वंशपरम्परागत--पितृपैतामह राजत्व सिद्धान्त के पोषक थे। वे सद्यःजात राजपुत्र में भी भावी राजा के दर्शन करते हुए कहते हैं कि सद्यःजात (बालक) (राजा) भूमिप की अवमानना नहीं करनी चाहिये क्योंकि उसके व्यक्तित्व में महान् देवता निवास करता है।[२] ऐसा प्रतीत होता है कि, सामान्य अवस्था में राजपरिवार का ही व्यक्ति राजा होता था और वह भी राजा का पुत्र ही होता था। उचित उत्तराधिकारी के अभाव में ही निर्वाचन का प्रश्न उठता था। यह अवस्था तब उत्पन्न होती थी जब अन्तिम राजा पुत्रहीन होता या उत्तराधिकारी में कोई दोष होता या राजा की अकाल मृत्यु हो जाती। राजवंश की समाप्ति पर नये शासक का चुनाव अनिवार्य हो जाता था। ऐसी स्थिति में वैदिक परम्पराओं पर आधारित निर्वाचन अथवा अधिक संमत शब्दों में चुनाव पद्धति ही उन्हें भी स्वीकार्य होती।

"पितृपैतामह" शब्द के बार्हस्पत्य प्रयोग से न केवल वंशपरम्परागत राज्य

---

the king of the country. When Spatembas died his son Boudyas (i.e. Budha) succeeded to the sovereignty; the father reigning ovor Indians fifty two years, and the son twenty; the son of the latter, whose name was Kradeuas, duly inherited the kingdom, and thereafter the succession was generally hereditary, but that when a failure of heirs occured in the royal house the Indians elected their sovereigns on the principle of merit.

१. Political Histoiy of Ancient India, pp. 197–204 ; 209.

२. शान्ति ६८।४०; मनु ७।८।

राजत्व के समर्थक और पोषक के रूप में हिन्दू राज्यशास्त्रियों ने राजपद ही नहीं राजा के व्यक्तित्व में भी दिव्यता के दर्शन किये थे। यह कार्य सिद्धान्तपरक न होकर उपयोगितावादी दृष्टिकोण प्रभावित होता है। जहाँ शासन का समस्त भार एक व्यक्ति की योग्यता, क्षमता और उसके गुण वैशिष्ठ्य पर निर्भर करे उसे प्राचीन परम्परा का समर्थन भी प्राप्त हो तो यह स्वाभाविक ही है कि उसके राज्य मे निवास करने वाली प्रजा का दृष्टिकोण उसके प्रति आदरपूर्ण हो। राजत्व की उपादेयता भी इसी मत की ओर ले जाती थी।

के प्रमाण उपलब्ध होते हैं वरन् यह भी स्पष्ट हो जाता है कि राजा का पुत्र ही राजा हो सकता था। राजपरिवार में जन्ममात्र ही सिंहासन प्राप्ति के लिए पर्याप्त योग्यता न थी। व्यक्ति के लिये आवश्यक था कि, वह राजपुत्र भी हो। इस प्रश्न पर महाभारत अधिक तर्क प्रस्तुत करता है। उद्योगपर्व में धृतराष्ट्र का कथन है कि, हे अभागे (मेरे पुत्र दुर्योधन)! तुम राज्य की कामना कैसे करते हो? तुम अराजपुत्र (हो) (और इस कारण) अस्वामि (अर्थात् राजत्व के अधिकारी नहीं) हो (अतः) परस्व-हरण करना चाहते हो?[1] महाभारत के इस वर्णन से स्पष्ट हो जाता है कि पितृपैतामह और अराजपुत्र दोनों शब्द महाभारतयुगीन राजनीतिक शब्दावली के पारिभाषिक शब्द थे, जिनका प्रयोग प्राचीन काल से होता चला आता था। अराजपुत्र शब्द से यह भी ध्वनि निकलती है कि जिसका पिता (किसी कारण) राजत्व न प्राप्त कर सका हो वह अराजपुत्र होगा। अतः वह राज्य का अधिकारी नहीं होगा चाहे उसका पितामह राजा रहा हो। इस सिद्धान्त के अनुसार अंधे होने के कारण धृतराष्ट्र उत्तराधिकार से वंचित हो गये थे, इसी कारण दुर्योधन राज्य का वैधानिक अधिकारी नहीं था।

ज्येष्ठता का सिद्धान्त :—राजा की मृत्यु के पश्चात् उत्तराधिकार के लिये (राजपुत्रों की) गृह-कलह की संभावना को समाप्त करने के लिये बृहस्पति ने ज्येष्ठ पुत्र के अधिकार को मान्यता प्रदान की थी। अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए उनका कथन है कि राज्य (अधिकार), विवाह एवं पिण्डदान आदि अवसरों पर गुणवान् कनिष्ठ लोगों के रहते हुए भी ज्येष्ठ (पुत्र) को ही यह अधिकार मिलना चाहिये।[2] संभवतः बृहस्पति राजा की अकाल मृत्यु के पश्चात् होने वाले गृह-कलह की सम्भावना समाप्त करने के लिये ज्येष्ठ पुत्र के उत्तराधिकार के समर्थक थे। ऋग्वैदिक युग में भी पिता की मृत्यु के बाद

---

१. उद्योगपर्व १४७।३०।

मय्यभागिनि राज्याय कथं त्वं राज्यमिच्छसि।
अराजपुत्रो ह्यस्वामि परस्वं हर्तुमिच्छसि॥

द्वितीय पंक्ति क्रिटिकल एडीशन में उपलब्ध नहीं होती। बंगाल संस्करण में उद्योगपर्व १४९।३० में प्रथम पंक्ति के साथ उपलब्ध होती है।

२. बृ० स्मृ० सं० का० ५१६

राज्यं पुरो विवाहं च सपिण्डीकरणं पितुः
गुणवत्सु कनिष्ठेषु ज्येष्ठ एव समर्हति।

ज्येष्ठ पुत्र ही परिवार का महत्वपूर्ण व्यक्ति माना जाता था।[1] परिवारिक एवं सामाजिक महत्व को राजनीति का समर्थन प्रदान करना बृहस्पति का उद्देश्य था। राजपरिवार में ज्येष्ठ पुत्र के उत्तराधिकार को वैध मान लेने के पश्चात् उत्तराधिकार के प्रश्न पर गृहयुद्ध की सम्भावना नहीं रह जाती थी। ज्येष्ठ पुत्र के राज्याधिकार की अवहेलना तभी सम्भव थी जब उसमें कोई ऐसा दोष होता जिसके कारण उसे उत्तराधिकार से वंचित करना अवैध न होता। बृहस्पति का मत है कि, शौर्य, वीर्य, तप, ज्ञान तथा आचार वर्जित पुत्र मूत्रोचार के सदृश है।[2]

कौटिल्य भी समान्य परिस्थितियों में ज्येष्ठ पुत्र के शासनाधिकार का समर्थन करते हैं किन्तु बृहस्पति की ही भाँति वे भी आत्म-सम्पन्न पुत्र को ही उत्तराधिकारी बनाने का समर्थन करते है।[3] उत्तराधिकार के प्रश्न पर ज्येष्ठ पुत्र का हक स्वीकार करते हुए शुक्र का कथन है कि, उन (राजपुत्रों) में ज्येष्ठ ही राजा हो, शेष सभी (राजपुत्र) कार्य साधक (अर्थात् शासन-यंत्र के संचालन में सहायक) हों।[4]

जहाँ बृहस्पति से लेकर शुक्र पर्यन्त सभी अर्थशास्त्रियों ने ज्येष्ठ पुत्र को उत्तराधिकार के लिये वैधता प्रदान की वहीं उन्होंने विशेष परिस्थितियों में उसे उत्तराधिकार से वंचित भी कर दिया था।[5] ब्राह्मण धर्म के चरमोत्कर्ष काल

---

१. The Vedie Age p. 384

२. बृ० स्मृ० सं० का० ९।

३. अर्थ १।१७ पृ० ३५।

बहूनामेकसंरोधः पिता पुत्रहितो भवेत्
अन्यत्रापद ऐश्वर्यं ज्येष्ठभागी तु पूज्यते।

४. शुक्र १।३४१।

तेषु ज्येष्ठो भवेद्राजा शेषास्तत्कार्य साधकः।
गरीयासोवराः सर्व सहायेभ्योभिवृद्धये।

५. अर्थ ५।६ पृ०, २५६।

राजपुत्रमात्मसम्पन्नं राज्ये स्थापयेत्।

शुक्र २।२ ६५-६६।

तत्पदे तस्य कुलजं गुणयुक्तं पुरोहितः।
प्रकृत्यनुमतिं कृत्वा स्थापयेद्राज्यगुप्तये।

सिंहली उत्तराधिकार का सिद्धान्त राजा की मृत्यु के पश्चात् उसके भाई के उत्तराधिकार की व्यवस्था करता है। उसकी प्रक्रिया का वर्णन करते हुए डा० मेंडिस का कथन है :—

गुप्तयुग में ज्येष्ठता के सिद्धान्त का पालन नहीं किया गया था। समुद्रगुप्त[१] तथा चन्द्रगुप्त द्वितीय[२] पिता द्वारा मनोनीत शासक थे। स्कन्दगुप्त[३] ने अपने बाहुबल से राज्य प्राप्त किया था। संभवतः ये सभी शासक राजा के ज्येष्ठ पुत्र नहीं थे।

चारित्रिक एवं शिक्षा सम्बन्धी योग्यताएँ :—सुमहत् तंत्र[४] राज्य के संवहन के लिये राजा का सच्चरित्र एवं सुयोग्य होना अनिवार्य था। राजा को राजद्रव्य बनाने वाले गुणों में विद्या गुण का प्रथम स्थान था। शास्त्रों के कुशल अध्ययन द्वारा ही युवराज शौर्य, वीर्य, ज्ञान आदि चरित्र निर्माणकारी गुणों से सम्पन्न हो सकता था। बृहस्पति के अनुसार आन्वीक्षिकी से आत्मज्ञान, त्रयी से धर्म-अधर्म, वार्ता से अर्थ-अनर्थ एवं दण्डनीति से नय-अनय का ज्ञान होता है।[५] वे राजा के लिये वार्ता और दण्डनीति का समन्वय उत्तम मानते हैं।[६] बुद्धिमान् व्यक्ति की परिभाषा करते हुए उनका कथन है कि शास्त्रानुरूप बुद्धिवाला व्यक्ति बुद्धिमान् है। शास्त्रबुद्धि-विहीन (राजा) शौर्ययुक्त होने पर भी विनष्ट हो जाता है।[७] इस प्रकार, ज्ञानी राजा ही आत्मवान् हो सकता था।[८]

The Early History of Ceylon, p. 28.

The succession of kings under normal conditions depended also on ideas of inheritence. In the Sinhalese joint families the eldest male was recognised as the chief, and at his death the family possessions were controlled by his brother next in seniority. The Sinhalese royal family followed the same custom, and a king was succeeded first by his brothers and then by his sons.

१. Select Inseriptions—p. 255.
Allahabad Stone Pillar Inscripation of Samudragupta.

२. Ibid. pp. 270–71.

३. Junagarh R. I. of Skandagupta–V, 5, p. 301.
व्यपतेत्य सर्व्वान् मनुजेन्द्रपुत्रांलक्ष्मीः स्वयं यं वरयाँ चकार

४. शान्ति, ५८।२१।

५. नीति पृ० ६१।

आन्वीक्षिक्यामात्मविज्ञानं धर्माधर्मौ त्रतीस्थितौ।
अर्थानर्थौ तु वार्तायां दण्डनीत्यां नयानयौ।

६. अर्थ १।२, पृ० ६।

वार्तादण्डनीतिश्चेति वार्हस्पत्याः।

७. नीति, पृ० ५४।

८. बृ० सू० १।१। आत्मवान् राजा।

बार्हस्पत्य आत्मवान् की ही भाँति कौटिल्य भी आत्म-सम्पन्न[1] राजपुत्र के राजा बनाने के पक्षपाती हैं। कौटिल्य अर्थपूर्ण बचन बोलने में समर्थ, कुशल, प्रतिभासम्पन्न, भाषण करने में समर्थ, स्मृति, बुद्धि, बलसम्पन्न, उन्नत-चित्त, संयमी, हस्ति, अश्व योजना में समर्थ, विपत्ति के अवसर पर शत्रु पर आक्रमण करने में कुशल, उपकार एवं अपकार का प्रत्युत्तर देने में समर्थ, लज्जाशील, बुद्धिमान्, आपत्ति के अवसर पर राज्य प्रकृतियों के विनियोग में समर्थ, दीर्घदर्शी, परिणामदर्शी, देशकाल पुरुषार्थ के कार्यों के सम्पादन में समर्थ, संधि-विग्रह के समय का ज्ञाता, त्यागी, नियमानुकूल कोशवृद्धि-कारक, शत्रु-छिद्रष्टा, अपने आकार को छिपाने की क्षमता वाला, दीनों का उपहास न करने वाला, काम, क्रोध, लोभ, मोह, चापल्य, उपताप, पैशून्य आदि से रहित, प्रिय-भाषी, उत्तम-भाषी, वृद्धों के आचार एवं उपदेश का ज्ञाता होने[2] आदि को आत्मसम्पत् (राजा के गुण) मानते हैं। इस प्रकार कौटिल्य आत्मसम्पत् के अन्तर्गत सभी अनिवार्य राजकीय गुणों का सम्मिलन कर देते हैं। बार्हस्पत्य राजा भी विद्यागुण, अर्थगुण तथा सहायगुणों के सम्मिलन द्वारा सर्वगुणोपेत एवं आत्मवान् हो जाता था।[3]

राजपुत्र की शिक्षा का प्रबंध :—त्रिगुण में प्रथम गुण विद्या गुण था। यह राजपुत्र के चारित्रिक विकास, ज्ञान तथा अनुभव का सम्मिलन होता था। राजत्व प्राप्ति के पूर्व शास्त्र और शस्त्र दोनों का ही ज्ञान समान रूप से महत्वपूर्ण होता था। अध्ययन एवं शास्त्रीय ज्ञान उसे सत्-असत् का ज्ञान कराता था एवं उसे काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, ईर्ष्या आदि षड् रिपुओं से पृथक् रख कर उसके व्यक्तित्व का विकास करता था। शस्त्र का ज्ञान एवं प्रयोग उसे युद्ध काल एवं शान्ति के समयों में शक्तिशाली बनाता एवं उसकी महत्ववृद्धि करता था। वास्तव में यह उसे व्यावहारिक अनुभव प्रदान करता

---

१. अर्थ ५।६, पृ० २५६।

२. वही० ६।१ पृ० २५७--५८।

प्रजाप्रगल्भः स्मृतिमतिबलवानुदग्रः स्ववग्रहः कृतशिल्पो व्यसने दण्ड— नाद्युपकारापकारयोर्दृष्टप्रतीकारी ह्रीमानापत्प्रकृत्योर्विनियोक्ता दीर्घदूरदर्शी देश-कालपुरुषकारकार्यप्रधानस्संधिविक्रमत्यागसंयमपणपरछिद्रविभागी संवृतादीनाभि-हास्यजिह्म भ्रुकुटीक्षणः कामक्रोधलोभस्तंभचापलोपतापपैशुन्यहीनः शक्यस्मितो-दग्राभिभाषी वृद्धोपदेशाचार इत्यात्मसम्पत्।

३. नीति पृ० ५८; बृ० सू० १।१, वही २।२।

था जिसके अभाव में शस्त्र ज्ञान का कुशल प्रयोग नहीं हो सकता ।[१] बृहस्पति के मतानुसार राजत्व प्राप्ति के लिये शारीरिक एवं मानसिक प्रतिभा का विकास एवं सन्तुलन आवश्यक था । अतः राजपुत्र की शिक्षा के प्रबंध की ओर ध्यान देते हुए उनका कथन है कि, पच्चीस वर्ष पर्यन्त उसे अध्ययन एवं क्रीड़ा करनी चाहिये ।[२] संभवतः, बृहस्पति का चिन्तन धर्मसूत्रयुगीन वर्णाश्रम विचारधारा प्रभावित रहा होगा । वर्णाश्रम व्यवस्था के अन्तर्गत पच्चीस वर्ष पर्यन्त विद्यार्थी गुरुकुल में निवास करता तथा अपने गुरु के संरक्षण में रह कर कठोर जीवन-यापन द्वारा अपने चरित्र, ज्ञान एवं प्रज्ञा का विकास करता था ।[३] जातक साहित्य में ऐसे अनेक संदर्भ उपलब्ध होते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि, काशी के राजकुमार अध्ययन एवं ज्ञान के लिये सुदूर उत्तर-पश्चिम में तक्षशिला विश्वविद्यालय में भेजे जाते थे । गुरुकुलों में रहकर अभिमान का भाव समाप्त हो जाता था एवं राजपुत्रों में गुरु के प्रति भक्ति एवं सेवाभाव का संचार होता था ।[४] क्रीड़ा शब्द का बार्हस्पत्य प्रयोग निस्संदेह पारिभाषिक अर्थों में है । क्रीड़ा शब्द का प्रयोग सामान्य मनोरंजन न होकर रोजोचित क्रीड़ा अर्थात् अश्वधावन, रथधावन एवं मृगया-विनोद के लिये हुआ होगा । ऐसा प्रतीत होता है कि, पच्चीस वर्ष की आयु के पूर्व राजपुत्र का राज्याभिषेक उन्हें मान्य नहीं था ।

बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र की रचना का उद्देश्य भी राजा को शासन-प्रबंध विषयक सिद्धान्तों से अवगत कराना था । पच्चीस वर्ष की आयु तक भावी राजा विद्यागुण-सम्पन्न हो सकता था ।

बृहस्पति आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति, चारों विद्याओं का महत्व स्वीकार करते हैं[५] और वेदत्रयी को लोकयात्राविद् का संवरणमात्र मानते हैं ।[६] प्रो० रंगस्वामी आयंगर द्वारा संकलित बृहस्पतिस्मृति में तिथि, वार एवं

---

१. वही पृ० ६१ ।

२. बृ० सू० १।८९ ।

पंचविंशातिवर्ष यावत् क्रीड़ा विद्यां व्यसनात् कुर्यात् ।

३. भारतीय संस्कृति—पृ० १२३ ।

ब्रह्मचर्याश्रम—प्राचीनकाल में मनुष्यों के जीवन के चार विभाग किये गये थे जिन्हें चार आश्रमों में बाँट दिया गया था । यज्ञोपवीत संस्कार के बाद ही बालक को गुरुकुल में जाकर ब्रह्मचर्याश्रम में प्रवेश करना पड़ता था, जहाँ कम से कम पच्चीस वर्ष की अवस्था तक रहना पड़ता था ।

४. Pre Buddhist India, p, 275 and ff.

५. नीति पृ० ३१ ।　　　　६. अर्थ, १।२ पृ० ६ ।

नक्षत्र के गुण दोषों के महत्व को स्वीकार करते हुए उचित नक्षत्रों के अनुरूप अध्येय विषयों का महत्व प्रकट किया गया है। अध्येय विषयों में समस्त वैदिक वाङ्मय, ब्रह्मविद्या, शास्त्रों में ज्योतिष, गणित, सामुद्रिक, शब्दविद्या तथा नक्षत्रविद्या आदि का महत्व स्वीकार किया गया है। राजनीतिपरक साहित्य के अतिरिक्त मैत्र, चौर्य, तथा कितव आदि विद्याओं के साथ-साथ गजाश्वविद्या एवं गजाश्वायुर्वेद का भी महत्व स्वीकार किया गया है।[१] कहना कठिन है कि उपर्युक्त विद्याओं को बृहस्पति ज्ञान की शाखाओं के रूप में स्वीकार करते थे अथवा इन्हें वे राजा के विद्यार्थी जीवन के कार्यक्रम में अध्ययन क्रम के रूप में प्रस्तुत करते थे। सर मोनियर विलियम्स ने भी विद्या शब्द के अर्थ बताते हुए उसके अनेक वर्गीकरणों का उल्लेख किया है।[२] एक राजपुत्र के लिये किन विद्याओं का ज्ञान विशेष महत्वपूर्ण है—प्रश्न प्राचीन भारतीय चिन्तकों के सम्मुख बहुत पहिले उपस्थित हो चुका था। कौटिल्य ने विद्या समुद्देश के अन्तर्गत इस विषय पर पूर्वाचार्यों के मत प्रस्तुत किये हैं। उनके मतानुसार, मनु के अनुयायी (वेद) त्रयी, वार्ता तथा दण्डनीति के समर्थक थे। बृहस्पति के अनुयायी वार्ता एवं दण्डनीति, के समर्थक थे। उशनस् के अनुयायी दण्डनीति को ही पर्याप्त ज्ञान राशि मान लेते थे।[3]

यह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य विषय है कि धर्मसूत्रकारों ने आन्वीक्षिकी पर अधिक बल दिया था।[४] धर्मशास्त्रों और अर्थशास्त्रों के दृष्टिकोण का अन्तर इस विषय में विशेष रूप से स्पष्ट होता है। जहाँ धर्मशास्त्रियों ने निःश्रेयस सिद्धि के उद्देश्य से आन्वीक्षिकी और वेदत्रयी पर विशेष बल दिया था,[५] वहीं लौकिक अभ्युदय के समर्थक अर्थशास्त्रियों ने वार्ता (आर्थिक जीवन के सैद्धान्तिक पक्ष) एवं दण्डनीति पर विशेष बल प्रदान किया था।[६] जहाँ धर्मशास्त्रियों ने धर्मप्रधान चारों विद्याओं का महत्व स्वीकार किया था, वहीं कट्टर अर्थशास्त्री एवं भौतिकतावादी विचार उशनस् ने स्पष्ट शब्दों में केवल

१. बृ० स्मृ० संस्कार का० २२८–२४२।

२. A Sanskrit English Dictionary pp. 966.

३. अर्थ १।२ पृ० ६।

त्रयी वार्तादण्डनीतिश्चेति मानवाः।
वार्ता दण्डनीतिश्चेति बार्हस्पत्याः।
दण्डनीतिरेका विद्येत्यौशनसाः।

४. बौधायन ४।,२।१०।   ५. अर्थ, १।२ पृ० ६।

६. वही।

दण्डनीति को ही प्रशासक के निमित्र एकमात्र महत्वपूर्ण विद्या माना था।[१] राज्य की स्थिति के लिये बृहस्पति ने आर्थिक ढाँचे का महत्व स्वीकार करके वार्ता को राजकुमार के अध्येय विषयों में स्थान प्रदान किया था। वे राजनीति में वेदत्रयी का स्थान नहीं मानते थे। उनके अनुसार यह संवरणमात्र था।[२] बृहस्पति भौतिकतावादी थे। वे धर्मप्रधान राजनीति के समर्थक नहीं थे। वे राजनीति एवं धर्म में सामंजस्य की स्थापना करना भी उचित नहीं मानते थे। भौतिक साधनों से सम्पन्न एवं कुशल शासक द्वारा प्रशासित राज्य उनका आदर्श था। यही कारण है कि उनकी नीति नदी के जल पर निर्भर करने वाले (अदेवमातृक) कृषक की नीति थी। स्वावलम्बन उनकी विशेषता थी; न कि देवता एवं भाग्य (देवमातृक) की नीति जिसका पालन वर्षा पर निर्भर रहने वाला कृषक करता था।[३] उनकी नीति की आलोचना करते हुए यशस्तिलक चम्पू के टीकाकार श्रुतसागर सूरि ने उसे देववाद विरोधी चार्वाक सिद्धान्त माना था।[४] डा० टॉमस द्वारा सम्पादित बृहस्पति सूत्र में औशनसों की भाँति बृहस्पति को भी दण्डनीति को ही एकमात्र विद्या मानने वाला बनाया है।[५] अन्यत्र नीतिवाक्यामृत का टीकाकार बार्हस्पत्य मत का उद्धरण देता है जिसमें कौटिल्य की भाँति आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता एवं दण्डनीति सभी का समान रूप से महत्व स्वीकार किया है।[६] वस्तुतः प्राचीनता एवं प्रामाणिकता के क्षेत्र में कौटिल्य द्वारा उद्धृत वार्ता एवं दण्डनीति के महत्व का समर्थक बार्हस्पत्य मत ही अधिक खरा ठहरता है।

---

१. वही।

२. वही १।२, पृ० ६। संवरणमात्रं हि त्रयी लोकयात्राविद् इति।

३. यशस्तिलक चम्पू० पृ० १३ बृहस्पतिनीतय इवादेवमातृका।

४. वही पृ० १३।

"बृहस्पति नीयत चार्वाक शास्त्राणि दैवादिसर्वज्ञ विशेषं न मन्यन्ते" अन्यत्र स्पष्ट किया गया है। देवमातृका एवं नदी मातृका दो प्रकार की कृषि होती थी। प्रथम प्रकार पर्जन्य अथवा वर्षा पर निर्भर करने वाली कृषि का था जब कि द्वितीय प्रकार स्वावलम्बन द्वारा नदी मार्ग से लाये जाने एवं प्रणालियों द्वारा सिंचित आत्मनिर्भर कृषि का था। बार्हस्पत्य नीति भी आत्मनिर्भरता की नीति थी, न कि चार्वाक की भाँति सर्वत्र लाभ एवं भौतिक उपयोगितावाद की थी। देव को सर्वज्ञ न, मानने वाली एवं देववाद विरोधी नीति में वही अन्तर है जो "अनमौरल" एवं "इम्मौरल" शब्दों में है। उनकी नीति अनमौरल थी, इम्मौरल नहीं।

५. बृ० सू० १।१। ६. नीति, पृ० ६१।

शिक्षा का उद्देश्य कौटिल्य विनय की स्थापना मानते हैं। विनय अथवा अनुशासन के उन्हें दो स्वरूप स्वीकार्य हैं। कृत्रिम एवं प्राकृतिक। उनका विचार है कि क्रिया या शिक्षा "द्रव्य" को ही दी जा सकती है, अद्रव्य को नहीं। शास्त्रों का ज्ञान उन्हीं लोगों को नियंत्रित कर सकता है जिनमें आज्ञा-पालन, सुश्रूषा, ग्रहण, स्मरण, तर्क-निष्कर्ष और विचार सम्बन्धी मानसिक शक्तियाँ हैं किन्तु, उन्हें नियन्त्रित नहीं कर सकता जो उनसे रहित हैं। शास्त्रों का अध्ययन एवं उनके सिद्धान्तों का समुचित पालन विशेषज्ञ शिक्षकों के निरीक्षण में होना चाहिये। शिष्ट लोगों से शास्त्रों, विभागीय अध्यक्षों से वार्ता तथा वक्ता एवं प्रयोक्ता राजनीतिज्ञों से दण्डनीति का ज्ञान प्राप्त करना चाहिये।[1]

यौवराज्य एवं राज्याभिषेक :—राजपुत्रों में भावी राजा या युवराज के महत्व का वर्णन करते हुए डा० प्रथम नाथ बैनर्जी का कथन है कि, यह (सामान्य) प्रथा थी कि भावी राजा युवराज के रूप में प्रशिक्षण प्राप्त करे। निर्धारित आयु प्राप्त कर लेने पर उसका यौवराज्याभिषेक होता था। युवराज के प्रशिक्षण पर विशेष बल दिया जाता था ताकि राजा होने पर अपने कर्तव्यों का भली-भाँति पालन कर सके। विशेष महत्वपूर्ण बात यह थी कि व्यावहारिक अनुभव के निमित्त उसे प्रशासन से सम्बद्ध किया जाता था। युवराज परिषद् का सदस्य होता था। अधिकतर वह प्रान्तीय प्रशासक, प्रादेशिक या सेनापति होता था।[2] उपलब्ध बार्हस्पत्य अंशों में कहीं भी युवराज अथवा राजपुत्रों के अन्तर और उसके संवैधानिक महत्व का वर्णन उपलब्ध नहीं होता। लगभग समसामयिक होने के कारण इस प्रश्न पर पाणिनि की साक्ष्य विशेष महत्वपूर्ण होगी। पाणिनि "राजपुत्र (४-२-३८) और राजकुमार (६-२-५९) आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल के मतानुसार राजकुमार शब्द के दो अर्थ थे (१) बालक राजा (राजा चासौ कुमारश्च), (२) राजा का कुमार पुत्र (राज्ञः कुमारः, राजा च सूत्र का प्रत्युदाहरण) सब राजपुत्रों में महिषी का पुत्र युवराज होता था। जिसे आर्य कुमार कहा जाता था (आर्यश्चासौ कुमारश्च ६-२-५८ आर्यो ब्राह्मण कुमारयोः)। राजकुमार शब्द का अर्थ वह राजा था जिसे परिस्थितिवश कुमार अवस्था में ही राज्य प्राप्त हो

१. अर्थ. १।५ पृ० १०।

क्रिया हि द्रव्यं विनयति नाद्रव्यम्। शुश्रूषाश्रवणग्रहणधारणविज्ञानोहापोहतत्त्वाभिनिविष्टबुद्धिं विद्या विनयति नेतरम्। विद्यानां तु यथास्वमाचार्यप्रामाण्याद्विनयो नियमश्च। वृत्तचौलकर्मा लिपिं सख्यानं चोपयुंजीत। वृत्तोपनयनस्त्रयीमान्वीक्षकीं च शिष्टेभ्यः वार्तामध्यक्षेभ्यः दण्डनीतिं वक्तृप्रयोक्तृभ्यः।

२. Public Administration in Ancient India, p. 89.

गया हो। इस सम्बन्ध में यह ज्ञातव्य है कि यद्यपि कुमारावस्था में वह राज्य का उत्तराधिकारी बन जाता था, किन्तु उसका अभिषेक वयःप्राप्त होने पर ही किया जाता था।[१] एक स्थल पर बृहस्पति भी उसे पच्चीस वर्ष पर्यन्त अध्ययन एवं क्रीड़ा करने की मंत्रणा देते हैं।[२] संभवतः बार्हस्पत्य-परम्परा के अनुसार चौबीस वर्ष की आयु प्राप्त करने के बाद ही राज्याभिषेक (?) आदि संभव था, पहिले नहीं।

अभिषेक सम्बन्धी कर्मकाण्ड एवं उसका संवैधानिक स्वरूप :—बार्हस्पत्य उद्धरणों में अभिषेक सम्बन्धी कर्मकाण्ड का वर्णन उपलब्ध नहीं होता। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर वैदिकयुगीन कर्मकाण्ड पद्धति का संवैधानिक महत्व बृहस्पति के समय तक सर्वमान्य हो चुका था। अतः उस विषय पर अपना मन्तव्य न प्रकट करना ही उन्होंने उचित माना एवं उन वर्णनों की अनावश्यक पुनरावृत्ति नहीं की। डा० काशी प्रसाद जायसवाल ने भी स्वीकार किया है कि, ब्राह्मण (साहित्य के सृजन) युग में राज्याभिषेक विशद्, कर्मकाण्डीय एवं अत्यधिक जटिल हो गया था। विशेष राजकीय संस्कारों की आयोजना की गयी थी किन्तु वे वैदिक युग की सभी संवैधानिक योजनाओं के अनुकूल थे। वास्तव में उसी आधार पर राजप्रतिष्ठा के नियमों का निर्धारण हुआ, और वे सदा के लिये निश्चित हो गये। इस युग के सभी अभिषिक्त हिन्दू राजाओं ने उनका अनुकरण किया, क्योंकि विधान एवं कर्मकाण्ड के कट्टर मत के अनुसार उनके (पालन के) बिना कोई भी (व्यक्ति) राजा नहीं हो सकता था।[३]

ऐतरेय ब्राह्मण राज्याभिषेक को कर्मकाण्डीय पद्धति के वर्णन करता है। उसके अनुसार ऐन्द्रमहाभिषेक के पश्चात् राजा को प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि जिस रात्रि को मेरा जन्म हुआ है एवं जिस रात्रि को मेरी मृत्यु होगी, उसके मध्यवर्ती समय में अर्जित मेरा लोक (सांसारिक स्थिति), सुकृत, आयु, एवं प्रजा (संतति) नष्ट हो जाय यदि मैं आपसे द्रोह करूँ।[४] बृहस्पति भी प्रजा के प्रति अद्रोहपूर्णशासन को वरीयता प्रदान करते हैं।[५] संभवतः उनका अद्रोह शब्द पारिभाषिक अर्थों में रहा हो, जिसे ऐतरेय ब्राह्मण की मान्यता प्राप्त थी। यदि इसे स्वीकार कर लिया जाय तो यह मानने में तनिक भी कठिनाई न होगी कि

१. पाणिनि कालीन भारतवर्ष पृ० ३९६–९७। २. बृ० सू० १।८९।

३. Hindu Polity, p. 192.

४. ऐतरेय ब्राह्मण ३९।१।१५। यां च रात्रीमजायेहं यां च प्रेतास्मि तदुभय-मन्तरेणेष्टापूर्तं मे लोकं सुकृतमायुः प्रजां वृञ्जीथा यदि ते द्रुह्येयमिति।

५. शान्ति २१।१०। अद्रोहणैव भूतानाम्।

बृहस्पति ने भी अभिषेक के समय राजा द्वारा ली गयी शपथ को वैधानिक महत्व प्रदान किया था। बाणभट्ट ने भी अन्तिम मौर्य (सम्राट्) बृहद्रथ की हत्या का उल्लेख करते हुए उसे प्रतिज्ञा दुर्बल बताया था।[1] राजा को अडिग होकर कृषि, क्षेम, शासन एवं पुष्टि अथवा संवर्धन के लिये राजत्व प्रदान किया जाता था।[2] इस कर्तव्य को स्वीकार करके ही वह अद्रोहपूर्ण शासन करने की प्रतिज्ञा करता था। कर्तव्यनिष्ठा तक ही वह शासक रह सकता था। प्रतिज्ञा के पश्चात् वह आसन्दी ग्रहण करता था। इस अवसर पर प्रजा उसकी रक्षक मानी जाती थी। उससे रक्षित राजा प्रशासन संभालता था। सिंहासन प्राप्त करने के बाद वह विभिन्न आकाशीय, अन्तरिक्ष स्थानीय एवं पृथिवी स्थानीय देवताओं से उनके अधिकार क्षेत्रों पर शासन करने का अधिकार मांगता था और उनकी अनुकम्पा पर उनके अधिकार क्षेत्र पर शासन करने का अधिकारी होता था। देवताओं में सोम, अग्नि, इन्द्र आदि देवताओं से वह याचना करता था।[3] बृहस्पति तथा अन्य अर्थशास्त्रियों ने इस नैतिक नियम, जिसके अनुसार मूल रूप से राजा का अधिकार क्षेत्र पृथिवी एवं अन्य दिशाओं में किसी पर नहीं था देवताओं की कृपा एवं अनुकम्पा से शासन करता था, को सिद्धान्त का स्वरूप प्रदान किया एवं राजा के व्यक्तित्व के निर्माण में विभिन्न देवताओं की पृथक् शक्तियों का सम्मिलन माना।[4]

राजा के प्रजारंजन कार्य :—बृहस्पति तथा अन्य प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्रियों

---

१. Indian Antiquary, Vol. II p. 363.

प्रतिज्ञादुर्बलं च बलदर्शनव्यपदेशदर्शितमशेष सैन्यः
सेनानीरनार्यो मौर्यं बृहद्रथं पियेष पुष्पमित्र (पुष्यमित्र)
(हर्षचरित, उच्छवास ६)

२. शतपथ ब्राह्मण ५।२।१।२५।

इयं ते राट्—यंताऽसियमनोध्रुवोऽसि. .धरुणः
कृष्यैत्वा क्षेमाय त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा।

३. वाजसनेयी संहिता ९। ४०, १०। १७—८।

इमं देवा असपत्नꣳसुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्येष्ठाय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय इममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विश एष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानां राजा। ९। ४० सोमस्य त्वा द्युम्नेनाभिषिचाम्यग्नेर्भ्राजसा सूर्यस्य वर्चसेन्द्रस्येन्द्रियेण। क्षत्राणां क्षत्रपतिरेध्यति दियून्पाहि। १०।१७,९।४० [एवं १०।१८ की भाषा एवं मूल एक ही है।]

४. बृ० स्मृ० व्य० का० १।७।

५ बा० व्य०

ने राज्य, राजा तथा प्रजा के सम्बन्धों की राज्यशास्त्रीय ही नहीं वरन् दार्शनिक रूपरेखा भी प्रस्तुत की थी। बृहस्पति स्वीकार करते हैं कि राज्य की उत्पत्ति, मात्स्य-न्याय युग के अनाचार एवं अत्याचार को दूर करके शान्ति, एवं सु-व्यवस्था को जन्म देने तथा उसके परिरक्षण के लिये हुई थी।[१] राज्य के साथ-साथ राजा की उत्पत्ति हुई थी जिसका जन्म इस महान् कर्तव्य के पालन के लिये हुआ था। फलतः वह भारतीय सामाजिक व्यवस्था, वर्णाश्रम का नेता[२] कहलाता था। संस्कृत व्याकरण के अनुसार नेता शब्द "नी" धातु से सिद्ध होता है जिसका अर्थ होता है ले जाना। फलतः नेता का कर्तव्य था आर्य सामाजिक व्यवस्था को गन्तव्य तक पहुँचा देना। इस कर्तव्य पालन के निमित्त अधिक जागरूक रहना पड़ता था, जिसका परिचायक सुशासन होता था जिसके कारण कृषि, वणिक् (कर्म), कुसीद एवं पशुपालन सम्बन्धी वार्ता कार्य होते थे एवं कोई भी अपने कर्तव्य से विचलित नहीं होता था।[३] अतः अपने महान् कर्तव्यों के पारितोषिक के रूप में वह स्थावर-जंगम सभी का स्वामी[४], (पृथिवीपति[५]) होता था।

बृहस्पति राजतंत्र के पोषक होने के साथ-साथ जनतंत्रीय परम्पराओं से भी प्रभावित थे; फलतः वे राजा के पद एवं महत्व के पोषक होने के साथ-साथ उसके राजकीय कर्तव्यों के प्रति भी जागरूक थे। वे राजा के कर्तव्यों की ओर संकेत करने के लिये राजा शब्द की व्युत्पत्ति असामान्य ढंग से धातु परिवर्तन द्वारा, राट् से न करके रञ् (प्रसन्न करना) से करते हैं। उनके मतानुसार राजा शब्द का अर्थ शासनकर्ता न होकर प्रसन्न करने वाला होगा। उनका स्पष्ट कथन है कि, चतुरंग बल (की सहायता) से (सुशासन द्वारा) प्रजा का (मनो) रंजन करने के कारण (वह) राजा कहलाता है।[६] प्रजारंजन का यह कर्तव्य राजा को सदैव अभिषेक के समय की ब्राह्मण की उक्ति, हे राजा ! यह (राज्य) तुम्हारा है—इसके तुम्हीं (नि +) यंता हो—कृषि के लिये, क्षेम के लिये, शासन के लिये एवं समृद्धि के लिये[७], का स्मरण दिलाता था। यही कारण है कि, अराजक युग में वे, कृषि, वाणिज्य एवं कुसीद कर्म का अभाव (अथवा अव्यवस्था) मानते हैं। स्वाभाविक ही है कि, राजशासन में इन वार्ता कार्यों का पुनःप्रचलन होता। कृषि, व्यापार एवं वाणिज्य ही राजकीय कोश वृद्धि के

---

१. वही। व्य० का० १।८–९।
२. वही। व्य० का० १।९।
३. वही व्य० का० १।७।
४. वही व्य० का० १।७।
५. कामन्दकीय ८।५।
६. बृ० स्मृ० व्य० का० १।६६।
७. शतपथ ब्राह्मण ५।२।१।१९।

प्रधान साधन होते थे, अतः उनकी कुशल व्यवस्था एवं समृद्धि की योजनाएं प्रत्येक राजा के लिये महत्वपूर्ण होती थीं।

राजा के कर्तव्य :—राज्य अथवा राजा के कर्तव्यों के विश्लेषण एवं उसके तर्कपूर्ण योग के बारे में इतिहासकारों में तीव्र मतभेद हैं। एक दृष्टि कोण के समर्थकों का मत है कि राज्य उन्हीं कामों में हस्तक्षेप करे जिसे अन्य सामाजिक संस्थाएं नहीं कर सकतीं। इस कथन का तात्पर्य होता है कि राज्य प्रजा अथवा समाज के कार्यों में कम से कम हस्तक्षेप करे बाकी अन्य संस्थाओं को क्रियाशील होने दे। इसके विपरीत, अन्य मत के समर्थक विद्वान् ठीक विपरीत मन्तव्य प्रकट करते हैं। उनका कथन है कि, लोक कल्याणकारी राज्य हो और समाज को गति प्रदान करने के सभी आवश्यक मार्गों को वह प्रशस्त करें। बार्हस्पत्य राज्य-चिन्तन इस विषय पर तृतीय दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है।

बृहस्पति राजा के कर्तव्यों के लिये प्रजापालन एवं प्रजारंजन शब्दों का प्रयोग करते हैं। साधारणतः दोनों ही शब्द पर्यायवाची माने जाते हैं, फिर भी दोनों शब्दों के अर्थों में स्पष्ट अन्तर है। पालन शब्द "पा" धातु से सिद्ध होता है जिसका प्रयोग रक्षा के अर्थों में होता है। इसके विपरीत रंजन शब्द "रञ्" धातु से सिद्ध होता है, जिसका अर्थ होता है प्रसन्न करना। अतः प्रजापालन के अन्तर्गत राजा के उन कर्तव्यों का वर्णन संगत होगा, जिनके अभाव में प्रजा की रक्षा संभव नहीं है। प्रजारंजन शब्द राजा के उन लोककल्याणकारी प्रशासकीय कर्तव्यों का समुच्चय है जिनके द्वारा सुशासन की स्थापना होती है। राजा सुशासन द्वारा ही प्रजा को प्रसन्न कर सकता है। वास्तव में हिन्दू राज्य-शास्त्रियों ने प्रजापालन एवं प्रजारंजन शब्दों को पर्यायवाची बना दिया था। उन्होंने राजा शब्द की उत्पत्ति "राट्" से न मानकर "रञ्" से मानी तो प्रशासन एवं रंजन शब्द पर्याय अर्थों के द्योतक हो गये थे। मूल भेद को मानते हुए राजा के कर्तव्यों का इन दो वर्गों में वर्गीकरण असंगत न होगा।

राजा के प्राथमिक कर्तव्यों में प्रजापालन के कार्य थे। प्रजापालन शब्द की व्याख्या करते हुए बृहस्पति का कथन है कि, प्रजा पालन के तीन प्रकार हैं: परचक्र से, चोर भय से एवं अन्याय मार्गगामी शक्तिशाली बलिन् लोगों से रक्षा करना।[1] वे देश में अपना अधिकार करके दुर्ग निर्माण करने के पश्चात्

---

१. बृ० स्मृ० व्य० का० १।३९।

तत्प्रजापालनं प्रोक्तं त्रिविधं न्यायवेदिभिः।
परचक्राच्चौरभयाद्बलिनोऽन्यायवर्तिनः ॥

उपायों द्वारा शत्रु सैन्य से रक्षा अनिवार्य मानते हैं।[1] परानीक ही नहीं परचक्र भी राज्य के लिये घातक होता था। प्रथम प्रकार सैनिक आक्रमणों का होता था जिनसे रक्षा के लिये शक्ति-शाली चतुरंगिणी सेना रखनी पड़ती थी। परचक्र के अन्तर्गत शत्रु राज्य का आक्रमण ही नहीं उसके षड्यंत्र भी सम्मिलित होते थे जिनसे रक्षा के लिये उपायों के अतिरिक्त चरों का भी प्रयोग करना पड़ता था।[2] ऋग्वेद भी राजा को जन का रक्षक "गोपा" मानता है। शत्रुओं से रक्षा राजा का प्राथमिक कर्तव्य माना जाता था। प्रबल सैन्य संगठन एवं युद्धों की योजनाओं के अतिरिक्त अन्तर राज्य क्षेत्रों में मैत्री सम्बन्धों द्वारा राज्य की स्थिति दृढ़ करनी पड़ती थी।

आन्तरिक क्षेत्रों में भी सैन्य एवं चरों की सहायता से ही शान्ति की स्थापना करनी पड़ती थी। आन्तरिक शान्ति भंग करने वाले चोर और अन्याय मार्गगामी शक्तिशाली लोग होते थे। बल की सहायता से कण्टकोद्धरण एवं न्याय दर्शन द्वारा शक्तिशालियों से शक्तिहीनों की रक्षा राजा के प्राथमिक कर्तव्य थे। यही नहीं, राज्य की उत्पत्ति के पूर्व की मात्स्य-न्याय की स्थिति स्पष्ट रूप से बार्हस्पत्य राजा के सम्मुख न्यायपूर्ण प्रशासन का कर्तव्य प्रस्तुत करती थी।[3] बार्हस्पत्य मतानुसार, राज्य एक नैतिक संस्था के रूप में दैवी प्रेरणा से विकसित हुआ था। मात्स्य-न्याय अथवा पूर्ण अव्यवस्था के कारण सामाजिकता के नियमों का अन्त हो गया था। वर्णाश्रम व्यवस्था के नियम समाप्त हो गये थे। स्त्रियों ने विवाह करना अस्वीकार करना शुरू कर दिया था। आर्थिक क्षेत्रों में कृषि, वाणिज्य एवं कुसीद आदि कार्य समाप्त हो गये थे। परस्पर व्यवहार के क्षेत्र में भृतकों ने काम करना बन्द कर दिया। ऋणी लोगों ने धन लौटना स्वीकार नहीं किया। कोई हिंसा करता, तो कोई कुछ।[4] लोभ-द्वेषाभिभूत लोगों के लिये व्यवहार की आवश्यकता पड़ी।[5] वर्णाश्रम धर्म की स्थापना के

---

१. वही० व्य० का० १।३८।

सम्यङ्निविष्टदेशस्तु कृतदुर्गस्तु शास्त्रतः।
कण्टकोद्धरणे नित्यमातिष्ठेद्बलमुत्तमम्॥

२. वही० व्य० का० १।४०।

परानीकस्तेनभयमुपायैः शमयेन्नृपः।
बलवत्परिभूतानां प्रत्यहं न्यायदर्शनैः॥

३. वही व्य० का० १।४२।

रक्षन् धर्मेण भूतानि राजा वध्यांश्च घातयन्।
यजतेऽहरहर्यज्ञैः सहस्रशतदक्षिणैः॥

४. वही व्य० का० १।१–९। ५. वही व्य० का० १।१।

लिये राजा का निर्माण किया गया था।[1] (लोग) उसके भय से अपने कर्तव्यों का पालन करते थे एवं स्वधर्म अर्थात् अपने वर्ण एवं आश्रम धर्म से विचलित नहीं होते थे। दैवी तेज मात्राओं के सम्मिलन द्वारा राजा का निर्माण हुआ था। देवताओं ने राजा के कर्तव्यों में सामाजिक एवं आर्थिक नैतिकता के ही क्षेत्रों को सम्मिलित नहीं किया था वरन् समस्त चर एवं स्थावर जगत् का स्वामित्व उसे प्रदान किया था।[2] फलतः धार्मिक एवं सांस्कृतिक उन्नति के कर्तव्यों से वह मुक्त नहीं हो सकता था।

शान्ति पर्व में वर्णित बृहस्पति-वसुमना संवाद संक्षेप में राजशासन के गुणों का उल्लेख करता है, जो अप्रत्यक्ष रूप से प्रत्येक शासक के कर्तव्यों का स्वरूप ग्रहण कर लेते थे। "राज-रक्षित शासन में घर के दरवाजे खुले छोड़ कर लोग सो रहते हैं। उन्हें भय कहाँ? यदि राजा धार्मिक होता है तो कोई किसी का अतिक्रमण नहीं सहता। जब राजा रक्षक होता है तो अलंकारों से भूषित स्त्रियाँ पुरुषों के साथ न रहने पर भी मार्ग में निर्भय विचरण करती हैं। राजा रक्षक होता है तो लोग हिंसा नहीं करते। धर्मानुकूल आचरण करते हैं एवं परस्पर एक दूसरे पर अनुग्रह करते हैं। राजा रक्षक होता है तो विविध महायज्ञों का तीनों वर्ण (अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य) यजन करते हैं। विद्यार्थी अध्ययन करते हैं। यह संसार वार्तामूलक है एवं इसे त्रयी की सहायता से धारण किया जाता है। जब राजा रक्षक होता है तो इसकी उचित व्यवस्था होती है। जब राजा अपनी बड़ी सैन्य की सहायता से श्रेष्ठता प्राप्त करता है तो प्रजा प्रसन्न होती है।[3]

---

१. वही व्य० का० १।५—६,९।

२. वही० व्य० का० १।७—८।

३. शान्ति ६८।३०—३६।

विवृत्य हि यथा कामं गृहद्वाराणि शेरते।
मनुष्या रक्षिता राज्ञा समन्तादकुतोभयाः॥
ना क्रुष्टं सहते कश्चित्कुतो हस्तस्य लंघनम्।
यदि राजा मनुष्येषु त्राता भवति धार्मिकः॥
स्त्रियश्चापुरुषा मार्गं सर्वालंकारभूषिताः।
निर्भयाः प्रतिपद्यन्ते यदा रक्षति भूमिपः॥
धर्ममेव प्रपद्यन्ते न हिंसन्ति परस्परम्।
अनुगृह्णन्ति चान्योन्यं यदा रक्षति भूमिपः॥
यजन्ते च त्रयो वर्णा महायज्ञैः पृथग्विधैः।
युक्ताश्चाधीयते शास्त्रं यदा रक्षति भूमिपः॥

अपने इन कर्तव्यों के कुशलपालन के कारण राजा लोगों के अध्ययन, यजन एवं पुण्यों के षड्भाग का अधिकारी होता था।[१]

इन वर्णनों से स्पष्ट हो जाता है कि दैवी राजत्व होने के कारण राज्य की रक्षा एवं सांस्कृतिक उन्नति के प्रयत्न राजा के राजनीतिक ही नहीं वरन् नैतिक अथवा धार्मिक कर्तव्य भी होते थे। फलतः अपने कर्तव्यों के कुशल पालन के द्वारा वह षड्भाग ही नहीं वरन् प्रजा के पुण्यों के भी षड्भाग का अधिकारी होता था।[२] उसके (स्वतः के) पुण्य कर्तव्यों के कुशल सम्पादन पर निर्भर करते थे। दण्डनीयों को दण्ड देने वाला राजा शतसहस्रपुण्यों का अधिकारी होता था।[३] अदण्ड्यों को दण्ड देने वाला एवं दण्ड्यों को दण्ड न देने वाले राजा के अयश की ही वृद्धि नहीं होती थी वरन् वह नरकगामी भी होता था।[४] इस प्रकार बृहस्पति राजत्व ही नहीं राजा के कर्तव्यों का भी दैवीकरण कर देते हैं।

राजा के नैतिक कर्तव्यों में प्रथम कर्तव्य था वर्णाश्रम धर्म की रक्षा, जिसके लिये नेता—राजा का निर्माण किया गया था, उसी के भय से कोई अपने मार्ग से विचलित नहीं होता।[५] राज-शासन के अन्तर्गत कृषि, वाणिज्य, कुसीद तथा पशुपालन आदि की व्यवस्था स्वाभाविक ही थी। धार्मिक कृत्यों में रुचि, यज्ञों के महत्व की स्थापना भी उसके कर्तव्यों में सम्मिलित थी। सामाजिक संस्थाओं, विद्वान् ब्राह्मणों, साहित्यकारों तथा गुरुकुलों को आर्थिक सहायता देना राजा का नैतिक कर्तव्य हो जाता था।

कौटिल्य ने व्रतों के अन्तर्गत राजा के कर्तव्यों का वर्णन किया है। उनके मतानुसार, उत्थान अथवा उत्कर्ष के प्रयत्न, यज्ञ, राजकीय कार्यों का सम्पादन,

---

वार्तामूलो ह्ययं लोकस्त्रय्या वै धार्यते सदा।
तत्सर्वं वर्तते सम्यग्यदा रक्षति भूमिपः॥
यदा राजा धुरं श्रेष्ठामादाय वहति प्रजाः।
महता बलयोगेन तदा लोकः प्रसीदति॥

१. बृ० स्मृ० व्य० का० १।४१।
यदधीते यद्यजते यज्जुहोति यदर्चति।
तस्य षड्भागभाग्राजा सम्यग्भवति रक्षणात्॥

२. वही० व्य० का० १।४१–४२।

३. वही० व्य० का० १।४२, ४९–५०।

४. वही व्य० का० १।७७।

५. वही व्य० का० १।१–१८।

दान, कर्मचारियों की वृत्ति एवं कार्य कुशल दीक्षित (? राजकुमार-युवराज) का अभिषेक करना राजा के कर्तव्य थे ।[1]

आइने अकबरी में वर्णित हिन्दू राजनीतिक परम्परा प्राचीन मत से प्रभावित प्रतीत होती है । अबुल फज़ल का कथन है कि, (हिन्दू राजनीति के अनुसार), उसे (राजा को) अपनी राज्य सीमा के विस्तार के लिये उत्सुक होना चाहिये और अपने राजकीय अधिकारियों के अत्याचारों, चोरों और दुष्टों से रक्षा उन्हें अनुकूल दण्ड देकर करनी चाहिये । अपने से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु के लिये उसे धैर्य धारण करना चाहिये और अपने को हानि पहुँचाने वालों के प्रति दयालु होना चाहिये ।[2]

बार्हस्पत्य राज्य-व्यवस्था के अन्तर्गत राजा की कर्तव्य तालिका और आधुनिक राजनीतिक, शब्दावली के अनुरूप लोक-कल्याणकारी राज्य के प्रशासकीय, न्याय सम्बन्धी एवं सैनिक कर्तव्यों से समता होती थी और राज्यसत्ता का सर्वोच्च रक्षक राजा होता था । राज्य की सीमा दृढ़ता कुशल सीमान्त एवं विदेश नीति का अन्तिम स्रोत वही होता था, यद्यपि विभागीय कार्यवाही के लिये यह विभाग मंत्री के आधीन रहता था । राज्य की शान्ति एवं सुव्यवस्था का दायित्व उस पर सदैव रहता था । राज्य के समस्त पदाधिकारियों की नियुक्ति, पदवृद्धि आदि सभी कार्य उसकी कर्तव्य सीमा में आजाते थे जिन्हें वह प्रत्यक्ष, परोक्ष आदि विभिन्न रूपों से करता था । कार्यकारिणी शक्ति का केन्द्र होने के कारण उसे राज्य की आर्थिक नीति की ओर न केवल सचेत रहना पड़ता था वरन् करों के संकलन की विधि, एवं कुशलता के साथ अत्याचार तथा भ्रष्टाचार से राज्य को बचाना भी उसके कर्तव्य हो जाते थे । राज्य का जन्म एवं उसका अस्तित्व ही अन्याय को दूर करके न्याय की प्रतिष्ठा करने के लिये हुआ था । अतः स्वाभाविक है कि, सदाचार की प्रतिष्ठा, अन्याय का दमन, न्याय को प्रोत्साहन एवं छली और छद्म क्रियावालों से प्रजा की रक्षा राजा का प्रमुख

---

१. अर्थ १।१९, पृ० ३९ ।

राज्ञो हि व्रतमुत्थानं यज्ञः कार्यानुशासनम् ।
दक्षिणावृत्तिसाम्यं च दीक्षितस्याभिषेचनम् ॥

२. Ayeen Akbery-Gladwin, p. 492.

He should be ambitious to extend his dominions, and protect his subjects from the oppressions of his officers, from robbers and other evil doers, proportioning the punishment to the offence. In every thing that concerns himself he should be patient, and forgiving of injuries.

कर्तव्य था[१]। आर्थिक विषयों के न्याय के अवसर पर राजा की उपस्थिति अनिवार्य थी। वह न्याय का महान् वक्ता था एवं उसके निर्णय की अवहेलना सम्भव नहीं। वह न्याय वृक्ष का स्कन्ध एवं शाखाएं था। न्याय उसका यम-व्रत था जिसके सम्मुख पद, महत्व एवं रक्त सम्बन्ध आदि सभी महत्वहीन हो जाते थे। प्रधान न्यायाधीश न्याय करता था किन्तु दण्ड राजा ही दे सकता था।[२] यद्यपि विधि निर्माण प्राचीन भारतीय मनीषियों ने कभी भी राजाधीन नहीं किया फिर भी प्रशासकीय क्षेत्रों में राजाज्ञा का पर्याप्त स्थान रहता रहा होगा।[३] राजा समस्त सैनिक कार्यों में महत्वपूर्ण स्थान रखता था। वह स्वयं युद्ध भूमि पर जाता था एवं शत्रु से युद्ध शान्ति आदि सम्बन्धों का विनिश्चय उसी की आज्ञा से होता था। इन सब कार्यों के अतिरिक्त सामाजिक कर्तव्यों, नैतिक कर्तव्यों के पालन के अवसर पर तथा धर्म के संरक्षक के रूप में राजा राज्य का न केवल आदर्श शासक ही होता था वरन् वह राज्य का संरक्षक एवं वेतन-भोगी कर्मचारी भी होता था। उसका महत्व कर्तव्य पालन तक ही था। कर्तव्यशील राजा प्रजा का श्रद्धा-भाजन एवं दैवी गुणों का मिश्रण होता था। वह देवता एवं मानव का अद्‌भुत सम्मिलन स्थल था। वह दोनों का ही प्रतिनिधि था। नैतिक कर्तव्यों का पालन करने के कारण वह दैवीगुणों से तेजोमय होता था। दिव्यता पद एवं प्रतिष्ठा की थी, व्यक्ति की नहीं।[४]

राजा का कार्यक्रम :—लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर, बृहस्पति ने न केवल राजा के सम्मुख कर्तव्य तालिका ही प्रस्तुत की वरन् उन आदर्शों के कार्यान्वयीकरण के लिये, राजा को सहायता प्रदान करने के लिये उन्होंने राजा के सम्मुख एक सरल एवं सुनियोजित कार्यक्रम प्रस्तुत किया। उनका स्पष्ट आदेश है कि अश्व-नियामक की भांति[५] अपने कार्यक्रम एवं जीवन का नियमन करे।

कार्यक्रम प्रस्तुत करते हुए बृहस्पति समय-सारिणी के कार्य के लिये नाडिका या नालिका पद्धति में समय का विभाजन करते हैं।[६] ऐसा प्रतीत होता है कि सूर्य की छाया के घटने बढ़ने और नालिका द्वारा समय मापन सम्भव था। सूर्य की छाया के घटने बढ़ने का सिद्धान्त वर्षा, बादल एवं रात्रि के समय कठिनाइयाँ उत्पन्न कर देता था, जबकि नालिका का सिद्धान्त स्पष्ट रूप से एक

---

१. बृ० स्मृ० व्य० का० १।१–७०। २. अध्याय १० पृ० २४५–४६।
३. अध्याय १०। पृ० २४५। ४. शान्ति ६८।८–२९।
५. बृ० सू० १।६७–६८। स्वनियमं कुर्यादप्रमादेन। अश्वनियामक इव।
६. वही १।५९–६६।

पात्र से नालिका में पानी के गिरने के समय के अनुसार ऋतु एवं काल से प्रभावित नहीं होता था। उनके मतानुसार दिन रात्रि को ५२ नाडिकाओं में विभक्त किया जाय।[१] सर मोनियर विलियम्स के मतानुसार नाडिका अर्ध मुहूर्त या आधे घंटे का समय होता था।[२] उनका यह मत सम्पूर्ण रात-दिन को ४८ नाडिकाओं में विभक्त करेगा, ५२ में नहीं। बार्हस्पत्य ५२ नाडिकाओं से स्पष्ट हो जाता है कि एक नाडिका २७।६९ मिनट की होती थी। कौटिल्य ने भी नालिका या छाया द्वारा समय मापने को मान्यता प्रदान की है।[३]

वृहस्पति के मतानुसार निद्रा त्याग के पश्चात् राजा को पांच नाडिका इष्ट देवता के जप आदि में व्यतीत करना चाहिये।[४] रात्रि व्यतीत होने पर पाँच नाडिका आस्थान-मण्डप में रहना चाहिये।[५] अन्यत्र उन्होंने ब्राह्मण क्षत्रिय तथा वैश्यों के साथ राजा के मिलने के विधान का वर्णन किया है। वे त्रैवर्ण्य से मिलने के लिये पृथक्-पृथक् नियम निर्धारित करते हैं[६]। उनका स्पष्ट आदेश है कि अगली दस नाडिका विधि एवं व्यवहार में व्यतीत हों[७]। अन्यत्र भी वे वित्तीय विवादों के अवसरों पर राजा की उपस्थिति अनिवार्य मानते हैं।[८] न्याय सभा में राजा अध्यक्षीय आसन ग्रहण करता था।[९] साहस के कार्यों पर वही निर्णय देसकता था।[१०] इस प्रकार दिन के प्रथम भाग में राजा के लिये शासकीय एवं न्याय सम्बन्धी कार्यों का भार वे आवश्यक मानते हैं।

तत्पश्चात् पाँच नाडिका स्नान एवं तीन नाडिका भोजन[११] पाँच नाडिका स्वजनों एवं मित्रों के साथ हास्य क्रीड़ा[१२], दो नाडिका संध्या[१३] तथा सात

---

१. वही १।५८—६६।
२. A Sanskrit English Dictionary M.Monier williams, p.534.
३. अर्थ १।१९, पृ० ३७।
४. बृ० सू० १।५९। पंचनाडिका इष्टदेवताजपादि।
५. वही १।५९। पंचनाडिका यामातीतायामास्थानम्।
६. वही १।६९—७५। ७. वही १।६०। दश नाडिका विधिः।
८. बृ० स्मृ० व्य० का० १।५२।

राजा वृत्तिविवादानां स्वयमेव प्रदर्शनम्।
शास्त्रदृष्टेन मार्गेण स विद्वद्भिः प्रसेव्यते॥

९. वही व्य० का० १।११८। यज्ञे सम्पूज्यते विष्णुर्व्यवहारे महीपतिः।
१०. वही व्य० का० १।९५—९६।
११. बृ० सू० १।६०—६१। पंचनाडिका स्नानम्। त्रिनाडिका भोजनम्।
१२. वही १।६३। पंचनाडिका हास्यक्रीड़ा स्निग्धैः।
१३. वही १।६३। द्विनाडिका संध्या।

नाडिका नृत्य मनोरंजन[1] आदि में व्यतीत करने का बृहस्पति आदेश देते हैं। सात नाडिका भोजन मैथुनादि[2] तथा अन्तिम सात नाडिका निद्रा में व्यतीत करे।[3] इस प्रकार दिन के द्वितीय भाग में राजा अपने सामाजिक जीवन से सम्बन्धित कार्यक्रम रख सकता था।

बृहस्पति ने राजा के सम्मुख बहुत ही सरल कार्यक्रम प्रस्तुत किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि यह कार्यक्रम पूर्ववर्ती राजाओं के समय से चलता आ-रहा होगा, जिसका बृहस्पति ने सिद्धान्तीकरण कर दिया था। कौटिल्य ने अपराह्न में भी राजा के राजकीय कार्यों को मान्यता प्रदान की थी।[4] वे राजा के दैनिक कार्यक्रम का निर्धारण करते हुए कहते हैं कि सुरक्षा के साधनों पर विचार, प्रजा के कष्टों का निराकरण, स्नान भोजन एवं अध्ययन, कोशाध्यक्ष से वित्तीय आँकड़े प्राप्त करना एवं अन्य अधिकारियों से मिलना, परिषद् का सम्मेलन, मनोरंजन अथवा मंत्रणा, गज सेना, अश्व सेना एवं आयुधागार का निरीक्षण, सैनिक समस्याओं पर सेनापति के साथ विचार-विमर्प आदि कार्य दिन में सम्पन्न करने के हैं। रात्रि में चरों से सूचना प्राप्त करना, स्नान, भोजन तथा अध्ययन, निद्रा, राजकीय कार्यों का चिन्तन एवं अनुशीलन, मंत्रियों के साथ मंत्रणा एवं चर सम्प्रेषण तथा धार्मिक कृत्य करने चाहिये।

राजा के लिये आदर्श कार्यक्रम प्रस्तुत करने के बार्हस्पत्य एवं कौटिलीय दोनों ही विधानों के उद्देश्य निश्चित थे जिनसे अनुप्राणित राजा से आशा की जाती थी कि लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर वह कार्य करेगा। कार्यक्रम की सरलता एवं व्यवस्था असंदिग्ध रूप से समसामयिक राजनीतिक अवस्था पर निर्भर करती थी। नवीन राजवंश की स्थापना एवं विषम राजनीतिक अवस्था के कारण कौटिलीय कार्यक्रम में राजनीतिक कार्यों की अधिकता एवं राजा की व्यस्तता स्वाभाविक ही थी।[5] अशोक में तो राजा का आदर्श मूर्तिमान् हो गया था। लोक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर सर्वत्र चरों से

---

१. वही १।६४। सप्तनाडिका नृत्तादयः।

२. वही १।६५। सप्तनाडिका मैथुनभोजनादयः।

३. वही १।६६। सप्तनाडिका सुप्तिः।

४. अर्थ १।१९ पृ० ३७–३८।

५. कामन्दकीय १।५।

एकाकी मंत्रशक्त्या यः शक्त्या शक्तिधरोपमः।
आजहार नृचन्द्राय चन्द्रगुप्ताय मेदिनीम्।

मिलने एवं प्रजा के लिये कार्य करने का उसने निश्चय किया था।[१] इन आदर्शों पर चलता हुआ राजा अपनी योग्यता एवं क्षमता के अनुरूप प्लेटो के दार्शनिक शासक के सन्निकट पहुँच जाता था।[२]

राजा का व्यक्तिगत जीवन :—राज्य के श्रेष्ठ अधिकारी राजा का व्यक्तिगत एवं पारिवारिक जीवन राष्ट्रीय एवं अन्तर राष्ट्रीय क्षेत्रों में राज्य की स्थिति को प्रभावित करता था। अतः राजा के व्यक्तिगत जीवन को सफल बनाने के लिये और राज्य के महत्व की अभिवृद्धि के लिये बृहस्पति राजा की सहायता के लिये आदर्श तालिका प्रस्तुत करते हैं। राजा का वैवाहिक एवं पारिवारिक जीवन भी उसके लिये कम महत्वपूर्ण नहीं होता था। अन्तःपुर की स्त्रियों की संख्या के विषय में बृहस्पति किसी विशेष मत का प्रतिपादन नहीं करते। उनका मत है कि एक देशीया अभिजात-कुलीन, रूपवती स्त्री[३] को राजा अपनी महिषी बनावे। संम्भवतः बहुपत्नित्व को वे षड्यन्त्रों एवं युद्धों का उत्पादक मानते थे।[४] यह असंदिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि ब्राह्मण ग्रन्थ भी महिषी, परिवृत्ति, वावाता, एवं पालागली आदि चार प्रकार की रानियों को मान्यता प्रदान करते थे।[५] व्यावहारिक रूप में रानियों की संख्या कहीं अधिक होती थी। बौद्ध साहित्य वर्णन करता है कि विम्बिसार के ५०० रानियाँ थीं।[६] जिनमें कोसलदेवी, चेल्लणा, वैदेहीवासवी, तथा मद्रदेश की राजकुमारी खेमा के नाम उपलब्ध होते हैं।[७] गुप्त युग तक दाक्षिण्य या बहुपत्नित्व एक परम्परा बन गया था और ब्राह्मण शासक भी दक्षिण होने में गर्व का अनुभव करते थे।[८] बृहस्पति राजा के सम्मुख स्वदार-रति एवं आत्म-सम्पन्न होने का आदर्श प्रस्तुत करते हैं।[९] इसे सम्भवतः वे राजा के ऊपर नैतिक बन्धन के रूप में रखते हैं क्योंकि अन्य स्थल पर उनका स्पष्ट कथन है कि, काशी जनपद की स्त्रियाँ विशेष रूप से सेव्य हैं।[१०] साथ ही साथ उनका यह भी मत है कि अति स्त्री संगत

---

१. प्रियदर्शिप्रशस्तयः गिरनार-शिलालेख छ—पाठभेदाः पृ० १०।
य च किंचि पराक्रमामि अहं किंति भूतानं आनंणं गच्छेयम्।
२. A History of Political Theory, pp. 41, 50, 52 and ff.
३. बृ० सू० १।५१। एकदेशैकरूपिणीमभिजातां स्त्रियं गमयेत्।
४. वही २।६२। यस्य स्वदाररतिः यस्यात्मनेशक्ति तस्य सदृशो न।
५. Political History of Ancient India, p. 162.
६. The Age of Imperial Unity, p. 19. ७. Ibid, p. 19.
८. मालविकाग्निमित्र—अंक ४, श्लोक १४, पृ० १७५।
दाक्षिण्यं नाम बिम्बोष्ठि बैम्बिकानां कुलव्रतम्।
९. बृ० सू० २।६२। १०. वही० ३।६२। मत्तकाशिन्यः सेव्याः।

से अयश की वृद्धि होती है एवं आयु भी क्षीण होती है।[१] उनका यह कथन असन्दिग्ध रूप से मानसिक सन्तुलन, प्रज्ञा एवं आयु तथा स्वास्थ्य सम्बन्धी सभी दृष्टिकोणों से सर्वथा संगत है।

मनोरंजन सम्बन्धी नियमों की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए बृहस्पति का कथन है कि समान वय एवं शीलवाले व्यक्तियों के साथ एकान्त में क्रीड़ा करनी चाहिये।[२] गज एवं अश्वों से सम्बन्धित क्रीड़ा (युद्ध) बाहर नहीं करना चाहिये। और न दो विपरीत प्रकारों के पशुओं का युद्ध ही कराना चाहिये।[३] उनका स्पष्ट कथन है कि मृगया अधिक नहीं करनी चाहिये।[४] द्यूत क्रीड़ा के बारे में बृहस्पति किसी विशेष मत का प्रतिपादन नहीं करते। एक स्थल पर उनका कथन है कि, द्यूत खेलना चाहिये।[५] दूसरे स्थल पर उनका कथन है कि द्यूत नहीं खेलना चाहिये।[६] और तीसरे स्थल पर वे इन समागमों द्वारा दूसरों के दोषों का पता लगाने की मंत्रणा देते हैं।[७] उनका कथन है कि जो लोग द्यूत खेलते हैं, दूसरों के विरोधी एवं अपराधी हैं—मिलने पर एक दूसरे के दोषों को प्रकट करते हैं। विद्या व्यसन एवं परिहास के अवसरों पर भी लोग दूसरे के दोषों को प्रकट करते हैं।[८] संभवतः ये ही अवसर रहते रहे होंगे जब राजा दूसरे के दोषों एवं उनके वास्तविक चरित्र को समझ सकता था।

राजा के महत्व एवं प्रतिष्ठा को दृष्टिगत करके उनका कथन है कि, उसे शृंगार वेश धारण करना चाहिये—मलवेश नहीं।[९] उसे न तो अधिक माल्य, गंध, स्रग् तथा अनुलेप का प्रयोग करना चाहिये और नही विषाद ग्रस्त रहे।[१०] बृहस्पति आसव सेवन को मान्यता प्रदान करते हैं किन्तु अधिक आसव सेवन को नहीं।[११] अन्यत्र उनका कथन है कि, मद्यपान नहीं करना चाहिये।[१२] क्या इसका यह अर्थ माना जाय कि, बृहस्पति आसव एवं मदिरा में अन्तर मानते थे अथवा यह माना जाय कि दोनों में प्रकार का अन्तर था। पुष्ट प्रमाणों के अभाव में कुछ भी कहना संभव नहीं।

राजा की सुरक्षा के प्रबन्ध :—साम्राज्यवादिता की प्रतिद्वन्दिता के अन्तर्गत बृहस्पति ने राजा का विजिगीषु स्वरूप स्वीकार किया था। समकालीन राजनीति

---

१. वही १।३४–३५।
२. वही १।४२।
३. वही १।४२।
४. वही १।३३।
५. वही ३।४५।
६. वही ३।४७।
७. वही १।३६।
८. वही ३।२८।
९. वही १।३२।
१०. वही १।२९।
११. वही ३।५७।
१२. वही १।१६।

के महत्वपूर्ण उन्नायकों में होने के कारण बृहस्पति के राज्य-चिन्तन में न केवल राजा को महिमा प्रदान की गयी वरन् महत्व-वृद्धि के कारण राजा का व्यक्तित्व भी महत्वपूर्ण हो गया। बृहस्पति राजा की सुरक्षा के प्रबंध का आदेश देते हुए कहते हैं कि उसे "नष्ट" अथवा एकान्त उजाड़ स्थान में नहीं ठहरना चाहिये।[1] अपनी सुरक्षा के प्रबंध सदैव करने चाहिये एवं तन्नैमित्तिक कार्य, यश, की स्थिति के लिये बहुमूल्य रत्न भी दे दे।[2] समस्त महत्वपूर्ण कार्य एकान्त में करे।[3] बृहस्पति से कहीं अधिक सतर्कता पूर्वक राज-रक्षा के सिद्धान्तों का निरूपण कौटिल्य ने किया है। वे राजा के आवास, स्नानीय प्रबंध, भोजन, वस्त्रों तथा आभूषणों से सम्बन्धित सावधानी का वर्णन करते हैं। साथ ही साथ शरीर रक्षकों की नियुक्ति एवं विषदाता के स्वरूप का भी उल्लेख करते हैं। निद्रा त्याग के पश्चात् धनुर्धारिणी स्त्रीगण द्वारा रक्षा का वर्णन कौटिल्य करते हैं।[4] राजा के शरीर रक्षकों के विषय में कौटिल्य का मत है कि पितृ-परम्परागत कुलीन, शिक्षित, अनुरक्त, अनुभवी एवं राजस्नेही लोगों को राजा के निकट नियुक्त किया जाय।[5] यही नहीं समाज, यात्रा, प्रवहण अर्थात् उत्सव आदि अवसरों पर राजा की रक्षा के लिये कम से कम दस व्यक्तियों की स्थिति आवश्यक मानते हैं।[6]

राज्य के अधिकारियों के साथ राजा के सम्बन्धों की रूपरेखा :—बृहस्पति ने राज्य को सुमहत्तन्त्र[7] की संज्ञा प्रदान की है। इसके संचालन के लिये राजा को सहायों एवं मंत्रियों की आवश्यकता पड़ती थी क्योंकि न तो समस्त कार्य राजा स्वयं सम्पन्न कर सकता था और न उनका संचालन ही कर सकता था।

---

१. वही १।९६। नष्टे न स्थातव्यम्।

२. वही १।९३, २।५२। शरीरं सर्वदा रक्षेच्च।
सर्वानपि रत्नानि दीयन्तां स्वकार्यजीवयशोरक्षणे।

३. वही १।३७। औषधोपयोगविण्मूत्रविसर्जनक-स्नान-दन्त-धावन-मैथुनोपभोग-दैवतपूजापि रहस्येन।

४. अर्थ १।१९, पृ० ३७—३८, १।२०, पृ० ४१।

५. वही १।२, १ पृ० ४२।
पितृपैतामहं महासंबंधानुबन्धशिक्षितमनुरक्तं कृतकर्माणं जनमासन्नं कुर्वीत।

६. वही १।२१ पृ० ४५।
यात्रा समाजोत्सवप्रवहणानि च दशवर्गिकधिष्ठितानि गच्छेत्।

७. शान्ति ५८।२१। राज्यं हि सुमहत्तंत्रम्।

अतः बृहस्पति का विचार है कि, कुछ कार्य वह स्वयं करे एवं कुछ कार्य दूसरों द्वारा सम्पन्न करावे ।[१] इस प्रकार की प्रत्यक्षा वृत्ति के कारण राजा तथा उसके सहायक अधिकारियों की सम्बन्ध तालिका महत्वपूर्ण ही नहीं अनिवार्य भी हो जाती थी। पुनः बृहस्पति उत्थान अथवा उत्कर्ष-शीलता को राजधर्म का मूल मानते हैं ।[२] राज्य के कुशल संचालन के निमित्त राजा तथा राजकीय पदाधिकारियों के पारस्परिक सम्बन्धों का विनिश्चय परमावश्यक था ।

राज्य के सर्वश्रेष्ठ पदाधिकारी मंत्रिवर्ग के लोग होते थे । ये न केवल राजा के कर्मसचिव अर्थात् उसकी आज्ञाओं को कार्यान्वित ही करते थे वरन् अपने सुमन्त्र (अच्छी नीति) के कारण महत्वपूर्ण भी होते थे। उनका महत्व स्वीकार करते हुए बृहस्पति का कथन है कि, जो राजा मंत्रि (यों से प्रारंभ होने वाले–) पूर्वों की मंत्रणा नहीं मानता उसका शीघ्र नाश हो जाता है ।[३] एक अन्य स्थल पर वे मंत्री और पुरोहित को राजा के माता-पिता के सदृश स्वीकार करते हैं ।[४] वास्तव में बृहस्पति सुमंत्रणा के लिये मंत्री का महत्व स्वीकार करते हैं ।[५] राजा को व्यक्ति का शरीर मानकर, वे, सूक्ष्मालोकी नेत्रों के रूप में मंत्रियों का महत्व स्वीकार करते हैं ।[६] बृहस्पति का मत है कि राजा के जो अधिकारी हों वे सचिवसम्मत हों ।[७] राजा और मंत्रियों के सम्बन्धों का निरूपण करते हुए उनका कथन है कि, राजा न तो सदा मृदु हो और न सदैव तीक्ष्ण । वह (अवसर के अनुरूप) मृदु भी हो तीक्ष्ण भी हो । वसन्त

---

१. वही ५७।२५–२६ ।

सहायान्सततं कुर्याद्राजा भूतिपुरस्कृतः ।
तैस्तुल्यश्च भवेद्भोगैश्च्छतमात्राज्ञयाधिकः ॥
प्रत्यक्षा च परोक्षा च वृत्तिश्चास्यभवेत्सदा ।
एवं कृत्वा नरेन्द्रो हि न खेदमिह विन्दति ॥

२. वही ५८।१३–१४ ।

उत्थानं हि नरेन्द्राणां बृहस्पतिरभाषत ।
राजधर्मस्य यन्मूलं श्लोकांश्चात्र निबोध मे ॥

३. नीति पृ० १०६ ।

यो राजा मंत्रिपूर्वाणां न करोति हितं वचः ।
स शीघ्रं नाशमायाति यथा दुर्योधनो नृपः ॥

४. वही पृ० १।६० । ५. वही० पृ० १३६ ।
६. वही पृ० १३६ । मंत्रिणोऽपि ७. वही पृ० १२७ ।

के अर्क (—सूर्य) की भाँति श्रीमान् हो न शीतल और न घर्मद।[1] हर्षुल राजा की बुराई करते हुए उनका कथन है कि राजा को सदैव क्षमाशील नहीं होना चाहिए क्योंकि क्षमाशील राजा की अवमानना परिजन उसी प्रकार करने लगते हैं, जिस प्रकार पीलवान हाथी पर बैठ कर उस पर हावी होजाता है।[2] इस कथन की व्याख्या करते हुए भीष्म का मत है कि, हर्षुल राजा के सचिव मनमानी करने लगते हैं। राज्य को जर्जर बना देते हैं। "आपके लिये यह दुष्कर (कार्य) है, यह आपकी दुर्विचेष्टा है" आदि राजा से कहते हैं; एवं "यह हमारा मित्र है, हम राज निर्माता हैं" आदि जनता में प्रसिद्ध करते हैं। वे सूत्र में बंधे हुए पक्षी की भाँति (चंगुल में फंसे) राजा के साथ क्रीड़ा करना चाहते हैं।[3] वास्तव में शक्तिहीन शासकों के युग में मंत्रिगण अपने मूल महत्व की ओर इंगित करते एवं शासक के रहते हुए भी वास्तविक शासक हो जाते थे। अथर्ववेद में मंत्री के लिये राजकृत (३।५।६७) शब्द प्रयुक्त हुआ है। पाणिनि भी मंत्रियों की द्योतना के निमित्त राजकृत्वा आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं जिनसे ज्ञात होता है कि उस युग में भी मंत्रिगण सिद्धान्त रूप में तो राज-निर्माता माने ही जाते थे और दुर्बल राजा के राज्य में तो व्यावहारिक रूप में भी वे ही स्वामी बन बैठते थे।[4]

बार्हस्पत्य राजनीति में राजा की वैधानिक तथा व्यावहारिक स्थिति :— बृहस्पति वैधानिकता के नाते राजतंत्र प्रणाली के समर्थक के रूप में राजा को सर्वोच्च शक्तिशाली व्यक्ति के रूप में देखना चाहते हैं। राजतंत्र के अन्तर्गत

---

१. शान्ति ५६।४०।

तस्मान्नैव मृदुर्नित्यं तीक्ष्णो वापि भवेन्नृपः।
वसन्तेऽर्क इव श्रीमान्न शीतो न च घर्मदः॥

२. वही ५६।३९।

क्षममाणं नृपं नित्यं नीचः परिभवेज्जनः।
हस्तियंता गजस्येव शिर एवारुरुक्षति॥

३. वही ५६।५२–५९।

इदं ते दुष्करं राजन्निदं ते दुर्विचेष्टितम्।
इत्येवं सुहृदो नाम ब्रुवन्ति परिषद्गताः॥
जर्जरं चास्य विषयं कुर्वन्ति प्रतिरूपकैः। (५२)
क्रीडितुं तेन चेच्छन्ति ससूत्रेणेव पक्षिणा।
अस्मत्प्रणेयो राजेति लोके चैव वदन्त्युत॥

४. पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृ० ३९१।

राजा का महत्व स्वीकार करते हुए वे उसके व्यक्तिगत गुणों को विशेष महत्व प्रदान करते हैं। आदर्श राजत्व के लिये निर्धारित नियमों का पालन, विद्याओं का अध्ययन, राजनीति की गति का ज्ञान एवं अपने कर्तव्यों के प्रति सचेत रहना उसके लिये अनिवार्य मानते हैं।

आधुनिक शासन प्रणालियों में प्रमुख अमेरिका और इंग्लैंड की व्यवस्थाओं की सर्वोच्च शक्ति, प्रेसिडेंट और आँग्ल राजमुकुट (धारण करने वाले सम्राट् अथवा सम्राज्ञी) की तुलना बार्हस्पत्य राजा से संभव है या नहीं—कठिन प्रश्न है। प्राचीनता और पूर्वी देशों की परम्परा का ध्यान भी आवश्यक है। बृहस्पति सिद्धान्त रूप में राजा को सर्वोच्च शासक मानते हैं। उसी के भय से अविचलित रूप से लोग कर्तव्यों का पालन करते हैं। वह चर-स्थावर समस्त का स्वामी है। राज्य की प्रकृतियों में वह अमात्य से प्रारम्भ होने वाली प्रकृतियों का अन्तिम भाग है और जब वह विजिगीषु के रूप में कार्य करता है तो अमात्य, राष्ट्र, दुर्ग, कोश एवं दण्ड उसके अधीन होते हैं। वही अमात्य की सहायता से शेष प्रकृतियों का सम्मिलन करके राज्य का निर्माण करता है। प्रजा-पालन, कृषि, वाणिज्य, पशुपालन आदि सभी उसके कर्तव्य क्षेत्र में हैं। सैन्य सहायता से परचक्र, चौर भय, एवं अन्यायियों से राष्ट्र की रक्षा उसका प्रमुख कर्तव्य है। न्याय सभा का अध्यक्ष, सेना का नियन्ता राजा ही होता है। ये समस्त कार्य उसे अमेरिका के प्रेसिडेंट की भाँति सर्वशक्तिशाली बना देते हैं। बृहस्पति कर्तव्यपालन में विभिन्न देवताओं से राजा की तुलना करते हुए उसकी दिव्यता घोषित करते हैं।

इसके विपरीत, व्यवहार पक्ष में वे मित्रमिश्र की भाँति राजा को वर्षपर्यन्त अमात्य के अधीन मानते हैं।[१] वे मंत्री और पुरोहित को राजा का माता-पिता स्वीकार करते हैं। राज्य की प्रकृतियों में प्रथम स्थान राजा को नहीं वरान् अमात्य को प्रदान करते हैं। शतपथ ब्राह्मण के लेखक की भाँति राजा के सम्मुख प्रतिज्ञा का स्वरूप वे स्वीकार करते हैं, जिसके अन्तर्गत सुशासन के लिये अपने कर्तव्यों के फलस्वरूप राजा को बलि षड्भाग प्रदान किया जाता था। उसका महत्व अराजक (–मात्स्य-न्याय) की अव्यवस्था को दूर करके वाणिज्य, कृषि, कुसीद, पशुपालन आदि की व्यवस्था करना तथा वर्णाश्रमों का संगठन था। ये कठिन कर्तव्य थे, जिनके पालन के निमित्त उसे राज्य प्रदान किया जाता था, जिनके सफल निर्वाह तक वह सिंहासनासीन रह सकता था, जिनके लिये समय-समय पर मंत्रियों की मंत्रणा आवश्यक थी जिसके अभाव और महत्व न स्वीकार करने पर उसका दुर्योधन की भाँति अन्त निश्चित था।

---

१. वीर मित्रोदय—लक्षण प्रकाश पृ० २०१।

अंग्रेज सम्राट् या साम्राज्ञी की भाँति वह संवैधानिक सर्वोच्च-शक्ति का प्रतीक और राजसत्ता का निष्क्रिय सदस्य ही नहीं था। उसे सम्राट् की भाँति मंत्रियों पर अपने शासन प्रबंध तथा साहाय्य के लिये निर्भर ही नहीं करना पड़ता था। उसे अपने कर्तव्यों का विधिवत् पालन करना पड़ता था। डा० काशी प्रसाद जायसवाल के शब्दों में वह राज्य का ट्रस्टी था। उसका पद एवं महत्व कर्तव्य पालन की अवधि तक था, जिसके विपरीत अवस्था में वह पद विहीन भी हो सकता था। बार्हस्पत्य राजनीति के ये सिद्धान्त समस्त भावी राज्य चिन्तनों को प्रभावित करते रहे।[१]

१. Hindu Polity–p. 342

It would be evident from the above discussion of Mimāṃsā, from the theory of taxation, from the coronation oath, and other points noticed above that the State under Monarchy in the eyes of the Hindu was a Trust.

चतुर्थ अध्याय

मंत्री एवं मंत्रिपरिषद्

बृहस्पति के मतानुसार राजा सुमहत्तन्त्र[1] राज्य का मूल[2] अथवा शासन का केन्द्र विन्दु एवं समस्त स्थावर-जंगम जगत् का स्वामी होता था। फलतः उस पर कार्य भार का आधिक्य रहता था।[3] उसके कर्तव्यों का वर्गीकरण करते हुए वे कहते हैं कि, राजा की "प्रत्यक्षा" एवं "परोक्षा" वृत्ति होनी चाहिये।[4] प्रत्यक्षा से उनका तात्पर्य उस प्रकार के कार्यों से है जिन्हें राजा स्वयं करता था, जबकि, परोक्षावृत्ति के अन्तर्गत वे कार्य परिगणित होते थे जिन्हें राजा अपने सहायक, मंत्रियों, की सहायता से सम्पादित करता था। इस द्विविध कार्य भार के कारण बृहस्पति "भूतिपुरस्कृत" राजा को सतत प्रयत्नों द्वारा सहायों की नियुक्ति करने का आदेश देते हैं।[5] बृहस्पति ही नहीं कौटिल्य, मनु, शुक्र आदि सभी धर्मार्थशास्त्रियों ने समान रूप से मन्त्रियों के संदर्भ में सहायक शब्द का प्रयोग किया है।[6] ये मंत्री वस्तुतः मन्त्रणादाता ही नहीं होते थे वरन् राजा के आदेशों का कार्यान्वीकरण भी इन्हीं के हाथों सम्पन्न होता था। यह विचार अमरकोशकार को भी मान्य है जो उन्हें धीसचिव (अर्थात् मंत्रणादाता) एवं कर्मसचिव (कार्य सम्पादक) वर्गों में विभक्त करता है।[7] साहाय्य शब्द "सहाय" शब्द से सिद्ध होगा। दार्शनिक तत्व के अनुसार इसकी विपरीतावस्था असहाय की होगी, जिस स्थिति में राजा किंकर्तव्य-विमूढ़ हो जाता था। बृहस्पति गुणवान् राजा के समर्थक थे। उसमें गुणों की स्थापना करना उनका उद्देश्य था। वे मानते थे कि उसे गुणवान् बनाने के श्रेय का तृतीयांश "सहाय"

---

१. शान्ति ५८।२१। २. वही ६८।८।

३. बृ० स्मृ० व्य० का० १।७।

४. शान्ति ५७।२६।

प्रत्यक्षा च परोक्षा च वृत्तिश्चास्य भवेत्सदा।
एवं कृत्वा नरेन्द्रो हि न खेदमिह विन्दति॥

५. वही ५७।२५। सहायान् सततं कुर्याद्राजा भूतिपुरस्कृतः।

६. अर्थ १।७, पृ० १३; मनु ७।५५; शुक्र २।१।

७. अमरकोश १।८-४। मंत्री धीसचिवोऽमात्योऽन्ये कर्मसचिवास्ततः।

गुण" को प्राप्त होना चाहिये ।[१] इसी परम्परा के अनुयायी होने के नाते कौटिल्य ने भी माना था कि "राजत्व सहाय-साध्य" है, जिस प्रकार एक चक्र से यान को (अन्य चक्र के अभाव में) गति नहीं मिल सकती उसी भाँति सहायों के अभाव में राजा शासन का वहन नहीं कर सकता ।[२] अतः उनका मत है कि, सचिवों की नियुक्ति करनी चाहिये एवं उनके मत को सुनना चाहिये ।[३] मनु सरल कार्य को भी एकाकी व्यक्ति के लिये सम्भव नहीं मानते, फिर उनका विचार है कि, महान् सम्पत्तियों के जनक राज्य (का वहन) असहाय (राजा कैसे कर सकता है ?) ।[४] एक पग आगे बढ़कर शुक्र का कथन है कि (यदि राजा को एकाकी शासन चलाना सम्भव जान पड़े तब भी) सर्व विद्या कुशल एवं सुमंत्र का ज्ञाता राजा मंत्रियों की मंत्रणा के बिना कोई कार्य न करे ।[५]

राज्य-प्रकृतियों में अमात्य-मंत्री—शासक यंत्र के वहन एवं राज्य के कार्य संचालन के लिये ही मंत्रियों की आवश्यकता नहीं होती थी, वरन् राज्य को एक, सशक्त, सजीव राज्य-पुरुष मानकर उसकी क्रियात्मकता एवं शक्ति विभाजन के वैधानिक सिद्धान्त के अनुसार भी बार्हस्पत्य राज्य-चिन्तन में राजा के पश्चात् अमात्य को सर्व प्रथम स्थान प्रदान किया गया है ।[६] जैसा कि, प्रथम अध्याय में ही स्पष्ट किया जा चुका है, बार्हस्पत्य "सप्तप्रकृति राज्य" परिभाषा के अनुसार राज्य रूपी यान के अमात्य एवं राजा दो चक्र थे । शेष सभी यान—अंग थे । इन दोनों चक्रों में किसकी गुरुता अधिक मानी जाय, सहज प्रश्न नहीं है क्योंकि कौटिल्य ने बहुत पहिले ही स्वीकार किया था कि एक का भी अभाव यान को गतिहीन बना देता था । अतः राजा की ही भाँति मंत्री समान रूप से महत्वपूर्ण होता था । मित्र-मिश्र ने लक्षण प्रकाश में राजलक्षण के उद्धरण प्रस्तुत किये हैं जिनमें मंत्रिवर्ग का विशेष महत्त्व स्वीकार किया गया है और कहा गया है कि, राजा संवत्सर पर्यन्त मंत्री के अधीन होता है और मंत्री उसके सब कार्य करता है ।[७] राजलक्षण का यह पाठ अधिक उचित नहीं जान पड़ता है क्योंकि इसका यह अर्थ होगा कि वैधानिकता के नाते सम्पूर्ण शासन-यंत्र का केन्द्र राजा होता था

---

१. बृ० सू० २।१-२ । २. अर्थ १।७, पृ० १३ । ३. वही ।

४. मनु ७।५५ । अपि यत्सुकरं कर्म तदप्येकेन दुष्करम् ।
विशेषतोऽसहायेन किमु राज्यं महोदयम् ॥

५. शुक्र २।२ । सर्वविद्यासु कुशलो नृपोह्यपि सुमंत्रवित् ।
मंत्रिभिस्तु विना मंत्रं नैकोर्थं चिन्तयेत्क्वचित् ॥

६. कामन्दकीय ८।४ । ७. लक्षण प्रकाश पृ० २०१ ।

किन्तु व्यावहारिकता में वह मंत्री की मंत्रणा पर ही निर्भर रहा करता था। सम्भवतः "मंत्रीसांवत्सरिकयोराधीनः" मूल पाठ रहा होगा। अन्यत्र बृहस्पति भी मंत्री तथा पुरोहित को, राजा का माता पिता मानते हैं।[1] सांवत्सरिक पाठ ज्योतिर्विदों के महत्व का समर्थक प्रतीत होता है।[2]

बौद्ध भारत के जन्म के साथ जहाँ प्राचीन भारतीय इतिहास के अव्यवस्थित युग की समाप्ति हुई एवं राजनीतिक क्रमिक इतिहास, राज्य प्रशासन के शास्त्रीय-पक्ष एवं व्यवहारपक्ष का उदय हुआ वहीं उत्तर वैदिक युगीन सशक्त राजतंत्र के पक्ष के युग की समाप्ति हुई और मर्यादित राजशासन और मन्त्रिमण्डलीय राजतंत्र का उदय हुआ। मंत्रियों के महत्व का समर्थन भारद्वाज ने सबल शब्दों में इस प्रकार किया था—स्वामी और अमात्य जब दोनों ही व्यसन ग्रस्त हों तो अमात्य-व्यसन अधिक भयंकर है क्योंकि कार्य का विचार, उसके फलाफल की प्राप्ति का विचार, निर्धारित कार्यों का सम्पादन, आय एवं व्यय की व्यवस्था, शत्रु और आटविकों का निराकरण, अपने राज्य की रक्षा, विपत्तियों का प्रतीकार, राजकुमारों की रक्षा और उनका अभिषेक आदि कार्य अमात्यों पर ही निर्भर करते हैं। अतः उनका व्यसन ग्रस्त होना अधिक भयंकर है। अमात्यों के अभाव में ये सभी कार्य नष्ट हो जाते हैं और पक्ष विहीन पक्षी की भाँति (दुर्दशा-ग्रस्त) राजा के सभी कार्यों का नाश हो जाता है। (उनके) व्यसन ग्रस्त होने पर शत्रु अपने जाल बिछाने लगता है। अमात्यों के विपरीत हो जाने पर राजा के प्राणों का भय उपस्थित हो जाता है। आमात्य ही राजा के सर्वोत्तम रक्षक होने के कारण उसके प्राणों के समान होते हैं।[3] पाणिनि ने भी राजा और मंत्री के सम्बन्धों की विवेचना के लिये "ब्राह्मणमिश्रो राजा" (६।२।५८) आदि शब्दों का व्यवहार किया है।[4]

इह राजलक्षणे—मंत्रिसांवत्सराधीनः ।
इत्यनेन राज्ञा मन्त्र्यधीनेन भवितव्यम् ।
स राज्ञः सर्व कार्याणि कुयाद्भृगुकुलोद्वहः ।
इति वचनेन च मंत्री राज्ञः सर्वकर्माणि कुर्यादित्युक्तम् ।

१. नीति पृ० १६० ।   २. बृ० स्मृ० व्य० का० १।२५ ।

३. अर्थ ८।१, पृ० ३२२ ।

नेति भारद्वाजः। स्वाम्यमात्यव्यसनयोरमात्यव्यसनं गरीयः इति। मंत्रो मंत्रफलावाप्तिः कर्मानुष्ठानमायव्ययकर्मदण्डाप्रणयनममित्राटवीप्रतिषेधः राज्य-रक्षणं व्यसनप्रतोकारः कुमाररक्षणमभिषेकश्च कुमाराणामायत्तममात्येषु। तेषां अभावे तदभावश्छिन्नपक्षस्येव राज्ञश्चेष्टानाशो व्यसनेषु चासन्नाः परोपजापाः। वैगुण्ये च प्राणबाधः प्राणान्तिकश्चरत्वाद्राज्ञ इति ।

४. पाणिनि कालीन भारतवर्ष पृ० ३९१ ।

स्वामी एवं अमात्य ही राज्य प्रकृतियों में विशेष उल्लेखनीय थे। दोनों का सहयोग आवश्यक था क्योंकि दोनों ही एक दूसरे के पूरक थे—अमात्य की अनुपस्थिति में राजा द्वारा निश्चित नीति अपूर्ण एवं कार्यान्वित हुए बिना ही रह जाती। अमात्य केवल अपने पद का ही नहीं वरन् समस्त सचिव वर्ग का द्योतक था। आधुनिक मंत्रि-मण्डलीय शासन प्रणाली केवल वैधानिकता एवं परम्परा के नाते राष्ट्रपति अथवा राजा की सत्ता स्वीकार करती है—जिसका कार्य, वैधानिक रूप में सर्वशक्ति-मान् होते हुए भी अपनी शक्तियों का उपयोग न करके मंत्रिमण्डल को वास्त-विक शक्ति प्रदान करना था, जिसका केन्द्र अथवा प्रतीक प्रधान मंत्री होता था और बाह्य जगत् के सम्मुख समस्त पत्र एवं प्रपत्र उसी की अनुज्ञा से प्रसा-रित होते थे।[१]

कौटिल्य सर्वशक्तिमान् सम्राट् के समर्थक होने के नाते इससे सहमत नहीं। उनका कथन है कि, (भारद्वाज का मत) ठीक नहीं है। मंत्रिपुरोहित आदि भृत्य वर्ग तथा सम्पूर्ण विभागों के अध्यक्षों के कार्यक्रमों और पुरुष प्रकृति (अर्थात् आमत्य एवं सेना पर आयी हुई विपत्ति) एवं द्रव्य प्रकृति (अर्थात् जनपद, कोश और दुर्ग) पर आयी हुई विपत्तियों का प्रतीकार तथा उनकी उन्नति राजा स्वयं ही कर सकता है। अमात्यों पर यदि विपत्ति आपड़ी है, तो उनके स्थान पर दूसरे अमात्यों को नियुक्त कर सकता है। राजा ही पूज्य व्यक्तियों के सत्कार एवं दुष्ट व्यक्तियों के निग्रह में तत्पर रहता है। राजा राजसम्पत् युक्त होने पर अमात्य आदि प्रकृतियों को भी गुण संपन्न वना सकता है। राजा का जैसा स्वभाव होगा अन्य प्रकृतियाँ भी उसी प्रकार की बन जाती हैं। उनका उत्थान एवं पतन राजाधीन ही रहता है। स्वामी ही समस्त प्रकृतियों

---

१. Parliamentary Government in England pp. 221, 228–29, 239–40. The real function of the Cabinet is to govern the country in the name of the party···It provides parliament with the policy upon which decisions are to be made. It pushes a stream of tendency through affairs by obtaining for its course the approval of the Sovereign organ of the State.

The key stone of the Cabinet arch is the Prime Minister. He is central to its formation, central to its life, and central to its death.

He has a decisive voice in all important-Crown appointments. He has to keep a general eye on all departments, in particular that of foreign affairs and to act as a coordinator of policy.

में कूटस्थानीय होता है।[१] कौटिल्य के इस कथन के विपरीत मुद्राराक्षस को प्रस्तुत किया जा सकता है, जिसमें प्रधान मंत्री के अभाव में राजा को निरीह माना गया है। चाणक्य की मंत्रता के बिना लघु अथवा महान् किसी भी कार्य का प्रारंभ राजा नहीं करता। मंत्री के प्रति चन्द्रगुप्त का इतना आदर है कि जब दोनों में भेंट होती है तो चन्द्रगुप्त चाणक्य के चरणस्पर्श करता है।[२] मुख्यतः प्रधान मंत्री ही देश के सुशासन के निमित्त उत्तरदायी होता था। डा० प्रमथनाथ बनर्जी का मत है कि, जब राजा विशेष रूप से क्षमता सम्पन्न नहीं होता था, प्रधान मंत्री ही राज्य का वास्तविक शासक होता था।[३] प्रधान मंत्री की शक्ति के समर्थक के रूप में भारद्वाज का कथन है कि अमात्य के अभाव में राजा पक्ष विहीन पक्षी की भाँति किसी भी कार्य के अक्षम होता था।[४] बृहस्पति भी मंत्री–पुरोहित को राजा का माता-पिता स्वीकार करते हैं।[५] पाणिनि मंत्रिपरिषद् के मन्त्र को ही राजा का बल या शक्ति मानते हैं (परिषद्बलो राजा, रजः कृष्यासुति परिषदो बल च ५।२।१२२)। भारतीय इतिहास के किस युग के "परिषद्बलो राजा" और "ब्राह्मण-मिश्रो राजा" के दो सूत्र व्यवहार

---

१. अर्थ० ८।१, पृ० ३२२।

"न" इति कौटिल्यः। मंत्रिपुरोहितादि भृत्यवर्गमध्यक्षप्रचारं पुरुषद्रव्यप्रकृतिव्यसनप्रतीकारमेधनं च राजैव करोति। व्यसनिषु वाऽमात्येष्वन्यानव्यसनिनः करोति। पूज्यपूजने दूष्यावग्रहे च नित्ययुक्तस्तिष्ठति। स्वामी च सम्पन्नः स्वसम्पद्भिः प्रकृतीस्सम्पादयति। स्वयं यच्छीलस्तच्छीलाः प्रकृतयो भवन्ति, उत्थाने प्रमादे च तदायत्तत्वात्। तत् कूटस्थानीयो हि स्वामीति।

२. मुद्राराक्षस में जब चन्द्रगुप्त कौमुदी महोत्सव की आयोजना करता है और प्रधान मंत्री के पद से चाणक्य उसका निषेध कर देता है तो चन्द्रगुप्त चाणक्य के दर्शन की इच्छा प्रगट करता है। पृ० २३४-२३८।

चाणक्यः—वृषलो मां द्रष्टुमिच्छति ? वैहीनरे, न खलु वृषलस्य श्रवणपथं गतोऽयं मत्कृतः कौमुदीमहोत्सवप्रतिषेधः

राजा। (आसनादुत्थाय) आर्य, चन्द्रगुप्तः प्रणमति (इति पादयोः पतति)

३. Public Administration in Ancient India, Chap. IX, pp. 117–18.

The Ministers, unless the king happened to be a man of exceptionalability, the Prime Minister was the real ruler ofthe State.

४. अर्थ ८।१, पृ० ३२२।

तेषां अभावे तदभावश्छिन्नपक्षस्येव राज्ञश्चेष्टानाशो व्यसनेषु चासन्नाः परोपजापाः। वैगुण्ये च प्राणबाधः प्राणान्तिकचरत्वाद्राज्ञ इति।

५. नीति पृ० १६०।

में सत्य थे ?" कहते हुए डा० अग्रवाल का मत है, "जो प्रमाण सामग्री उपलब्ध है उसके साक्ष्य से ज्ञात होता है कि महाजनपद युग से मौर्य तक राजा के साथ-साथ उसके प्रधान मन्त्री का भी उतना ही महत्व था।"[१] राज्य-प्रकृतियों के बारे में सामान्य दृष्टिकोण अपनाते हुए मनु, सभी अंगों को त्रिदण्ड के दण्डों की भाँति मानते हैं, जिनका कोई अंग विशेष महत्वपूर्ण नहीं है क्योंकि प्रत्येक का अपने स्थान पर महत्व है।[२] ऐसा प्रतीत होता है कि, बृहस्पति राजनीति के सिद्धान्त पक्ष की अपेक्षा व्यवहार पक्ष को अधिक महत्व प्रदान करते हैं। व्यावहारिक रूप में उन्होंने देखा था कि, एक सर्वशक्तिमान् शासक की अनुपस्थिति में गणतन्त्र बहुबुद्धिशासित होने के कारण परस्पर रक्षा करने में समर्थ होते थे और राजा की अनुपस्थिति में मंत्रिगण उसकी ओर से शासन कर लेते थे; किन्तु मंत्रियों के अभाव में राजा शासन यंत्र का संचालन नहीं कर सकता था। यह कार्य उसके लिये कठिन ही नहीं, असंभव भी था। शान्तवर्षों में भी मंत्रियों के बहुत से अधिकार होते थे परन्तु जब राजा अल्पवयस्क होता अथवा दुर्बल होता तो उनकी शक्तियाँ अपार होजाती थीं (और) जब सिंहासन रिक्त होता तो वे "राजकर्ता" के रूप में कार्य करते थे।[3] यही कारण था कि, बृहस्पति राज्य-प्रकृतियों में अमात्य को राजा के अनन्तर स्थान प्रदान करते हैं।

प्रधान मंत्री :—शासकीय कार्यों में सचिव, अमात्य या मन्त्री, राजा को विभिन्न अधिकारियों की नियुक्ति में सहायता प्रदान करता था। बृहस्पति उसके अनुमोदन के अभाव में उनकी नियुक्ति की वैधता स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि, भूपति के सेवक (–राजकीय अधिकारी) सचिव-सम्मत हों।[४] राष्ट्रीय वित्तीय स्थिति एवं शत्रु सैन्य से स्वराष्ट्र की रक्षा सम्बन्धी नीति के विनिश्चय में भी उसका महत्वपूर्ण योग होता था।[५] बृहस्पति उसे राजा

---

१. पाणिनि कालीन भारवर्ष पृ० ३९१–३। २. मनु ९।२९४–९७।

३. Public Administration in Ancient India, Chapter IX page 116. The Ministers possessed great powers in the State even in normal times, but during the minority a King or when the king happened to be a weak men, their powers were immense. When the throne fell vacant they played the role of King makers.

४. नीति पृ० १२७। भूपतेः सेवका ये स्युस्ते स्युः सचिव-सम्मताः

५. बृ० स्मृ० व्य० का० १।६५, २२, नीति० ११९, १३८।

राजा कार्याणि सम्पश्येत् प्राड्विवाकोऽथवा द्विजः॥
धर्मशास्त्रानुसारेण सामात्यः सपुरोहितः।

के माता-पिता के समकक्ष मानते हैं।[1] पाणिनि कालीन परम्परा में प्रधान मन्त्री का स्थान निश्चित करते हुए डा० अग्रवाल का कथन है कि, "सूत्र ६।२।५८ (आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः) में आर्य कुमार शब्द युवराज के लिये और आर्य ब्राह्मण मुख्य मन्त्री के लिये प्रयुक्त हुए हैं। अगले सूत्र में (राजा च, ६।२।५९) पाणिनि ने राजब्राह्मण शब्द का उल्लेख किया है। कर्मधारय समास में राज-ब्राह्मण का अर्थ ब्राह्मण जाति का राजा ऐसा लिया जाता था। उसी का प्रत्युदाहरण तत्पुरुष समास में राज-ब्राह्मण शब्द राजा के ब्राह्मण अर्थात् मुख्य मन्त्री का वाचक था। राजा का ब्राह्मण वही था जिसका संकेत पाणिनि ने "ब्राह्मणमिश्रो राजा" सूत्र में किया है।

ब्राह्मणमिश्रो राजा—राज संस्था के इतिहास की दृष्टि से पाणिनि का निम्नलिखित सूत्र महत्वपूर्ण है—

मिश्रं चानुपसर्गमसंधौ (६।२।१५४)।

"तृतीयान्त समास में मिश्र शब्द अन्तोदात्त होता है, यदि उसके पहले उपसर्ग न हो और उसका अर्थ संधि न हो।"

यहाँ संधि शब्द सूत्र की कुंजी है। हर्ष है कि कौटिल्य में इसका जो पारिभाषात्मक अर्थ था उसकी परम्परा काशिका में सुरक्षित मिलती है—

असंधाविति किम्। ब्राह्मणमिश्रो राजा। ब्राह्मणः सहः संहित एकार्थमापन्नः। संधिरिति हि पणबन्धेनैकार्थ्यमुच्यते (काशिका)।

यहाँ संधि का अर्थ परस्पर समझौता, शर्तनामे के द्वारा दोनों का आपस में इस प्रतिज्ञा से बंध जाना कि यदि तुम यह करोगे; तो मैं यह करूँगा इसका नाम पणबंध या संधि है।—प्रत्येक परिषद् बल राजा का विशेषण तभी तक सार्थक था जब तक वह परिषद् के मुख्य मंत्री या आर्य ब्राह्मण के साथ अपनी संधि का पालन करता था। यह राजतन्त्र में मंत्रिपरिषद् की बड़ी विजय थी। इससे यह भी ज्ञात होता है कि मंत्रिपरिषद् कहने-सुनने के लिये राजा की निरंकुश इच्छा का खिलवाड़ न थी। वह राजा पर सच्चा अंकुश रखती थी और उसको भी अनुचित काम करने से हटक देती थी।—"परिषद् की इस प्रकार की शक्ति का वास्तविक कारण यही पणवन्ध या संधि थी। यदि राजा उसे न माने तो वह पदच्युत कर सकती थी जैसा शुक्र, ने अपने युग की तथ्यात्मक विचारधारा

व्यवहारान्नृपः पश्येत् प्रजासंरक्षणाय च ॥
किं तस्य व्यवहारार्थैर्विज्ञातैः शुभकरैरपि।
यो न चिन्तयते राज्ञो धनोपायं रिपुक्षयम् ॥ नीति, ११९।
यस्य संजायते मंत्री वित्तग्रहणलालसः।
तस्य कार्यं न सिध्येत भूमिपस्य कुतो धनम् ॥ वही, १३८

१. नीति पृ० १६०।

के अनुसार लिखा है।"[1] मंत्रिपरिषद् की अन्तरंग एवं बाह्य परिषदों का वह प्रधान होता था। मन्त्री व्यक्तिगत रूप से अपने विभागों के प्रति उत्तरदायी, सम्मिलित रूप से, प्रधान मंत्री के प्रति उत्तरदायी होते थे, जो राजा तथा राष्ट्र के प्रति उत्तरदायी होता था। मंत्रिपरिषद् की सभाओं का सम्बोधन एवं आह्वान, शासकीय कार्यों में सहायता करना तथा विभागीय अधिकारियों की नियुक्ति में राजा को मंत्रणा देना आदि मंत्री के ही कार्य थे।[2]

अमात्य, मन्त्रिन् एवं सचिव—प्राचीन भारतीय अर्थशास्त्र सम्बन्धी समस्याओं में उपर्युक्त तीनों मंत्रि-सूचक पारिभाषिकों की गणना की जा सकती है। बृहस्पति ही नहीं अन्य परवर्ती अर्थशास्त्रियों ने भी इनका सामान्य प्रयोग किया है।[3] आधुनिक राजनीतिक पारिभाषिकों में अमात्य शब्द अप्रयुक्त रह जाता है। मन्त्री शब्द काप्रयोग आधुनिक मन्त्रियों के संदर्भ में होता है जबकि सचिव शब्द आधुनिक मंत्रालय के सचिवालय या प्राचीन भारतीय प्रयोगों के अनुसार अधिकरण के प्रमुख अधिकारी (सेक्रेटरी) के लिये प्रयुक्त होता है। किन्तु प्राचीन अर्थशास्त्रियों को यह क्रम स्वीकार्य नहीं था। इसके विपरीत लगभग प्राचीन भारत के प्रत्येक अर्थशास्त्री ने अपनी सुविधा एवं इच्छा के अनुसार इन तीनों ही पारिभाषिकों का प्रयोग प्रधान मंत्री से लेकर सामान्य विभागीय मन्त्री तक के संदर्भ में किया है। जहाँ तक बार्हस्पत्य राज्य-चिन्तन में इनके प्रयोग का प्रश्न है—विषय से सम्बन्धित कुछ अन्य प्रश्नों पर विचार करना होगा : (१) क्या बृहस्पति ने इन पारिभाषिकों का प्रयोग पर्यायवाची या समानार्थी के रूप में किया था ? अथवा, (२) एक निश्चित पद क्रम के अनुसार माना था, या, (३) उन्हीं परिभाषिकों का भिन्न-भिन्न स्थलों पर भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयोग किया था। इन प्रश्नों के समाधान पर ही बार्हस्पत्य राज्य-चिन्त में अमात्य या प्रधान मंत्री का स्थान निश्चित किया जा सकता है।

उपलब्ध बार्हस्पत्य अंशों के अध्ययन से स्पष्ट प्रतीत होता है कि, बृहस्पति ने सचिव शब्द का प्रयोग आधुनिक मंत्री शब्द के संदर्भ में किया था। यह शब्द सामान्य मंत्रित्व का द्योतक था, किसी पद विशेष का नहीं। एक स्थल पर उनका आदेश है कि, भूपति के सेवक सचिव-सम्मत हों।[4] यहाँ सचिव शब्द समस्त

---

१. पाणिनि कालीन भारतवर्ष पृ० ३९१-९२।

२. Parliamentary Government in England, pp. 239–40.

३. बृ० स्मृ० व्य० का० १।२२, १४८। बृ० सू० १।२, ४।३४। अर्थ, १।७ पृ० १३, १।८ पृ० १३, १।९ पृ० १५, १।१० पृ०१६। शुक्र २।७०, ७२, ८३, ९४-९५। नीति पृ० १२७।

४. नीति पृ० १२७।

मंत्रिमण्डल की स्थिति सूचित करता है जिसके अनुसार राज्य के विभागीय अधिकारियों की नियुक्ति के प्रश्न पर भी राजा मंत्रियों से मंत्रणा लिये विना स्वतः कोई कार्य नहीं करता था। यह मंत्रियों की वैधानिक एवं शासकीय स्थिति का प्रतीक था। सभा निवेशन के अन्तर्गत बृहस्पति न्यायवृक्ष के रूपक से न्याय सभा के विभिन्न अंगों का उल्लेख करते हैं। उनका कथन है, विप्र (अर्थात् प्राड्विवाक) धर्मद्रुम (—न्यायरूपी वृक्ष) का आदि (अर्थात् मूल या तना) होता है। महीपति (अथवा राजा) उसका स्कन्ध एवं शाखाएं होता है। सचिव पत्र एवं फूल होता है तथा न्याय द्वारा पालन उसका फल होता है।[1] अन्यत्र वे सचिव शब्द के स्थान पर अमात्य एवं पुरोहित शब्दों का उल्लेख करते हैं।[2] बृहस्पति अमात्य तथा मंत्री दोनों ही पारिभाषिकों का प्रयोग भिन्न पदों के मंत्रियों के लिये करते हैं, जबकि सभी मंत्री सचिव होते थे। कौटिल्य अमात्यों एवं मंत्रियों में अन्तर मानते हैं। उनके अनुसार मंत्रित्व अमात्यत्व से अधिक महत्वपूर्ण था।[3] कामन्दकीय का लेखक अमात्य के लिये एकवचन तथा मंत्री के लिये बहुवचन (मंत्रिणः) प्रयोग करता है[4] जिससे स्पष्ट है कि वह अमात्य एवं मंत्रियों में अन्तर मानता था। शुक्र ने सचिव, मंत्री एवं अमात्य को अलग-अलग विभागीय पद माना है।[5]

कौटिल्य स्वयं अमात्यों एवं मंत्रियों में अन्तर मानते हैं। वे बार्हस्पत्य चिन्तन का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि बार्हस्पत्यों के अनुसार मंत्रिपरिषद् की सदस्य संख्या सोलह अमात्यों की हो।[6] गुप्त अभिलेखों में वर्णन मिलता है कि, एक ही व्यक्ति कुमारामात्य, सान्धिविग्रहिक एवं महादण्डनायक आदि विभिन्न पदों पर कार्य करता था।[7] क्या इसका अर्थ यह लिया जाय कि आधुनिक मंत्रियों

---

३२ स्वाद्यट्टपाकिकस्य महादण्डनायकध्रुवभूतिपुत्रस्य सांधिविग्रहिक-कुमारामात्यमहादण्डनायक हरिषेणस्य Karamdanda Stone Linga Inscri-

१. बृ० स्मृ० व्य० का० १।४८।   २. वही व्य० का० १।२२, ७०।

३. अर्थ १।८, पृ० १४।

विभज्यामात्यविभवं देशकालौ च कर्म च।
अमात्यास्सर्व एवैते कार्यास्स्युर्न तु मंत्रिणः॥

४. कामन्दकीय ८।१।

उपेतः कोषदण्डाभ्यां सामात्यः सह मंत्रिभिः।
दुर्गस्थश्चिन्तयेत्साधु मण्डलं मण्डलाधिपः।

५. शुक्र २।८३, ८४, ८५, ९४, १०२–६।

६. अर्थ १।१५, पृ० २९।

७. Select Inscriptions pp. 260, 282–83 Allahabad Pillar Inscription.

मंत्रिपद के लिये अनिवार्य गुण एवं योग्यताएँ—सम्पूर्ण शासन-यंत्र का संचालन एवं उसकी कार्यक्षमता मंत्रियों की ही कुशलता एवं योग्यता पर निर्भर करती थी। उनकी आवश्यकता तथा उनके महत्व को दृष्टिगत करते हुए बृहस्पति तथा अन्य अर्थशास्त्रियों ने इनकी नियुक्ति सम्बन्धी अनिवार्य योग्यताओं की तालिकाएँ प्रस्तुत की हैं, जिनके अनुसार योग्य ठहराया गया व्यक्ति ही मंत्रिपद प्राप्त कर सकता था। जिस प्रकार वर्तमान भारत में राष्ट्रीय प्रशासकोय सेवाओं के लिये निर्धारित शैक्षिक योग्यताएँ, गुण चारित्रिक तथा शारीरिक स्वस्थता आदिआवश्यक माने जाते हैं, उसी भाँति प्राचीन भारत में भी इन्हीं गुणों की उपलब्धि पर ही मंत्रियों का कार्यकाल और पदस्थिति निर्भर करती थी। यही नहीं, प्राचीन भारतीय मनीषी पग-पग पर राजा को चेतावनी देते रहते थे कि जितना महत्व अच्छे मंत्रियों की नियुक्ति का है उतना ही दुर्मंत्रियों से बचने का भी है, क्योंकि वे राज्य को समाप्त कर देते हैं।[१]

उपलब्ध बार्हस्पत्य अंशों से ज्ञात होता है कि बृहस्पति मंत्रियों की नियुक्ति के लिये कौलीन्य, नैतिक गुण एवं चरित्र, शैक्षिक योग्यता तथा व्यावहारिक अनुभव को विशेष महत्व प्रदान करते हैं। ये ही गुण नियुक्ति के लिये पर्याप्त नहीं होते थे। उनकी विधिवत् परीक्षा ली जाती थी जिसमें पारित होने पर वे अपने विभिन्न गुणों के अनुरूप मंत्रित्व प्राप्त करते थे।

कौलीन्य :—बृहस्पति शालीन परिवार की द्योतना कुल[२] शब्द से करते हैं। उनका मत है कि मंत्री कुलज[३] ही नहीं कुलाढ्य[४] भी हो। प्रधान मंत्री का पद विशेष रूप से महत्वपूर्ण होता था। एक ही वंश में अमात्य परम्परा विशेष ग्राह्य थी। अतः बृहस्पति का कथन है कि, अमात्य (पद पर) वंश परम्परागत की ही भाँति एक ही व्यक्ति एक ही समय में विभिन्न मंत्रालयों का प्रधान होता था अथवा समयानुकूल विभागान्तरण होता था।

---

ption of the time of Kumāra Gupta Line 6-7, pp 282-83.

महाराजाधिराजश्रीचन्द्रगुप्तस्य मंत्री कुमारामात्यशिखरस्वाम्यभूत्तस्य पुत्रः पृथिवीषेणो महाराजाधिराजश्रीकुमारगुप्तस्य मंत्री कुमारामात्योऽनन्तरं च महाबलाधिकृतः।

१. नीति पृ० १३८।

यस्य संजायते मंत्री वित्तग्रहणलालसः
तस्य कार्यं न सिध्येत भूमिपस्य कुतो धनम् ?

२. शान्ति ५७।२३।

३. वही ५७।२३, बृ० स्मृ० Additional Texts पृ० ४९३–९४। कुले जातान्।

४. बृ० स्मृ० Additional Texts पृ० ४९३–९४। उभयतः उत्तमवंशप्रभवः। कुलाढ्यः।

विद्वान् ब्राह्मण को नियुक्त किया जाय ।[1] पाणिनि तो उसके पद के साथ ही ब्राह्मणत्व और आर्यत्व संलग्न कर देते हैं ।[2] कौटिल्य भी अभिजात व्यक्ति को मंत्रिपद प्रदान करने के समर्थक हैं,[3] जिसका महत्व मनु ने भी स्वीकार किया है ।[4] शुक्रनीति का लेखक इस विचारधारा का कट्टर समर्थक नहीं है । वह कौलीन्य को अनावश्यक महत्व प्रदान करने का समर्थक नहीं । उसका कथन है कि, कुल का महत्व विवाह एवं भोजन के अवसर पर होता है, राजनीति में नहीं । मनुष्य के कार्य, शील तथा गुणों की महिमा मानी जाती है ।[5] इस प्रकार वह कुल की अपेक्षा गुणों का विशेष महत्व स्वीकार करता है ।

चरित्र—मंत्रिपद के कर्तव्यों एवं महिमा को दृष्टिगत करते हुए बृहस्पति मंत्री के लिये आत्मवान्[6] अर्थात् चारित्रिक गुणों से सम्पन्न होना विशेष रूप से महत्वपूर्ण मानते हैं । अन्यत्र उन्होंने संयमशीलता, जितेन्द्रियता एवं संयतेन्द्रियता का महत्व स्वीकार किया है । नैतिक चरित्र उसे धर्मज्ञ, धर्मात्मा, कर्तव्य परायण ही नहीं अक्षुद्र-कर्मा भी बना देता था ।[7] फलतः बृहस्पति उससे सज्जनता,[8] पदप्राप्ति के अनन्तर कृतज्ञता, दृढ़भक्ति तथा राजभक्ति की अपेक्षा करते हैं ।[9] कौटिल्य ने भी लगभग समान शब्दों में अमात्यसम्पत् का उल्लेख किया है । उन्होंने न केवल बार्हस्पत्य मत को स्वीकार किया है वरन् अधिक वैज्ञानिक ढंग पर चरित्र, बुद्धि-प्रतिभा, तथा भक्ति सम्बन्धी गुणों का समावेश आवश्यक माना है ।[10] महाभारत, मनु तथा शुक्र ने भी समान रूप से इन नैतिक तथा

---

१. वही० व्य० का० १।७१ । प्रियं प्राज्ञं क्रमायातममात्यं स्थापयेद्विजम् ।

२. पाणिनि कालीन भारतवर्ष—पृ० ३९१ । मुख्य मंत्री या आर्य ब्राह्मण ।

३. अर्थ १।८, पृ० १५ । ४. मनु ७।५४ । कुलोद्गतान् सचिवान् ।

५. शुक्र २।५४–५६ ।

नैव जातिर्न कुलं केवलं लक्षयेदपि ।
कर्मशीलगुणाः पूज्यास्तथा जातिकुले नहि ॥
न जात्या न कुले नैव श्रेष्ठत्वं प्रतिपद्यते ।
विवाहे भोजने नित्यं कुलं जातिविवेचनम् ॥

६. बृ० सू० १।२ । आत्मवन्तं मंत्रिणमापादयेत् ।

७. शान्ति ५७।२३ । धर्मेषु निरतान् । धर्मनित्यं/धर्मज्ञ/अक्षुद्रम ।

८. वही ५७।२४ । साधून् ।

९. वही० ६८।५६, ५७।२३ । कृतज्ञं/दृढ़भक्ति/भक्तान्

१०. अर्थ १।९, पृ० १५ ।

धारयिष्णुर्दक्षो वाग्मी प्रगल्भः प्रतिपत्तिमानुत्साहप्रभावयुक्तः क्लेशसहश्शुचिर्मैत्रो दृढ़भक्तिश्शीलबलारोग्यसत्त्वसंयुक्तः स्तंभचापल्यवर्जितस्संप्रियो वैराणामवकर्तत्यमात्यसम्पत् ।

चारित्रिक गुणों का महत्व स्वीकार किया है[१] आधुनिक सरकारों में मंत्रित्व दलगत होता है। विधान अथवा लोक सभा के बहुमत वाले दल का कोई भी सदस्य अपने महत्व के कारण मंत्रित्व प्राप्त कर सकता है। यद्यपि इसकी पृष्ठ-भूमि में मूलभावना होती है कि, वह अपने दल के प्रति निस्वार्थ सेवा, त्याग, कष्ट सहन आदि के द्वारा कर्मण्यता पूर्वक कार्य करता है और करता रहेगा। चारित्रिक गुण तथा आरोग्य का महत्व कोई भी सरकार संभवतः अस्वीकार नहीं कर सकती।

शैक्षिक तथा व्यावहारिक योग्यता—उपर्युक्त सामान्य गुणों के अतिरिक्त विभिन्न पदों के लिये बृहस्पति विभिन्न विशिष्टताओं को आवश्यक मानते हैं। उन्होंने शैक्षिक योग्यताओं के क्षेत्र में भी यही मापदण्ड माना है। फलतः (प्रधान मंत्री) अमात्य के लिये समस्त शास्त्रों का ज्ञान, अर्थशास्त्र तथा न्याय सम्बन्धी विषयों का ज्ञान अनिवार्य माना है।[२] नीति के निर्णायिक मंत्री के लिये मनु, बृहस्पति तथा उशनस् के शास्त्रों (संभवतः धर्मशास्त्रों) तथा दण्डनीति का ज्ञान आवश्यक था।[3] बृहस्पति धर्मसभा (अर्थात् न्याय सभा) के सदस्यों के लिये वेद, लौकिक शास्त्रों का ज्ञान अनिवार्य मानते हैं।[४]

बार्हस्पत्य राज्य-चिन्तन में सैद्धान्तिक ज्ञान के साथ-साथ व्यावहारिक ज्ञान का महत्वपूर्ण स्थान रहता रहा होगा। न्याय सिद्धान्तों का महत्व स्वीकार करते हुए बृहस्पति का स्पष्ट मत है कि, केवल शास्त्र का आश्रय लेकर ही न्याय नहीं करना चाहिये क्योंकि उसमें धर्म-हानि (अर्थात् न्याय के क्षेत्र में असमानता होने) का भय रहता है।[५] इसी प्रकार नीतिज्ञ मंत्री के लिये वे कार्य-अकार्य के विनिश्चय की क्षमता आवश्यक मानते हैं।[६] सामान्य दृष्टिकोण अपना कर मंत्रियों के लक्षण बताते हुए उनका मत है कि, मंत्रणा योग्य वह व्यक्ति है जो (शत्रु) का अहित करने वाले कार्य कर सके।[७] सम्भवतः ऐसे ही अवसर उपस्थित होते थे जब नीति की उपादेयता को लेकर मंत्री एवं राजा विरोधी मत प्रकट करने लगते थे कि किस नीति का प्रयोग किया जाय। बृहस्पति को

---

१. शान्ति ८५।२, ८३।८, मनु ७।५४, शुक्र २।८।

२. बृ० स्मृ० व्य० का० १।५९। लोकवेदांगधर्मज्ञः।

३. वही एडिशनल टेक्स्ट्स, पृ० ४९४।

मनुबृहस्पत्युशनश्शास्त्रविद् दण्डनीत्यादिकुशलो।

४. वही व्य० का० १।७०।   ५. वही १।१२४।

६. वही ऐडिशनल टेक्स्ट्स पृ० ४९४।   ७. बृ० सू० ६।६।

ऐसे अवसरों का पूर्ण ज्ञान है, अतः उनका मत है कि, मंत्री को राजा के अभिमत का परित्याग करके कार्य (अर्थात् प्रयोज्य नीति) का विवेचन करना चाहिये।[१]

शौच अथवा उपधा शुद्धि[२]—बृहस्पति तथा कौटिल्य मंत्रिपद के लिये मनोवैज्ञानिक "उपधा" परीक्षा का महत्व स्वीकार करते हैं। कामन्दक ने "उपधा" शब्द की व्याख्या करते हुए माना है कि, जिस (प्रक्रिया) के द्वारा निकट जाकर (उपेत्य) औचित्य के अनुसार धारण किया जाता है (उसे उपधा कहते हैं)। (अन्य शब्दों में) उन उपायों को उपधा कहा जाता है जिनके द्वारा अमात्यों की परीक्षा लेनी चाहिये।[३] बृहस्पति उपधाओं में धर्म, अर्थ, काम तथा भय आदि प्रकारों का उल्लेख करते हैं।[४] कौटिल्य ने भी इस मत का समर्थन करते हुए पूर्वाचार्यों द्वारा मान्य त्रिवर्ग (अर्थात् धर्मार्थकाम) और भय को उपधा प्रकारों में मान्यता प्रदान की है।[५] उनके समय तक धर्मोपधा शुद्धि के हेतु पुरोहित, अर्थोपधा शुद्धि के हेतु सेनापति, कामोपधा शुद्धि के हेतु महिषी एवं भयोपधा शुद्धि के हेतु राजा सम्बन्धी प्रलोभन प्रस्तुत किये जाते थे।[६] बृहस्पति इस प्रकार के प्रलोभनों को मान्यता प्रदान करते थे या नहीं, कहना कठिन है। कौटिल्य ने प्रलोभन विधि की आलोचना करते हुए माना है कि महिषी एवं राजा को इनमें सम्मिलित नहीं करना चाहिये, क्योंकि, उनका तर्क है कि जो दुष्ट नहीं है कदाचित् वे दुष्ट हो जायँ तो उनका भेषज नहीं है।[७] बृहस्पति के मतानुसार, राजा को प्रत्यक्ष (अर्थात् उपयुक्त अवसर पर अपनी उपस्थिति में), परोक्ष (अर्थात् अन्य प्रकार के कार्यों द्वारा) एवं अनुमान (अर्थात् उनके कार्यों की आलोचना द्वारा) मंत्रियों की परीक्षा लेनी चाहिये।[८] वे इन उपधा परीक्षाओं में पारित व्यक्तियों को शुचि[९], शुद्ध[१०] मानते हैं तथा सभी

---

१. वही २।४२।

२. शान्ति ५६।४ १; बृ स्मृ० एडिशनल टेक्स्ट्स, पृ० ४९३–९४; अर्थ १।१०, पृ० १७।

३. कामन्दकीय ४।२७।

उपेत्य धीयते यस्मादुपधेति ततः स्मृता।
उपायाः उपधा ज्ञेयास्तयाऽमात्यान्परीक्षयेत् ॥

४. बृ० स्मृ० ऐडिशनल टेक्स्ट्स, पृ० ४९४। ५. अर्थ १।१०, पृ० १७।

६. वही। ७. वही०

८. शान्ति ५६।४१।

प्रत्यक्षेणानुमानेन तथौपम्योपदेशतः।
परीक्ष्यास्ते महाराज स्वे परे चैव सर्वदा ॥

९. अर्थ १।१०, पृ० १६।

१०. बृ० स्मृ० ऐडिशनल टेक्स्ट्स पृ० ४९३–९४; शान्ति ५६।४,१।

परीक्षाओं में पारित व्यक्तियों को सर्वोपधाशुद्ध[१] मानते हैं। मंत्री के पद का महत्व स्वीकार करते हुए उसे सर्वोपधा शुद्ध होना अनिवार्य मानते हैं।[२]

जाति एवं मंत्रित्व—उत्तर वैदिक युग के अन्तिम चरण में जातिगत माहात्म्य स्वीकृत हो चुका था। बृहस्पति स्वयं पाण्डित्य एवं परम्पराओं के पोषक थे। अतः उन्होंने इसे विशेष महत्त्व प्रदान किया था। फलतः इस दृष्टि-कोण के अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य को राजनीति में महत्त्व प्रदान किया गया था। और शूद्रों को राजनीति से पृथक् रखा गया था। बृहस्पति का स्पष्ट कथन है कि धर्मसभा की सदस्यता के अवसर पर विप्र को प्रथम महत्त्व प्रदान किया जाय एवं योग्य विप्र के अभाव में क्षत्रिय की योजना की जाय अथवा धर्मशास्त्रज्ञ वैश्य को रखा जाय, किन्तु यत्नपूर्वक शूद्र की वर्जना की जाय।[३] विप्र को प्रथम स्थान प्रदान करने का यह अर्थ नहीं कि सामान्य ब्राह्मण की नियुक्ति बिना गुण दोष विचार के करदी जाय। उनका स्पष्ट मत है कि ब्राह्मण लिंग (ब्राह्मण के गुणों) से विवर्जित धर्म-कर्म-विहीन द्विज को न रखा जाय। इस प्रकार के ब्राह्मणों को बृहस्पति नाममात्र के ब्राह्मण (ब्राह्मणब्रुवम्) मानते हैं।[४]

मंत्रिपद प्राप्ति में बाधक अयोग्यताएँ—मंत्रिपद प्राप्ति में सहायक योग्य-ताओं के वर्णन की ही भाँति पद प्राप्ति के मार्ग में बाधक अयोग्यताओं का भी वर्णन बृहस्पति ने किया है। जहाँ तक जाति का प्रश्न है वे शूद्रों को मंत्रिपद प्रदान करने के समर्थक नहीं हैं प्रत्युत वे उन्हें पद प्रदान करने के विरोधी हैं।[५] उनकी सबसे अयोग्यता शूद्रत्व है। शूद्रों के अतिरिक्त शास्त्र ज्ञान विहीन, साहसिक, दुष्ट एवं बालकों को भी बृहस्पति मंत्रणा के योग्य नहीं मानते।[६] स्त्रियों में विद्याहीन, मूढ़ा, शीघ्र-क्रुद्ध होनेवाली, तीक्ष्णा एवं दुराचारिणी स्त्री को भी वे अयोग्ये ठहराते हैं।[७]

मंत्रिपरिषद् की सदस्य संख्या, प्रक्रिया एवं संवैधानिक महत्त्व—भारतीय इतिहास के बार्हस्पत्य युग में प्रवेश तक राजतंत्र प्राचीन संस्था के रूप में विकसित हो चुका था। फलतः प्रधान मंत्री एवं उसके सहायक मंत्रियों की संख्या सम्बन्धी प्रश्नों पर भी विचार-विमर्श हुआ। वैदिक रत्नी राजकर्ता के

---

१. वही पृ० ४९३--९४।
२. वही पृ० ४९४।
३. वही व्य० का० १।७८।
४. वही १।८०।
५. वही १।७८। शूद्रं यत्नेन वर्जयेत्।
६. बृ० सू० २।५१।
७. वही २।५२।

रूप में भिन्न-भिन्न मतों के अनुसार ग्यारह या बारह स्वीकृत हो चुके थे।[१] इन्हीं में अधिकांश विभिन्न विभागों के जनक हुए। बृहस्पति इन विभागों को अष्टादश तीर्थ (अर्थात् विभाग) मानते हैं।[२] बौद्ध भारत में राज्यों के बदलते रूपों एवं साम्राज्यवादी विचारधारा के कारण इन प्रश्नों पर अधिक व्यापक एवं वैज्ञानिक ढंग पर विचार प्रारम्भ हुआ। फलतः मंत्रियों के दो स्तर माने गये, सामान्य एवं मंत्रिमण्डलीय, और दोनों में स्पष्ट अन्तर भी माना गया। आधुनिक विभाग-विहीन मंत्रियों तथा मंत्रिमण्डलीय मंत्रियों की भाँति। इस विभाव का यह भी कारण हो सकता है कि राष्ट्रीय महत्त्व के प्रश्नों पर केवल राजा और मंत्री विचार करते रहे होंगे। कौटिल्य का भी कथन है कि राजा तीन या चार मंत्रियों के साथ मंत्रणा करें।[3] किन्तु इसके विपरीत पाणिनि "अषडक्षीणि मंत्र" में आस्था रखते हैं।[४] जिसके अनुसार राजा तथा अमात्य के अतिरिक्त औरों

जहाँ तक मंत्रणा के अवसर पर स्त्रियों के महत्व का प्रश्न है, ऐसा प्रतीत होता है कि वे राजहर्म्य की स्त्रियाँ रहती रही होंगी क्योंकि कहीं भी बृहस्पति ने उनके मंत्रित्व का उल्लेख नहीं किया है।

१. Hindu Polity, pp. 193-196 (foot note 6). Śatapatha Brāhmaṇa, V. 3. 1. of also Taittarīya Brāhmaṇa 1. 7. 3 (Poona, ed., 1 pp. 308-10) and Taittarīya Saṁhita 1. 8. 9 (Mysore, ed., 1 pp. 146-149) The text says that the ratnins are eleven (एकादश रत्नानि) But the havi is offered at twelve places. Evidently the offering at his own house, is not counted (the school of Kṛishṇa Yajurveda does not prescribe an offering at the King elect's house) (page 193).

The ratnins are a development of the Vedic bestowers of the (palāśa) maṇi. The latter were the 'King makers' (राजकृतः) the ministers. (page 196).

२. बृ० सू० ३।१२। अष्टादशतीर्थानि निरूपयेत।

३. अर्थ १।१५, पृ० २८। मंत्रिभिस्त्रिभिश्चतुर्भिर्वा सह मंत्रयेत्।

४. पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृ० ३७४।

अषडक्षीणि मंत्र (५/५/७)—अष्टाध्यायी में अषडक्षीणि विशिष्ट शब्द है। इसका अर्थ है कि वह वस्तु जिसे छह आँखों ने न देखा हो (अ + षड् + अक्ष + ईन)। काशिका ने इसके अर्थ की वास्तविक परम्परा का उल्लेख किया है। अषडक्षीणो मंत्रः। यो द्वाभ्यामेव क्रियते न बहुभिः, अर्थात् अषडक्षीणि उस मंत्र या राजा के परामर्श को कहते हैं जो दो के साथ किया जाय बहुतों के साथ

की उपस्थिति में मंत्र-भेद हो जाता था। अतः स्पष्ट है कि समस्त सामान्य विषयों पर विवाद करने वाली बाह्य-परिषद् तथा गूढ़ एवं महत्वपूर्ण विषयों पर विचार करने वाली अन्तरंग-परिषद् की स्थिति स्वीकार्य हो चुकी थी। कौटिल्य ने भी बार्हस्पत्य "मंत्रिपरिषद्" तथा उसकी सदस्य संख्या का उल्लेख किया है। कौटिल्य के अनुसार, इस परिषद् के सदस्य यथावश्यक एवं यथासामर्थ्य हों, जबकि उन्हीं की भाषा में मानव मतानुयायी बारह, बार्हस्पत्य सोलह, तथा औशनस बीस अमात्यों की मंत्रिपरिषद् मानते थे।[1] कौटिल्य के अनुसार यह बाह्य या बहिरंग मंत्रिपरिषद् होगी क्योंकि अन्तरंग के सदस्य उन्हें तीन या चार से अधिक स्वीकार्य नहीं हैं।[2] अतः बार्हस्पत्यों द्वारा स्वीकृत सोलह-संख्या भी (कौटिल्य की भाषा में) बहिरंग मंत्रिपरिषद् को सदस्य संख्या होगी, अन्तरंग की नहीं। पुनः बृहस्पति कौटिल्य की भाँति अमात्यों एवं मंत्रियों के भिन्न-भिन्न स्तर नहीं मानते। डॉ० टॉमस के बार्हस्पत्य सूत्र तथा प्रो० आयंगर की बृहस्पति स्मृति एवं महाभारत और मित्रमिश्र के ग्रन्थों में उपलब्ध अंशों में कहीं भी अन्तरंग मंत्रिपरिषद् की संख्या का उल्लेख नहीं है।

अब प्रश्न यह है कि बार्हस्पत्य अन्तरंग-परिषद् में राजा तथा मंत्री होते थे, जैसा कि पाणिनि का कथन है एवं बौद्ध युग के इतिहास से प्रकट होता है अथवा कौटिलीय मतानुसार तीन या चार अथवा नीतिवाक्यामृत की भाँति असम संख्या—तीन, पाँच या सात मंत्री होते थे।[3]

नहीं। इसका तात्पर्य था वह अति गुप्त मंत्र जो केवल राजा और प्रधान मंत्री या आर्य ब्राह्मण के बीच हुआ हो, जिसमें और मंत्री सम्मिलित न किये गये हों।

१. अर्थ १ । १५, पृ० २९।

मंत्रिपरिषद् द्वादशामात्यान्कुर्वीतेति मानवाः। षोडशेति बार्हस्पत्याः। विंशतिरित्यौशनसाः।

२. वही १ । १५, पृ० २९।

यथासामर्थ्यमिति कौटिल्यः। इन्द्रस्य हि परिषदृषीणां सहस्रम्। तच्चक्षुः तस्मादिमं द्व्यक्षं सहस्राक्षमाहुः।

३. पाणिनिकालीन भारतवर्ष पृ० ३९४; अर्थ १।१५, पृ० २९; नीति पृ० १२८।

पाणिनि के मत की आलोचना करते हुए कौटिल्य ने कहा कि एक मंत्री से मंत्रणा लेने से महत्वपूर्ण कार्यों में निर्णय नहीं हो पाता। अकेला मंत्री निरंकुश हो जाता है। दो मंत्रियों से मंत्रणा लेने पर दोनों मिलकर हानि पहुँचा सकते हैं। झगड़ा करके विनाश कर देते हैं। तीन या चार से एकान्त में मंत्रणा लेनी

इस प्रश्न पर ऐतिहासिक दृष्टिकोण का भी महत्वपूर्ण योग होगा। बौद्ध भारत में प्रधान मंत्री का विशेष महत्व था। साहित्य में कई महामंत्रियों के नाम बच गए हैं, जैसे मगधराज अजातशत्रु के महामंत्री वर्षकार, कोसलराज विडूडभ के महामंत्री दीर्घचारायण, वत्सराज उदयन के महामंत्री यौगन्धरायण चंडप्रद्योत के भरतरोहक, अवन्तिराज अंशुमान् के आचार्य घोटकमुख (भगवद्दत्त, भारतवर्ष का इतिहास पृ० २५८)। कौटिल्य ने प्रधान मंत्री के साथ-साथ परिषद् में अन्य तीन या दो मंत्रियों को महत्वपूर्ण माना था। धीरे-धीरे मंत्रियों की संख्या में वृद्धि होने लगी। नीतिवाक्यामृत के युग तक तीन, पाँच या सात तक मंत्री स्वीकार्य हो गये जबकि पाणिनि राजा तथा उसके प्रधान मंत्री के अतिरिक्त अन्य मंत्री की स्थिति मंत्रभेद का कारण मानते हैं। सम्भवतः समकालीन परम्परा से बृहस्पति भी अप्रभावित न रह सके होंगे।

मंत्र तथा मंत्र के प्रकार एवं मंत्रणीय विषयः—मंत्र शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए बृहस्पति का कथन है कि, राजा के "अभिमत" अर्थात् उद्देश्यों एवं विचारों से ऐकमत्यकारक प्रयत्न मंत्र कहलाते हैं।[1] इस बार्हस्पत्य व्याख्या का यह अर्थ कदापि नहीं कि मंत्रियों का यह कार्य था कि राजा के जो कुछ उचित या अनुचित विचार हों, उनका वे अनुमोदन करें। संभवतः इस कथन का यह अभिप्राय था कि राज्य की उन्नति एवं विकास सम्बन्धी राजानुमोदित कार्यों की उपादेयता एवं औचित्य पर विचार कर, जिन्हें उचित माने, उन पर वे

चाहिये। नीतिवाक्यामृत का लेखक ३, ५, या ७ मंत्रियों का पक्षपाती है। विषम संख्या का लाभ बताते हुए उसका कथन है कि विषम पुरुष समूह में ऐकमत्य दुर्लभ है अर्थात् वे षड्यंत्र करके राजा को हानि नहीं पहुँचा सकते। (बृ० स्मृ० व्य० का० १।५९ मे) बृहस्पति भी धर्म सभा (न्याय सभा) के सदस्यों की संख्या सात, पाँच या तीन मानते हैं। कहना कठिन है कि, यह विचारधारा बाद के संस्करण के कारण कौटिल्य से प्रभावित है। संभवतः बार्हस्पत्य मत अषडक्षीणि के ही पक्ष में रहा होगा। शान्तिपर्व में उपलब्ध बार्हस्पत्य मत इसी विचारधारा की पुष्टि करता है। इसके अनुसार बृहस्पति शक्तिभर एक ही मंत्री के (शान्तिपर्व १०४।२५) पक्षपाती थे क्योंकि अधिक में कार्य बिगड़ने का डर रहता था—

यदैवैकेन शक्येत गुह्यं कर्तुं तदाचरेत्।
यच्छन्ति सचिवा गुह्यं मिथो विद्रावयन्त्यपि॥

१. बृ० सू० ४।४१।,
स्वामिचित्तानुवृत्तिभिर्मतैक्यकारकमेव मंत्रम्।

स्वतंत्र तथा निष्पक्ष विचार व्यक्त करें। एक स्थल पर बृहस्पति का कथन है कि मंत्री को राजा के विचारों द्वारा प्रभावित न होते हुए "कार्य" अर्थात् उपायों का वर्णन करना चाहिये।[1]

मंत्र-प्रक्रिया—मंत्र शक्ति पर ही राज्य की स्थिति निर्भर करती थी। राजा की दृष्टि में भी परिषद् का महत्व इसी कारण था। बृहस्पति ने विधिवत् मंत्र प्रक्रिया का उल्लेख किया है। उनके अनुसार, राजा को "कार्य निवेदन" करना चाहिये।[2] उसके भाषण के अनन्तर वचन, कर्म तथा मन द्वारा अंजलिबद्ध प्रणाम करके मंत्री यथागुरुत्व (अपने पद एवं महत्व के अनुरूप) राजा की वंदना करें।[3] तत्पश्चात् उस विषय पर अपना मत प्रकट करें। बृहस्पति का कथन है कि (राजा को) यथा-क्रम एक-एक के मत को सुनना चाहिये।[4] अपनी स्वतंत्र राय प्रकट करने के विषय में निर्देश करते हुए बृहस्पति का कथन है कि मंत्रियों को पहले स्वामी के गुणों का संकीर्तन करके अथवा अपने राजा के पक्ष की लाभदायक स्थिति का वर्णन करके, राजपक्ष की त्रुटियों का उल्लेख करना चाहिये। (पुनः) शत्रु के दोष तथा मध्यस्थ के दोषों का वर्णन करके राजा के गुणों का संस्थापन करना चाहिये।[5]

इन बार्हस्पत्य वर्णनों से स्पष्ट है कि, प्रस्तुत उदाहरण में आलोच्य विषय शासकीय अथवा आन्तरिक शासन नीति न होकर विदेश नीति है। संभवतः विदेश नीति के प्रश्नों पर प्रधान मंत्री के अतिरिक्त अन्य मंत्री मिलकर नीति सम्बन्धी सामान्य विचार-विमर्श करते रहे होंगे। एवं, यथागुरुत्व प्रत्येक मंत्री अपना अभिमत प्रकट करता रहा होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि मंत्रणा के अवसरों पर वाद-विवाद के पश्चात् राष्ट्रीय एवं अन्तरराष्ट्रीय महत्व के प्रश्नों पर राजकीय नीति निर्धारित होती रही होगी।

बहुमतः—बार्हस्पत्य वर्णनों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि नीति विषयक वाद-विवाद बहुधा उग्र स्थिति में भी पहुँच जाते थे। परस्पर विरोधी तथा

---

१. वही ४।४२। मंत्रिणा स्वामिनोऽभिमतमुत्सृज्य कार्यं वक्तव्यम्।

२. वही ४।३७।

३. वही ४।३८। पुनर्वचसा कर्मणा मनसांजलिना दण्डप्रणामेन यथागुरुत्वं स्वामिनमभिवन्दयेत्।

४. वही ४।४०। यत्पुनर्यथाक्रममेकैकस्य मतं श्रोतव्यम्।

५. वही ४।४२।

पूर्वं स्वामिगुणं संकीर्त्य स्वामिदोषं परदोषं च मध्यस्थदोषं च मंत्रयित्वा पुनः स्वामिगुणसंस्थापनं कुर्यात्।

हास्यपूर्ण मत भी प्रकट किये जाते थे जिनके कारण विषय की गंभीरता समाप्त-प्राय हो जाती थी। वाद-विवाद व्यर्थ हो जाता था क्योंकि इसके मूल में व्यक्तिगत कलह, भर्त्सना, क्रोध आदि का समावेश होता था। इस प्रकार के मंत्र को बृहस्पति अधम मंत्र मानते हैं। [1]अन्य प्रकार के मंत्र के अन्तर्गत वाद-विवाद का प्रारंभ विरोध वाक्यों से होता था किन्तु अन्त में मतैक्य हो जाता था। इस प्रकार के मंत्र को बृहस्पति मध्यम प्रकार का मानते हैं। दण्डनीति के नेत्रों द्वारा बंधु-बांधवों, बहुश्रुत विद्वानों आदि के साथ किये गये एक मत निर्णय को, वे उत्तम मानते हैं।[2] इस प्रकार उन्हें बहुमत अथवा ऐकमत्य ही स्वीकार्य है। बहुमत के अभाव में नीति के विनिश्चय की भावना उन्हें अग्राह्य है। संभवतः बुद्धयुगीन गणतंत्रों में बहुमत एवं उनके संस्थागारों के निर्णयों ने बार्हस्पत्य राज्य-चिन्तन को निर्विवाद रूप से प्रभावित किया था। किन्तु बहुमत आदि का प्रश्न तो बहिरंग-परिषद तक ही सीमित रहता रहा होगा। बहुमत द्वारा नीति के सामान्य सिद्धान्तों के विनिश्चय के पश्चात् ग्राह्य नीति का अनुगमन राजा अपने प्रधान मंत्री की कुशल मंत्रणा के बल पर ही करता रहा होगा। प्रयोज्य नीति अत्यन्त गुप्त रहती रही होगी जिसके फल ही नीति उद्देश्य घोषित करते रहे होंगे। स्वप्न वासवदत्त में वासवदत्ता के जल मरने की कथा की यौगन्धरायण की योजना ने ही वत्सराज उदयन को तत्कालीन इतिहास में उच्च स्थान दिलाया था। यह योजना उसने महिषी वासवदत्ता की सम्मति पर की थी एवं उदयन को इसके विषय में कोई ज्ञान भी नहीं था।[3]

मंत्र गुप्तिः—मंत्र गुप्ति को बृहस्पति ही नहीं अन्य अर्थशास्त्रियों ने समान रूप से महत्व प्रदान किया है। बृहस्पति का कथन है कि, राजा को निराश्रय प्रदेश में मंत्रणा नहीं करनी चाहिये, जहाँ प्रतिध्वनि होने का भय हो। मंत्र-सिद्धि

---

१. नीति पृ० १२२; बृ० सू० ४।६६।

विरोधवाक्यहास्यानि मंत्रकाल उपस्थिते।
ये कुर्युर्मन्त्रिणस्तेषां मंत्रकार्यं न सिध्यति।

यत्र कलहं भर्त्सनं च एकस्यार्थे स्त्रीबालवृद्धैः सह एकस्य सहितमेकस्य क्रोधो यस्मिन् सोऽधमः।

२. बृ० सू० ४।३५, ४।३०, ३४।

पूर्वं बहुबुद्धयः पश्चादेकमतयो भवन्ति यत्र स मध्यमः।
बंधुभिर्बान्धवैर्हितैर्बहुश्रुतधीरैः सह यत् कार्यमारभते तदुत्तमम्।
ऐकमत्येन दण्डनीतिनेत्रेण धीरैर्मन्त्रिभिर्यो मंत्रः स उत्तमः।

३. स्वप्नवासवदत्तम् षष्ठ अंक।

के इच्छुक राजा को उस स्थान पर मंत्रणा करनी चाहिये जहाँ प्रतिशब्द न हो।[१] कौटिल्य ने स्वीकार किया है कि मंत्रणा का स्थान इतना सुरक्षित हो कि कोई सुन न सके। पक्षी भी उसे न देख सकें। सुना गया है कि, शुक सारिका ने किसी राजा के मंत्र को प्रकट कर दिया था। कहीं कुत्तों और कहीं पक्षियों ने मंत्र प्रकट कर दिया था। राजा की आज्ञा बिना कोई वहाँ न आवे (जहाँ मंत्रणा हो रही हो) एवं मंत्र-भेदी का मूलोच्छेद कर दिया जाय।[२] पर्वतीय स्थान, राजप्रासाद, एकान्त आराम आदि में मंत्र मनु को स्वीकार्य है।[३] उनका मत है कि, जिसका मंत्र लोग नहीं जान पाते वह (दुर्व्यवस्था के अन्तर्गत) कोशहीन होता हुआ भी पृथिवी का उपभोग करता है।[४]

मंत्रियों के कर्तव्य—बार्हस्पत्य राज्य-चिन्तन के अन्तर्गत मंत्रियों का प्रमुख कार्य राजा को मंत्रणा द्वारा सहायता पहुँचाना था। संभवतः मंत्रि शब्द की व्युत्पत्ति भी वे मंत्र शब्द से ही करते थे। उनके मतानुसार, वे राजा के सलाहकार ही नहीं वरन् राज्य के उच्चस्तरीय अधिकारी भी होते थे। राज्य के समस्त शासन-यंत्र का भार, उसके महत्वपूर्ण कार्यों का संचालन एवं सम्पादन राज्य के केन्द्रीय मन्त्रिमण्डल अथवा मन्त्री पर निर्भर करता था। इस परिषद् के समस्त सदस्य अपने विभागों के विशेषज्ञ विभिन्न विभागीय मन्त्री होते थे। उनका उत्तरदायित्व केवल अपने विभाग के प्रति ही नहीं वरन् प्रधान मन्त्री के प्रति, राजा के प्रति एवं समस्त राष्ट्र के प्रति होता था। मूलतः यह व्यक्तिगत दायित्व होता था, किन्तु संभवतः समस्त मन्त्रिमण्डल का संयुक्त उत्तरदायित्व होता था।[५] बृहस्पति

---

१. नीति पृ० ११७।

निराश्रये प्रदेशे तु मंत्रः कार्यो न भूभुजा।
प्रतिशब्दो न यत्र स्यान्मंत्रसिद्धि प्रवांछता॥

२. अर्थ १।१५, पृ० २६।

श्रूयते हि शुकशारिकाभिः मन्त्रो भिन्नश्श्वभिरन्यैश्च तिर्यग्योनिभिः।
तस्मान्मन्त्रोद्देशमनायुक्तो नोपगच्छेत् उच्छिद्येतमंत्रभेदी।

३. मनु ७।१४७।

गिरिपृष्ठं समारुह्य प्रासादं वा रहोगतः।
अरण्ये निःशलाके वा मन्त्रयेदविभावितः॥

४. वही ७।१४८।

यस्य मन्त्रं न जानन्ति समागम्य पृथग्जनाः।
स कृत्स्नां पृथिवीं भुङ्क्ते कोषहीनोऽपि पार्थिवः॥

५. Grovernment of Greater European Powers.
The Govt. of Great Britain. Page. 147.

के मतानुसार जिस प्रकार सूक्ष्म दर्शन के लिये नेत्रों की प्रशंसा जाती है[१] उसी प्रकार सुष्ठु नीति के (प्रयोगों एवं ज्ञान) के लिये मंत्रियों की प्रशंसा होती है। उनके नीति नैपुण्य के कारण महान् कार्य भी उसी प्रकार सम्पन्न हो जाते हैं, जिस प्रकार पर्वत को जल काट देते हैं।[२] मन्त्रियों के शासकीय महत्व को स्वीकार करते हुए उनका कथन है कि भूपति के जो सेवक हों, वे सभी सचिव-सम्मत हों।[3] सेवक शब्द का प्रयोग बृहस्पति ने सामान्य परिजन के लिये न करके राजकीय अधिकारियों के लिये किया है। मन्त्रियों के व्यक्तिगत गुणों एवं चरित्र का महत्व स्वीकार करते हुए बृहस्पति का कथन है कि (मन्त्रियों की विशेषता) राज्य की धनवृद्धि के उपाय एवं रिपुक्षय हैं, जो इनका चिन्तन नहीं करता उससे क्या लाभ ?[४] वे उत्कोचजीवी (घूसखोर) मन्त्रियों के प्रबल विरोधी हैं। उनका कथन है कि, जिस (राजा) का मन्त्री वित्त इकट्ठा करने का लालसी हो जाता है उसके

The Cabinet is a collective executive. It is the executive in Commission. It is not the executive of the single headed or single person type. Ministers are of course, individually responsible for their department; but the Cabinet and in a derived sense, the whole of the Ministry, is responsible collectively.

Parliamentary Government in England···p. 222 and ff.

It is······an instrument for linking the executive branch of Government to the legislative. It is the body which directs the latter. It provides parliament with the policy upon which decisions are to be made. It pushes the stream of tendency through affairs by obtaining for its course the approval of the sovereign organ of the state.

१. नीति पृ० १३६।

सूक्ष्मालोकस्य नेत्रस्य यथाशंसा प्रजायते।
मंत्रिणोऽपि सुमंत्रस्य तथा सा नृपसंभवा॥

२. वही० पृ० १४४।

मार्दवेनापि सिद्धयन्ति कार्याणि सुगुरूण्यपि।
यतो जलेन भिद्यन्ते पर्वता अपि निष्ठुराः॥]

३. वही पृ० १२७।

४. वही पृ० ११०।

किं तस्य व्यवहारार्थैर्विज्ञातैः शुभकरैरपि।
यो न चिन्तयते राज्ञो धनोपायं रिपुक्षयम्॥

कार्य सिद्ध नहीं होते एवं भूमिप के पास धन कहां ?[1] अर्थात् उसका प्रश्न ही नहीं उठता।

मंत्रियों के राजनीतिक कर्तव्यों के विस्तृत विवरण देते हुए अग्निपुराणकार का मत है कि, राज्य के कार्य से सम्बन्धित मंत्रणा, अनुष्ठित कार्यों की सफलता के प्रयत्न, भावी (अर्थात् भविष्य) के लिये प्रबंध, कोश का विवरण, राज्य के साहस एवं वित्तीय विधि (कानूनों) का संग्रह, वृद्धिमती शत्रु-शक्ति को रोकना, उपद्रवों के रोकने के प्रयत्न करना तथा राजा एवं राज्य की रक्षा के प्रयत्न करना मंत्रियों के कार्य हैं।[2] अग्नि पुराणकार के ये वाक्य शाश्वत हैं और प्राचीन, अर्वाचीन एवं भविष्य आदि सभी युगों एवं कालों में समान रूप से महत्वपूर्ण रहे हैं और रहेंगे। कौटिल्य ने भी विषय का विवेचन करते हुए जनपदोपयोगी कार्य, अपने राज्य के योग-क्षेम के प्रयत्न, शत्रु द्वारा प्रयुक्त व्यसनों का प्रतीकार, निर्जन स्थानों का वसाना, दण्ड, कर लगाना एवं लोगों पर अनुग्रह आदि[3] अमात्यों के कार्य माने हैं। राजत्व के विकास के चिन्तन में इन सभी आवश्यकताओं की अनुभूति वृहस्पति भी कर चुके थे। यही स्थल है जहाँ राजा एवं मंत्रियों के कर्तव्यों में तादात्म्य स्थापित हो जाता है। आधुनिक राजनीतिक शब्दावली में मंत्रियों के अधिकार शासकीय, कार्यकारिणी एवं न्यायपालिका तीनों ही क्षेत्रों में थे। सामान्य परिस्थितियों में तो वे राज्य के शुभ चिन्तक उच्च स्थानीय अधिकारी होते थे किन्तु असाधारण परिस्थितियों में वार्हस्पत्य की भैष्मी टीका के अनुसार "अस्मत्प्रणेयो राजेति" कहते और राजकर्ता बन बैठते थे।[4]

---

१. वही पृ० १३८।

यस्य संजायते मंत्री वित्तग्रहणलालसः।
तस्य कार्यं न सिद्धचेत भूमिपस्य कुतो धनम्॥

२. अग्निपुराण २४१। १६–१८।

३. अर्थ १।१५, पृ० २८–२९।

४. शान्ति ५६।५९।

क्रीडितुं तेन चेच्छन्ति सूत्रेणेव पक्षिणः।

पंचम अध्याय

आन्तरिक नीति

आधुनिक युग की ही भाँति प्राचीन भारत में भी समस्त राजकीय कलापों एवं योजनाओं की सफलता के लिए राज्य की आन्तरिक अथवा गृहनीति का कुशल विनिश्चय एवं कार्यान्वियीकरण परमावश्यक होता था। आज के जनतंत्रीय शासन विधान में गृहमंत्रित्व का अपने दल की सत्ता के भविष्य निर्धारण में महत्वपूर्ण हाथ होता है और असफल गृहनीति दल के भविष्य को अंधकारमय कर देती है। इस प्रकार की जन-चेतना और उसके अच्छे अथवा बुरे दलगत प्रभाव के अभाव में भी प्राचीन भारत में गृहनीति का विनिश्चय कम महत्वपूर्ण नहीं था। कुशल एवं सुव्यवस्थित आन्तरिक नीति पर ही राज्य की शान्ति, समृद्धि, वैभव तथा उसका माहात्म्य निर्भर करता था। वास्तव में राज्य की आन्तरिक नीति ही उस आन्तरिक दृढ़ता को जन्म देती थी, जिसकी सफल पृष्ठभूमि पर आधारित विदेश नीति सफल एवं फलप्रसविनी हो सकती थी, और आन्तरिक क्षेत्र में भी राज्य के महत्व की स्थापना कर सकती थी। बार्हस्पत्य राज्य-व्यवस्था में आन्तरिक नीति विशेष रूप से महत्वपूर्ण है, क्योंकि, बृहस्पति राजा को एक राज्य के शासक से रूप में ही नहीं देखना चाहते वरन् वे साम्राज्यवादिता के क्षेत्र में पड़ोसी राज्यों का स्वत्वाहरण और अपने राजा को सम्राट् के रूप में देखना चाहते हैं।[1] इन प्रयत्नों के लिये कुशल रणनीति ही पर्याप्त नहीं थी। सुशासन की शीतल छाता में ही विक्रम तथा पराक्रम के प्रयत्न साकार हो सकते थे।

बार्हस्पत्य नीति की सार्वभौमिकता—बार्हस्पत्य अंशों में आन्तरिक नीति अथवा विदेश नीति के सूचक पारिभाषिक शब्द उपलब्ध नहीं होते। इसके विपरीत बार्हस्पत्य प्रयोगों में नीति शब्द का असंयत व्यवहार हुआ है। समस्त राज्य-व्यवस्था की आधार शिला होने के कारण नीति का अपना महत्व होता था। यदि इस शब्द की अर्थशास्त्रीय परिभाषा की जाय तो संभवत: इसका अर्थ होगा, वह क्रिया जिसके द्वारा समस्त राज्य-कार्य का अथ से इति पर्यन्त कुशलतापूर्वक नयन अथवा निर्वाह किया जा सके। वास्तव में अर्थशास्त्र ग्रन्थों का उद्देश्य भी यही था। कौटिल्य ने अपने ग्रन्थ में स्पष्ट वर्णन किया है कि

---

१. अध्याय ३ पृ० ८१, ८४।

पृथिवी के लाभ एवं पालन विषयक पूर्वाचार्यों के जितने भी अर्थशास्त्र हैं उनका संग्रह करके इस अर्थशास्त्र की रचना ही गयी है।[१] दण्डनीति का उद्देश्य बताते हुए कौटिल्य का कथन है कि, अप्राप्य वस्तुओं की प्राप्ति, प्राप्त वस्तुओं का संरक्षण एवं रक्षित वस्तुओं का विवर्धन और बढ़ी हुई वस्तुओं का कुशल वितरण नीति के उद्देश्य हैं।[२] मनुष्यों की जीविका का साधन, मनुष्यवती भूमि "अर्थ" हैं—उस पृथिवी के लाभ और पालन के उपाय सम्बन्धी शास्त्र अर्थ-शास्त्र हैं।[३] इस प्रकार बार्हस्पत्य नीति की परिभाषा अर्थशास्त्र की परिभाषा की समानार्थी हो जाती है अर्थात् राजकीय नीति का उद्देश्य तीन प्रकारों में विभक्त हो सकता था—प्रथम, अप्राप्य वस्तुओं की प्राप्ति, द्वितीय, प्राप्त वस्तुओं का संरक्षण, रक्षित् वस्तुओं की वृद्धि तथा, तृतीय, वृद्धि का उचित रूप से वितरण। प्राचीन से लेकर अर्वाचीन युग तक सरकारों के सम्मुख ये ही लक्ष्य रहे हैं। अत: बृहस्पति तथा कौटिल्य आदि अर्थशास्त्रियों ने यदि अपने अर्थशास्त्रों की रचना इस प्रकार के राजकीय कर्तव्यों एवं नीति-विनिश्चय के सिद्धान्त पक्ष को दृष्टिगत करके किया तो क्या आश्चर्य ? अर्थशास्त्र की रचना का उद्देश्य राजा और उसके उत्तराधिकारियों के सम्मुख राजकीय प्रशासन के आधारभूत सिद्धान्तों का शास्त्रीय पक्ष ही नहीं वरन् व्यवहार पक्ष भी प्रस्तुत करना। इस प्रकार के ग्रन्थ को आधुनिक शब्दावली में राजनिर्देशिका कहा जा सकता है।

राज्य के आदर्श—बार्हस्पत्य आन्तरिक नीति के अध्ययन के पूर्व एक प्रश्न का अध्ययन विशेष महत्वपूर्ण होगा। वह प्रश्न है—प्रजा और राज्य के सम्बन्धों की रूपरेखा क्या हो ? इस प्रकार के अध्ययन पर ही राज्य के दायित्व तथा आन्तरिक नीति के सिद्धान्तों का अध्ययन निर्भर करेगा। आधुनिक युग में प्रजा तथा राज्य के सम्बन्ध के बारे में दो दल अलग-अलग मंतव्य प्रकट करते हैं। एक दल साम्यवाद समर्थित है जिसका विचार है कि सभी क्षेत्रों में सभी विषयों में राज्य अग्रणी रहे और सभी उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो। इस विचारधारा का यह मन्तव्य होगा कि प्रजा के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में राज्य अथवा सरकार का हस्तक्षेप हो या राज्य पर समस्त कार्यों का दायित्व हो। इसके विपरीत दूसरा वर्ग सामाजिक संस्थाओं के विकास और व्यक्तिगत उद्योग का समर्थक है। इस वर्ग के समर्थकों का मत है कि राज्य प्रजा को अपने उद्योगों के विकास और जीवन को सफल बनाने के प्रयत्नों में सहायता तो यथावसर प्रदान करे

---

१. अर्थ १।१, पृ० १। २. वही १।४, पृ० ९।

३. वही १५।१, पृ० ४२७।

किन्तु प्रजा के जीवन में उसका हस्तक्षेप कम से कम हो। बार्हस्पत्य अंशों में इस प्रकार के किसी भी मत-मतान्तर का वर्णन उपलब्ध नहीं होता। राज्य की उत्पत्ति के बार्हस्पत्य सिद्धान्त के अनुसार अराज्य युग की निरन्तर सामाजिक, सांस्कृतिक, और धार्मिक अवनति के परिणाम स्वरूप राज्य का जन्म हुआ था और उस दशा को समाप्त करके राजनीतिक और सामाजिक शान्ति तथा सुव्यवस्था स्थापित करना राज्य का कर्तव्य था। इसी कारण राजत्व का उदय हुआ था। फलतः राजा चराचर सभी का स्वामी था।[1] यह भावना सैद्धान्तिक रूप से कभी भी राज्य-नियंत्रण का स्वरूप नहीं उत्पन्न कर सकी। यद्यपि राजा का कर्तव्य प्रजारंजन[2] माना गया है, फिर भी व्यावहारिक रूप से राज्य के अन्तर्गत बसने वाली प्रजा का वह नैतिक स्वामी होता था। सभी उसके अधिकार क्षेत्र में आ जाते थे अथवा दूसरे शब्दों में सबकी देखभाल उसका कर्तव्य हो जाता था।

प्रजा पालन की नीति क्या हो ?—बार्हस्पत्य परम्परा के अन्तर्गत एक राज्य के शासक के रूप में राजा राजनीतिक क्षेत्रों में ही सूत्रधार नहीं होता था वरन् राजत्व की उत्पत्ति सम्बन्धिनी मौलिक आवश्यकताएँ उसका कर्तव्य बन जाती थीं। राजा के लिये कर्तव्य पालन महत्वपूर्ण ही नहीं होता था वरन् वह त्यागमूर्ति भी हो जाता था। उसके समस्त कर्तव्य लोक-सम्मत भाषा में प्रजा पालन अथवा प्रजा रंजन कहलाते थे[3]। इन कर्तव्यों के पालन के लिये क्या नीति अपनायी जाय, इस प्रश्न पर बृहस्पति तथा अन्य अर्थशास्त्रियों में बड़ा मतभेद है। इसमें संदेह नहीं कि बृहस्पति इस प्रश्न के मौलिक विचारक नहीं थे क्योंकि उन्होंने स्वयं दो उग्रवादी विचारधाराओं का उल्लेख किया है। उनका महत्व इस प्रश्न से उत्पन्न होने वाले वितण्डावाद के उत्तम समाधान के लिये है। परस्पर विरोधी मतों का वर्णन करते हुए बृहस्पति का कथन है कि एक मत के अनुयायी प्रजापालन को राज्य का लक्ष्य मानते हैं—उस लक्ष्य की सिद्धि के लिये हत्या, तथा उन्मूलन आदि नीतियों का आश्रय भी सर्वथा उचित मानते हैं। दूसरे मत के समर्थक राजा के सम्मुख एकान्तशीलन अर्थात् अपने एक अन्त अथवा उद्देश्य की प्राप्ति के प्रयत्नों को मान्यता प्रदान करते हैं।[4] बृहस्पति

१. बृ० स्मृ० व्य० का० १।७–८ २. वही व्य० का० १।३८–३९।

३. शान्ति ५६।४५।

लोकरंजनमेवात्र राज्ञां धर्मः सनातनः।

४. वही २१।९।

राज्यमेके प्रशंसन्ति सर्वेषां परिपालनम्।

हत्वा भित्वा च छित्वा च केचिदेकान्तशीलिनः॥

इन दोनों उग्र मतों के मध्य अपना मत स्थिर करते हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि, भूतद्रोह न करते हुए अर्थात् प्रजा के प्रति निष्ठुर हुए बिना जिस धर्म (अर्थात् कर्तव्य) का पालन हो सके वही सज्जनों को मान्य है[1]।

माता का आदर्श—भारतीय संस्कृति में माता को त्याग, कल्याण एवं सहनशीलता की प्रतिमा माना गया है। वृहस्पति भी राजा के सम्मुख सद्यः-प्रसवित्री माता का आदर्श प्रस्तुत करते हैं कि, जिस प्रकार भावी शिशु की मंगल कामना करती हुई गर्भिणी (अपने गर्भ के निमित्त) मनोवांछित कार्यों का त्याग कर देती है, उसी प्रकार राजा को भी निश्चित रूप से कार्य करने चाहिये।[2] इस कथन से संभवतः बृहस्पति का यह तात्पर्य था कि, प्रजा के भावी सुख और समृद्धि के लिये राजा को भी अपने व्यक्तिगत और तात्कालिक हितों का परित्याग कर देना चाहिये। अग्नि पुराणकार और महाभारतकार ने भी समान रूप से बृहस्पति द्वारा प्रतिपादित मातृभावात्मक राज्य की भावना को मान्यता प्रदान की थी।[3] यही नहीं, महाभारतकार तो एक पग और आगे बढ़कर इन आदर्शों के विपरीत कार्य करने वाले राजा के लिये नरक का द्वार प्रशस्त करता है।[4] प्रजा कल्याणकारी अथवा समाज कल्याणकारी राज्य की यह बार्हस्पत्य कल्पना कौटिल्य से लेकर शुक्र पर्यन्त किसी भी अर्थशास्त्री को ग्राह्य न हो सकी। यह कल्याणकारी राज्य-भावना की चरमसीमा थी। इससे थोड़ा निचले स्तर पर बृहस्पति ने राज-सत्तम अथवा श्रेष्ठ राज्य का आदर्श रखा था। यह आदर्श पिता का आदर्श था। जहां माता त्याग मूर्ति होती थी,

---

१. वही। २१।१०।

एतत्सर्वं समालोक्य बुधानामेष निश्चयः।
अद्रोहेणैव भूतानां यो धर्मः स सतां मतः॥

अद्रोह का बार्हस्पत्य सिद्धान्त संभवतः ऐन्द्रमहाभिषेक की प्रतिज्ञा का ऋणी है—जिसमें राजा द्रोह न करने की शपथ लेता था। अध्याय ३, पृ० १०१।

२. वही ५६।४५। यथा हि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मनसोऽनुगम्।
गर्भस्य हितमाधत्ते तथा राज्ञाप्यसंशयम्॥

३. अग्निपुराणं २२२।८। नित्यं राज्ञा तथा भाव्यं गर्भिणी सहधर्मिणी।
यथा स्वं सुखमुत्सृज्य गर्भस्य सुखमावहेत्॥

शान्ति ४२।३,४। वलप्रजारक्षणार्थं धर्मार्थं कोषसंग्रहः।
परत्रेह च सुखदो नृपस्यान्यस्तु दुःखदः॥

४. शान्ति ४२।५। स्त्रीपुत्रार्थं कृतो यश्च स्वोपभोगाय केवलम्।
नरकायैव स ज्ञेयो न परत्र सुखप्रदः॥

वहीं पिता पुत्र के मंगल का अभिलाषी वैधानिक अनुशासक माना जाता था। पिता का यह आदर्श प्रस्तुत करते हुए बृहस्पति का कथन है कि पिता के घर में जिस प्रकार पुत्र रहते हैं उसी प्रकार जिसके राज्य में प्रजा रहती है, वह राजा राजसत्तम होता है।[१] पिता का यह आदर्श परवर्ती लोगों को अधिक ग्राह्य हुआ। प्राचीन भारतीय शासकों में उदारचेता शासक अशोक मौर्य ने भी इसे अपना प्रिय आदर्श बना लिया था। कई स्थलों पर उसने अपनी पितृ-भावना की अभिव्यक्ति की है। कलिंग अभिलेख में वह स्पष्ट रूप से प्रजा को अपनी संतान घोषित करता है।[२] मातृभावात्मक आदर्श प्रशासकीय क्षेत्र में उत्कृष्ट आत्मत्याग की ओर संकेत करता है, जब कि राज-सत्तम आदर्श कहीं अधिक भौतिक आदर्श, प्रेमपूर्ण, अनुशासित-प्रशासन का प्रतीक है। स्थितियों का अन्तर है, अन्यथा प्रजाहित दोनों का ही समान ध्येय है। कौटिल्य ने भी प्रजासुख और प्रजाहित को राजसुख और राजहित माना है। (उनका स्पष्ट कथन है कि), राजा का आत्म-प्रिय राजा का हित नहीं है वरन् प्रजा का प्रिय ही राजा का हित है।[3]

लोक कल्याणकारी राज्यः—लोक-कल्याणकारी राज्य की कल्पना करते हुए बृहस्पति का कथन है कि अपनी जाति एवं जीवों को दूषित नहीं करना चाहिये।[४] उनके इस कथन का विशेष महत्त्व है क्योंकि मनुष्य ही नहीं जीव-जगत् तक के लिये कल्याण-भावना का उन्होंने सृजन किया था। कल्याण-भावना से अशोक मौर्य ने अपने अभिलेखों का आरम्भ ही प्राण रक्षा, प्राण दया और प्राणि चिकित्सा की भावना के साथ किया था।[५] प्रजा के साथ राजा के सम्बन्धों

---

१. वही। ५७।३३ पुत्रा इव पितुर्गेहे विषये यस्य मानवाः।
निर्भया विचरिष्यन्ति स राजा राजसत्तमः॥

२. Select Inscriptions p. 42.
सवे मुनि से पजा ममा

३. अर्थ १।१९, पृ० ३९। प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्।

४. बृ० सू० १।४३। दूषयेन्न स्वजाति जीवत्सु।

५. अपने प्रथम शिलालेख में अशोक प्राणिवध का क्षेत्र संकुचित कर देता है। द्वितीय में, मनुष्य एवं पशुचिकित्सा की व्यवस्था की घोषणा करता है। स्तंभ लेख पाँचवें में वह सुरक्षित पशुओं की तालिका देता है और सातवें स्तंभ लेख में राज्य के द्वारा की गयी मनुष्यों और पशुओं के उदपान की व्यवस्था का वर्णन मिलता है।

की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए बृहस्पति का स्पष्ट कथन है कि अत्यधिक भेद, साम एवं दान का प्रयोग नहीं करना चाहिये तथा स्त्रियों के साथ दण्ड, माया और उपेक्षा आदि का प्रयोग नहीं करना चाहिये ।[1]

आस्थान मण्डप में राजकीय व्यवहार सम्बन्धी नियम—बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र के रचना काल तक निश्चय ही धर्मसूत्रों की रचना हो चुकी थी, जिनका तत्कालीन समाज पर वर्णाश्रमधर्म के रूप में प्रभाव पड़ चुका था। फलतः ब्राह्मण ग्रन्थों के रचना काल से अपनी धार्मिक प्रभुता स्थापित करने के प्रयत्नशील ब्राह्मणों का महत्व स्वीकृत हो चुका था। उनके महत्व के समर्थक के रूप में बृहस्पति का कथन है कि, आस्थान में ब्राह्मणों का (स्वागत) सिर हिलाकर, स्वागत वचनों द्वारा, आसन प्रदान करके, शिष्ट व्यवहार एवं ताम्बूल प्रदान करके करना चाहिये। दुष्ट ब्राह्मणों से किसी भी प्रकार नहीं (मिलना चाहिये[2])। अन्य तीनों वर्णों के लोगों के साथ मुस्कुरा कर एवं स्वागत शब्दों द्वारा (मिलना चाहिये)।[3] वृद्धों एवं बालकों को वांछित द्रव्य आदि देकर प्रसन्न करे ।[4] शूद्रों के प्रति न तो मुस्कुराये और न देखे। अन्त्यज एवं पाषण्डों से बात न करे ।[5] त्रिवर्ण में ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्य की गणना होती थी। ब्राह्मणों के विशेष वर्णन के बाद त्रैवर्ण का वर्णन स्पष्ट रूप से राजकीय महत्व के ब्राह्मणों तथा सामान्य कोटि के गृहस्थ ब्राह्मणों में अन्तर स्थापित करता है। साथ ही साथ शूद्रों, अन्त्यजों और पाषण्डों के साथ का व्यवहार निर्देश निश्चित रूप से धर्मसूत्र परम्परा का प्रभाव प्रकट करता है।

विभिन्न विभागों के प्रशासनिक आदर्शः—आन्तरिक प्रशासन की दृढ़ता और लौकिक उपादेयता ही वह शक्ति प्रदान करती थी जिसके बल राजा अन्तर-राज्य समस्याओं के समाधान में महत्वपूर्ण योग प्रदान कर सकता था। विभागीय प्रशासनिक नीति के मापदण्ड निर्धारित करते हुए बृहस्पति ने रक्षा

---

१. बृ० सू० १।५९, २।३८। अति भेदयेन्नाति सामं नाति दानं न च स्त्रीषु दण्डो न च मायोपेक्षा कर्तव्या।

२. वही १।१७, ३।३८, १।६९–७०।
शिरःकम्पास्थानेन स्वागतेन शिष्टताम्बूलदानेन ब्राह्मणोत्तमान्।
दुर्ब्राह्मणं शिरःकम्पनेन न सोपायनमपि।

३. वही १।७३। स्मितेन स्वागतेन त्रैवर्णिकान्।

४. वही १।७४, ७३–७५। अभीष्टद्रव्यादानेन बालवृद्धादीन्।

५. वही १।७३–७५।
ईक्षणस्मितेन स्वागतेन शूद्रान्न अन्त्यपाषण्डादीन् वाङ्मात्रेणापि न।

विभाग, चर विभाग, वित्त विभाग, न्याय विभाग तथा विदेश विभाग आदि प्रशासकीय विभागों के संगठन सम्बन्धी महत्वपूर्ण निर्देश किये हैं।

राजकीय महत्व के विभागों में प्राचीन भारत में रक्षा विभाग का विशेष महत्व था। राज्य के कर्तव्यों में आन्तरिक शान्ति कायम रखना और विदेशी आक्रमणों का सामना करने की सामर्थ्य रखना आवश्यक माना जाता था।[१] उस युग में रक्षा विभाग एवं राजकीय पुलिस विभाग में अन्तर नहीं माना जाता था। अतः आन्तरिक सुरक्षा का भी कार्य सैन्य विभाग के कर्तव्यों में था। बृहस्पति ने राज्य की शान्ति और सुरक्षा पर विशेष बल दिया है। उनका स्पष्ट मत है कि, जो राजा चोरों से प्रजा की रक्षा नहीं करता उसका राज्य पिता और पितामह के समय से ही क्यों न चला आ रहा हो, नष्ट हो जाता है।[२] बृहस्पति राजा के प्रजा और देश की सुरक्षा के समय तक ही राजकीय आय ग्रहण करने के नियम को स्वीकार करते हैं। सुरक्षा सम्बन्धी कार्यों में वे शत्रु के षड्यंत्र, चोर-भय और अन्यायमार्गी शक्तिशालियों से प्रजा की सुरक्षा को मानते हैं। बृहस्पति राज्य सीमाओं की सुरक्षा को विशेष महत्व प्रदान करते हैं। सामान्य रूप से राज्यों की नदी, पर्वत आदि के रूप में प्राकृतिक सीमाएँ होती थीं, किन्तु विजयी राजाओं के युगों में राज्य अपनी ही सीमाओं में संकुचित हो जाते, और कभी-कभी दूसरे राज्यों को सीमा पार करके और भी अधिक विशाल हो जाते थे। इस कारण बृहस्पति राज्य सीमाओं की सुरक्षा को विशेष बल प्रदान करते हैं। उनका कथन है कि जिसके राज्य में भूमि की मर्यादा भंग होती है, वह (राजा) कितना ही सम्पन्न क्यों न हो उसके शासन-काल में राज्य अरण्य सन्निभ (जंगल की भाँति) हो जाता है।[५] सुरक्षा एवं सैन्य प्रशासन के साथ साथ आन्तरिक प्रशासन भी महत्वपूर्ण विषय था। सैन्य-पुलिस विभाग राज्य के आन्तरिक स्थानों की सुरक्षा के प्रबंध करता था। बृहस्पति राजधानी (पुर) और महत्वपूर्ण दुर्गों में प्रवेश के इच्छुक व्यापारियों की स्थिति की छान-बीन आवश्यक मानते हैं। उनका कथन है कि पुर के द्वार पर निरोध किया जाय।[६] किन्तु ख्यातिलब्ध लोगों को रोकना वे उचित नहीं समझते, इस कारण उनका कथन है कि, सबका निरोध न किया जाय।[७] बृहस्पति आक्रमणों के समय होने वाले सैनिक उत्पीड़न के कट्टर विरोधी हैं।

---

१. बृ० स्मृ० व्य० का० १।३९ ; अध्याय ८ पृ० २०४–०५।
२. नीति पृ० १००।
३. बृ० स्मृ० व्य० का० १।४१।
४. वही व्य० का० १।३९।
५. नीति पृ० १९५।
६. बृ० सू० ३।२९।
७. वही ३।२०।

उनका कथन है कि, ग्रामों का घेरा नहीं डालना चाहिये और नगरों का भी नहीं।[1] पुलिस विभाग के अतिरिक्त गुप्तचर विभाग के कार्य विशेष रूप से महत्वपूर्ण होते थे। इसके कार्य थे—देश की आन्तरिक सूचनाएँ एवं शत्रु की सैन्य स्थिति की सूचनाएँ एकत्रित करना। गुप्तचरों की एक शाखा बार्हस्पत्य परम्परा के अनुरूप अरण्य-संभत्र होती थी। ये संभवत: राज्य के सीमान्त जंगलों में रहकर शत्रु की वास्तविक स्थिति की सूचना राजा को देते थे और धूम्र आदि संकेतों का प्रयोग करते थे।[2] गुप्तचर विभाग का कौटिल्य ने (१।११–१४) सबसे अधिक विस्तृत वर्णन किया है।

राष्ट्रीय वित्त व्यवस्था राजतंत्र का मेरुदण्ड होती थी क्योंकि उसकी योजना और कार्यान्वयीकरण पर ही राज्य-व्यवस्था का दारोमदार निर्भर करता था। अत: बृहस्पति वित्तीय नीति के निर्धारण में नैतिक गुण को विशेष महत्व प्रदान करते हैं। उनका कथन है कि जो राजा अधिक धन इकट्ठा करने के विचार से हीनाधिक कर उगाहता है उसके राष्ट्र का नाश हो जाता है, वृद्धि नहीं होती।[3] बृहस्पति कोशवृद्धि को आवश्यक मानते हैं। उनका मत है कि, जो कोशवृद्धि नहीं करता उसे आपत् काल में शत्रु कष्ट पहुँचाते हैं।[4] मनु का भी मत है कि कर और बलि आदि न वसूल करके अपनी जड़ें नहीं काट लेनी चाहिये और न धन के लोभ के कारण जनता की जड़ें काटे।[5]

बार्हस्पत्य राज्य-व्यवस्था का अन्य महत्वपूर्ण अंग न्याय प्रशासन था। इस प्रशासन की दृढ़ता पर ही राज्य की जनता का नैतिक आचरण और आन्तरिक शान्ति की स्थिति निर्भर करती थी। अत: बृहस्पति न्याय प्रशासन को राजा का पुनीत कर्तव्य मानते हैं। उनका कथन है कि यज्ञ में विष्णु की पूजा होती है और व्यवहार में महीपति की।[6] न्याय के महत्व को स्पष्ट करते हुए उनका वक्तव्य है कि दण्डनीयों को दण्ड न देने वाला और अदंड्यों को दण्ड देने वाला राजा नरकगामी होता है।[7] वास्तविक अपराधी की खोज वे आवश्यक मानते हैं क्योंकि उनका मत है कि जो दण्ड्य को दण्ड नहीं देता, पाप-दण्ड समन्वित होकर उसके राज्य मे मात्स्य-न्याय होता है।[8] बृहस्पति कण्टकोद्धरण को राजा के पुनीत कर्तव्यों में मानते हैं।[9] उनका मत है कि वैधानिकता के आधार पर

---

१. वही ३।५४–५५। २. नीति पृ० ११५, ३७०।
३. वही पृ० १०३। ४. वही पृ० २०३।
५. मनु ७।१३९। ६. बृ० स्मृ० व्य० का० १।११८।
७. वही व्य० का० १।७७, ११०। ८. नीति पृ० १०५।
९. बृ० स्मृ० व्य० का० १।३८–४२।

दण्ड देने वाला राजा पाप में लिप्त नहीं होता।[1] न्याय के आदर्शों को स्पष्ट करते हुए उनका कथन है कि अपने कर्तव्य से विचलित होने वाला व्यक्ति राजा का सम्बन्धी, भाई, पुत्र, आदरणीय, श्वशुर या मातुल ही क्यों न हो, अदण्ड्य नहीं है।[2] जातीयता, राजपरिवार और धर्म के बन्धनों से ऊपर निष्पक्ष न्याय का सिद्धान्त, बृहस्पति की अपनी विशेषता है।

नीति के विनिश्चय में मंत्रियों का स्थान :—मंत्र-शक्ति पर ही राजकीय योजनाओं और प्रशासन की स्थिति निर्भर करती थी। बार्हस्पत्य राज्य-व्यवस्था में मंत्रि-परिषद् का महत्व इसी कारण स्वीकार किया गया था। बृहस्पति मंत्रणीय विषयों पर मंत्रियों के मत प्रकट करने की विशेष प्रणाली स्वीकार करते हैं। यद्यपि उपलब्ध अंश में वर्णित मंत्र प्रक्रिया विदेश नीति से सम्बन्धित है जिसमें वक्ता यथागुरुत्व अपने मत को प्रकट किया करते थे किन्तु इस प्रकार के वाद-विवाद के प्रारंभ के पूर्व राजा कार्य निवेदन अथवा विषय को प्रस्तुत करता था।[3] संभवतः यही प्रक्रिया आन्तरिक नीति के निर्धारण के लिये भी उचित मानी जाती रही होगी। बृहस्पति राजकीय कर्मचारियों, विशेष कर महत्वपूर्ण पदाधिकारियों की नियुक्ति के प्रश्न पर भी मंत्रियों की मंत्रणा आवश्यक मानते हैं।[4] न्यायालय अथवा धर्म सभा में अमात्य, पुरोहित एवं प्राड्विवाक न्याय के विषयों पर राजा को मंत्रणा देते थे।[5] मंत्रणा का महत्व स्पष्ट करते हुए बृहस्पति का कथन है कि मंत्री और पुरोहित राजा के माता-पिता के समान होते हैं, जो (राजा) उनकी मंत्रणा नहीं मानता उसका अन्त दुर्योधन की भाँति होता है।[6]

शासन का लक्ष्य:—शासन का लक्ष्य अधिक सरल शब्दों में स्पष्ट करते हुए बृहस्पति का कथन है कि नीति का उद्देश्य धर्मार्थकामावाप्ति है—(अर्थात् धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि है)। इस त्रिवर्ग में अविरोध कार्य बृहस्पति का अभिप्रेत है, एक दूसरे वर्ग की मर्यादा का अपहरण नहीं। उनका कथन है, कि धर्म, अर्थ और काम की परीक्षा अपने वर्गीय गुणों के अनुरूप होनी चाहिये अन्योन्याश्रित नहीं।[7] वस्तुतः त्रिवर्ग सिद्धि के पश्चात् ही अन्तिम वर्ग अर्थात्

---

१. वही व्य० का० १।९८। २. वही व्य० का० १।७८।

३. वही ४।३७–४२। ४. नीति पृ० १२७।

५. बृ० स्मृ० व्य० का० १।६२, ६५, ६८ एवं ७०।

६. नीति पृ० १६०।

७. बृ० सू० २।४३–४८।

नीतेः फलं धर्मार्थकामावाप्तिः ।४३। धर्मं धर्मेण ।४५। अर्थं अर्थेन ।४६। कामं कामेन ।४७। मोक्षं मोक्षेण ।४८।

मोक्ष की उपलब्धि सम्भव थी। भारतीय समाजादर्श भी इन्हीं की सिद्धि अथवा उपभोग में निष्ठा रखते थे। मोक्षधर्म तक पहुँचने के लिये प्रारम्भिक तीनों वर्ग माध्यम का काम करते थे। मौलिक उद्धेश्य भी यही था कि इनका उपभोग करता हुआ व्यक्ति जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त हो सके। राज्य का जन्म, विकास एवं महत्व भी इसी निष्ठा पर आधारित था कि लौकिक सुखों की उपलब्धि हो सके और परलोक अथवा लोकान्तर भी सम्भल सके। इसी उद्देश्य की सिद्धि राज्य का अभिप्रेत था। अशोक मौर्य ने भी अपने अभिलेखों में स्पष्ट रूप से अपने परिश्रम और पराक्रम का यही उद्देश्य माना है। उसका कथन है कि मैं जो कुछ भी पराक्रम करता हूँ—वह किस लिये ? ताकि भूतों (अर्थात् प्रजा) के प्रति उऋण हो सकूँ।[१] प्रजा की लौकिक और मानसिक उन्नति करके वह उसे स्वर्ग में स्थान दिलाना चाहता था।[२] यह आदर्श और यथार्थ का सम्मिलन स्थल है।

नीतिज्ञ गुरु के महत्व पर बल देते हुए उनका विचार है कि, गुरु की आज्ञा माननी चाहिए चाहे वह धर्म विरुद्ध ही क्यों न हो।[3] नीति न जानने वाले गुरु के प्रति उनकी श्रद्धा नहीं प्रतीत होती। नीति विहीन शत्रु बृहस्पति की भाषा में पुत्रवत् है[४]। उनका कथन है कि विज्ञान रूपिणी प्रज्ञा अमोघ वस्तु है, उससे आहत पर्वत की भाँति भी दृढ़ शासक संभल नहीं पाते। नीति के सफल प्रयोग द्वारा वांछित फलों की प्राप्ति में निष्ठा रखते हुए उनका मत है कि, मृदुनीति द्वारा भी कभी-कभी अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य सिद्ध हो जाते हैं, जिस प्रकार निष्ठुर पर्वत भी जल से कट जाते हैं।[५] नीति का लक्ष्य निश्चित करते हुए उनकी स्पष्ट चेतावनी है कि, यदि जनमत किसी कार्य के विरुद्ध हो तो उसे न किया जाय।[६] किन्तु नीति के विनिश्चय और प्रयोग से पहले बृहस्पति दण्डनीति

---

१. Select Inscriptions p. 26.
    य च किंचि पराक्रमामि अहं किति भूतानं आनंणं गच्छेयं

२. Ibid p. 26.
    इध च नानि सुखापयामि परत्रा च स्वगं आराधयन्तु।

३. बृ० सू० २।४९। गुरुशासनं कार्यमेव विरुद्धं धर्मेणापि।

४. वही २।५०। नीतिवियुक्तः पुत्र इव शत्रुः।

५. नीति पृ० ३४६। प्रज्ञाशस्त्रममोघं च विज्ञानाद्बुद्धिरूपिणी।
    तया हता न जायन्ते पर्वता इव भूमिपाः॥

६. वही पृ० १४४। मार्दवेनापि सिद्ध्यन्ति कार्याणि सुगुरूण्यपि।
    यतो जलेन भिद्यन्ते पर्वता अपि निष्ठुराः॥

का ज्ञान परमावश्यक मानते हैं। उनके मतानुसार दण्डनीति का परित्याग करने वाला शासक अज्ञानवशात् अग्नि की ओर अग्रसर होने वाले शलभ की भाँति होता है।[1] चातुर्वर्ग्य की सिद्धि वे कठिन मानते हैं। अतः उनका कथन है कि महान् उद्देश्यों की पूर्ति के लिये यदि निम्न कोटि के व्यक्ति के पास जाना पड़े तो उचित है। यदि उसकी मंत्रणा भद्र अथवा कल्याणकारिणी हो तो स्वीकार किया जाय, अन्यथा उसे त्याग दिया जाय।[2]

इन्हीं बार्हस्पत्य सिद्धान्तों पर आधारित आन्तरिक नीति की सफलता पर ही विजिगीषु शासक की अन्तर-राज्यनीति का भविष्य निर्भर करता था।

---

१. बृ० सू० १।४;९४। धर्ममपि लोकविक्रुष्टं न कुर्यात्।
जनघोषे सति क्षुद्रकर्म न कुर्यात्।

२. वही १।११२। यः शास्त्रं दण्डनीतिं परित्यजत्यनर्थकः।
शलभा इव वह्निं प्रविशत्यज्ञानात्।

षष्ठ अध्याय

प्रशासकीय सेवाएँ

आधुनिक युग की ही भाँति प्राचीन भारत में भी प्रशासकीय सेवाएँ शासन का अनिवार्य अंग होती थीं। बृहस्पति के मतानुसार राजा की "प्रत्यक्षा" ही नहीं वरन् "परोक्षा" और "अनुमेया" वृत्ति होती थी,[1] जिसके निमित्त उसे न केवल मंत्रणादाता मंत्रियों की नियुक्ति करनी पड़ती थी, बल्कि उसे प्रशासन चक्र को सक्रिय रखने के लिये विभिन्न विभागाध्यक्ष तथा उनके सहायक राज-कर्मचारियों की भी नियुक्ति करनी पड़ती थी। बृहस्पति श्रेष्ठ स्तरीय मंत्रियों तथा विभागीय सेवाओं में नियुक्त अधिकारियों में अन्तर मानते हैं। प्रशासकीय अधिकारियों के निमित्त वे सेवक[2] शब्द का व्यवहार करते हैं। यह द्रष्टव्य है कि इस शब्द का प्रयोग उन्होंने राजकीय परिजनों के संदर्भ में कहीं नहीं किया है। आज के समृद्ध देशों की सरकारों के प्रमुख राष्ट्रीय पदों पर कार्य करने वाले अधिकारी राष्ट्रीय सेवक होते हैं। बार्हस्पत्य अंशों में कहीं भी उनकी नियुक्ति विधि के वर्णन नहीं मिलते। केवल एक स्थल पर बृहस्पति का कथन है कि भूपति के सेवक सचिव-सम्मत हों।[3] इस कथन का सम्भवतः यह अभिप्राय रहा होगा कि मंत्रिमण्डल तथा विभागीय अधिकारियों के सम्बन्ध मधुर बने रहें। वस्तुतः प्रशासकीय विभागों का सम्बन्ध उच्च स्तर पर मंत्रियों से स्थापित होता था। और उन्हीं के अंकुश-अनुशासन में वे कार्य करते थे।

सचिवालय--प्रशासन के संगठन, विस्तार एवं विभिन्न विभागों में पारस्परिक सम्बन्ध की स्थापना के निमित्त उस युग में भी सचिवालय की आयोजना होती रही होगी। विभिन्न विभागों के पत्र-प्रपत्र केन्द्रीय सचिवालय में संगृहीत होते रहे होंगे। सचिवालय संगठन में विभिन्न विभागीय अध्यक्ष, कार्यकर्ता अधिकारी, लिपिक तथा चतुर्थ श्रेणी के पुरुष नामक कर्मचारी होते रहे होंगे।

अष्टादश तीर्थ—बृहस्पति सूत्र में एक स्थल पर अष्टादश तीर्थों की योजना आवश्यक बतायी गयी है।[4] किसी भी स्थल पर तीर्थों के विषय में विस्तृत सूचनाएँ उपलब्ध नहीं होती। डा० प्रथम नाथ बनर्जी के अनुसार अष्टादश तीर्थों

१. शान्ति ५७।२६। २. नीति पृ० १२७।
३. वही पृ० १२७।
४. बृ० सू० ३।२२।

का उल्लेख चाणक्य ने भी किया है। (वे) सम्भवतः अधिक महत्वपूर्ण विभागों की ओर संकेत करते हैं। वास्तविक प्रशासन का वर्णन करते हुए वे लगभग तीस विभागों का वर्णन करते हैं।[१] रामायण[२] तथा महाभारत[3] में भी अष्टादश तीर्थों का उल्लेख मिलता है। अष्टादश तीर्थ पारिभाषिक की विवेचना करते हुए डा० जायसवाल का मत है कि एक प्राचीन वर्गीकरण "अष्टादश तीर्थ" नाम से ज्ञात था। कौटिलीय अर्थशास्त्र में वर्णित अष्टादश तीर्थों में मंत्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, दौवारिक, आन्तर वंशिक, प्रशास्तृ, समाहर्तृ, सन्निधातृ, प्रदेषद्, नायक, पौर, व्यावहारिक, कार्मान्तिक, मन्त्रिपरिषदाध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल, अन्तपाल को ही डा० जायसवाल अष्टादश तीर्थ मानते हैं।[४] यह ध्यान देने योग्य बात है कि कौटिल्य ने किसी भी स्थल पर तीर्थों का उल्लेख नहीं किया हैं किन्तु डा० बनर्जी एवं जायसवाल अत्यर्थदर्शी के रूप में उसमें तीर्थ के दर्शन करते हैं।

बार्हस्पत्य तथा कौटिलीय विभागों में कहाँ तक साम्य था, कहना कठिन है, फिर भी कोश, सैन्य, परराष्ट्र तथा न्यायविभागों के उपलब्ध वर्णनों के आधार पर प्रशासकीय सुविधा के निमित्त विभक्त होने वाले अनेक उप विभागों पर विचार प्रस्तुत किये जा सकते हैं। कोश विभाग से सम्बद्ध कृषि, शुल्क, अक्षपटलाधिकरण, खनिज तथा जंगल विभाग होते रहे होंगे। सैन्य विभाग स्पष्ट रूप से सर्वमान्य छ विभागों में विभक्त होता था। चर विभाग पृथक् रूप में विकसित होने के बाद भी प्रशासकीय सुविधा के विभिन्न सम्भवतः सैन्य तथा परराष्ट्र विभाग से संलग्न होकर कार्य करता था। परराष्ट्र विभाग वैदेशिक सम्बन्धों का निर्धारण तथा संचालन करता था तथा न्याय विभाग प्रशासकीय विभाग और न्यायालय दोनों ही रूपों में पृथक् स्तरों पर कार्य करता था। सम्भवतः दुर्ग, निर्माण विभाग तथा अनुशासन के निमित्त पृथक् व्यवस्था होती रही होगी।

कोश विभाग—बार्हस्पत्य कोश विभाग आकार-प्रकार में बड़ा विभाग होता था। वस्तुतः कोश शब्द समस्त आर्थिक व्यवस्था का द्योतक था। अतः आधुनिक प्रशासनों के वित्त तथा कृषि विभागों का इसे समन्वय माना जा सकता है। बृहस्पति इसे धनाध्यक्ष'[५] नामक अधिकारी के अन्तर्गत रखते हैं, जब कि कौटिल्य उसे कोशाध्यक्ष कहते हैं।[६] उत्तर वैदिक युग में सन्निधाता

१. Public Administration in Ancient India, p. 121.

२. रामायण २।१००।३७। ३. महाभारत २।५।२७।

४. Hindu Polity p. 290; अर्थ १।१२, पृ० २०।

५. बृ० स्मृ० व्य० का ६।२४। ६. अर्थ २।११, पृ० ७५।

तथा समाहर्ता इस विभाग के प्रमुख अधिकारी माने जाते थे।[1] कौटिल्य ने भी इन्हें मान्यता प्रदान की है।[2]

कृषि विभाग के प्रमुख अधिकारियों के वर्णन बार्हस्पत्य उद्धरणों में उपलब्ध नहीं होते। पाणिनि के प्रमाण पर डा० अग्रवाल ने अपना मत व्यक्त किया है कि, "क्षेत्रकर" नामक अधिकारी कृषि योग्य भूमि का क्षेत्रों में वर्गीकरण करते थे।[3]

जातक साहित्य खड़ी फसल में सरकारी भाग का अनुमान लगाने वाले अधिकारी को "गामभोजक" या "महामत्त" के नाम से जानता है।[4] कौटिल्य "समाहर्ता" को ग्रामीण आर्थिक प्रशासन का सर्वश्रेष्ठ अधिकारी मानते थे।[5] शुल्क विभाग चुंगीघरों पर व्यापारियों के पण्य का निरीक्षण करता था।[6] सम्भवतः खनिज सम्पत्ति एवं जंगल विभागों का पृथक् अस्तित्व रहा होगा तथा समस्त आर्थिक व्यय का विवरण उत्तरवैदिक युगीन अक्षपटलिक की भाँति किसी अधिकारी के अन्तर्गत रहा होगा। बृहस्पति ने अनुशासनवादी दृष्टिकोण अपना कर अन्याय एवं कर्तव्य शैथिल्य को राज्य के लिये घातक माना है।[7] उनके अनुयायी परिहापण (अथवा गबन) करने वाले अधिकारियों को दस गुना दण्ड देने के समर्थक थे। जब कि औशनस् बीस गुना, पाराशर आठ गुना तथा मानव यथावसर एवं अपराध के अनुरूप दण्ड का औचित्य स्वीकार करते थे।[8] कौटिल्य भी अपराध की गुरुता के अनुरूप दण्ड देने के सिद्धान्त के समर्थक थे।[9] कौटिलीय परिभाषा में कोश प्रवेश के मार्ग में बाधा उत्पन्न करने के सभी प्रयत्न "परिहापण" माने जाते थे।[10]

सैन्य विभाग—राज्य की शान्ति, दृढ़ता तथा अन्तरराष्ट्रीय सम्बन्धों के दृष्टिकोण से सैन्य विभाग विशेष रूप से महत्वपूर्ण होता था। बार्हस्पत्य राज्य-व्यवस्था के अन्तर्गत इस विभाग का प्रधान अधिकारी सेनापति होता था।[11] कौटिल्य भी इस विभाग के श्रेष्ठ अधिकारी को सेनापति मानते हैं।[12] पद के महत्व को दृष्टिगत करके बृहस्पति ने उसके लिये कुल, शील, शास्त्रीय ज्ञान तथा व्यावहारिक अनुभव को विशेष महत्व प्रदान किया है।[13] उसके लिये

---

१. Hindu Polity pp. 194–95. २. अर्थ २।५, पृ० ५७–५९।
३. India as known to Pāṇini p. 197.
४. Pre Buddhist India pp. 142–43. ५. अर्थ २।६, पृ० ५९।
६. नीति पृ० २३; बृ० सू० ३।२९। ७. अर्थ २।७, पृ० ६३।
८. वही २।७। पृ० ६३। ९. वही २।७, पृ० ६३।
१०. वही २।७, पृ० ६३। ११. बृ० स्मृ० पृ० ४९३।
१२. अर्थ २।३३, पृ० १४०। १३. बृ० स्मृ० पृ० ४९३।

अपनी तथा शत्रुसैन्य की सामर्थ्य का ज्ञान भी आवश्यक था।[१] अध्यक्ष[२] नामक अधिकारी के अन्तर्गत इसका प्रत्येक उपविभाग कार्य करता था।

प्रशासन की सुविधा के निमित्त सैन्य विभाग छ उपविभागों[3] में विभक्त था। अध्यक्ष के अन्तर्गत अन्य अधिकारी कार्य करते रहें होंगे जो अपनी योग्यता तथा अनुभव के आधार पर उच्च पद पर रहते रहे होंगे। उपलब्ध अंशों में हस्ति, अश्व तथा रथ विभागों के अध्यक्षों के वर्णन मिलते हैं।[४]

चर विभाग—सैन्य विभाग से ही सम्बन्ध चर विभाग रहा होगा, जो राष्ट्रीय प्रशासन में शान्ति स्थापना के निमित्त किये जाने वाले प्रयत्नों के लिये मार्ग प्रस्तुत करता तथा अन्तर-राष्ट्रीय क्षेत्रों में अपने देश के लिये सूचनाएँ एकत्रित करता रहा होगा।[५] कौटिल्य ने चरों का विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया है।[६]

विदेश विभाग—बार्हस्पत्य प्रशासन का अर्ध-धार्मिक तथा अर्ध-राजनीतिक उद्देश्य होता था। राजा को साम्राज्य स्थापना के उद्देश्य से विजिगीषु के[७] रूप में कार्य ही करने पड़ते थे। फलतः अन्तर-राज्य स्तर पर सम्बन्धों का निर्धारण इस विभाग के अन्तर्गत करना पड़ता था।[८] ये सम्बन्ध युद्ध एवं शान्ति कालीन दोनों होते थे। बार्हस्पत्य राज्य-व्यवस्था के अन्तर्गत विदेश विभाग का प्रधान सांधि विग्रहिक होता था।[९] गुप्त अभिलेखों में भी विदेश मंत्री सांधि-विग्रहिक कहलाता था।[१०] विदेश विभाग को अन्तर राष्ट्रीय क्षेत्रों में शान्ति सम्बन्धों अथवा युद्ध सम्बन्धों के निमित्त सन्धि और विग्रह कार्य करने पड़ते थे। इस विभाग में सम्भवतः पत्र प्रपत्र के निमित्त सचिवालय अवश्य होता था किन्तु मुख्य कार्य विभाग के अनुभवी, योग्य दूत करते थे जो विदेश में अपने देश का प्रतिनिधित्व करते थे और मन्त्री तथा शत्रुता के सम्बन्धों की घोषणा करते थे।[११] सम्भवतः विदेश विभाग और चर विभाग अन्तर-राष्ट्रीय स्तर के विदेशी सम्बन्धों के अध्ययन के निमित्त संलग्न होकर कार्य करते रहे होंगे। इस विभाग का जितना महत्व युद्ध काल में होता था उससे अधिक नहीं तो उतना ही महत्व शान्ति काल में भी होता था।

---

१. वही पृ० ४९३। २. वही पृ० ४९३।
३. शान्ति १०४।३७। ४. बृ० स्मृ० पृ० ४९३।
५. नीति पृ० ३६०; शान्ति १०४।३५।
६. अर्थ १।११–१२, पृ० १८–२२। ७. बृ० स्मृ० व्य० का० १।२३।
८. कामन्दकीय ८।२६।
९. बृ० स्मृ० व्य० का० ६।२४।
१०. Select Inseriptions, p-260, 280–283.
११. बृ० स्मृ० पृ० ४९३।

न्याय विभाग—बार्हस्पत्य राज्य-व्यवस्था का आधार ही शान्ति समृद्धि, धर्म एवं सामाजिक न्याय की स्थापना था जिसके कारण एवं निमित्त बृहस्पति राज्य, राजा एवं व्यवहार का सृजन स्वीकार करते हैं।[१] फलतः बार्हस्पत्य-व्यवस्था के अन्तर्गत न्याय प्रशासन एवं उसके संगठन का विस्तार अवाँछनीय नहीं होगा। वे न्याय विभाग का प्रधान अधिकारी प्राड्विवाक को मानते हैं,[२] जो न्याय मंत्री तथा प्रधान न्यायाधीश, दोनों ही, रूपों में कार्य करता था। उसके लिये बृहस्पति बहुश्रुत ब्राह्मण को वरीयता प्रदान करते हैं, जिसके अभाव में वे, विद्वान् क्षत्रिय अथवा धर्मशास्त्रज्ञ वैश्य की नियुक्ति के पक्षपाती हैं। उनका स्पष्ट आदेश है कि शूद्र को इस पद पर न नियुक्त किया जाय।[3] न्यायकरण कार्य के निमित्त बृहस्पति सात, पाँच या तीन सभ्यों की नियुक्ति को मान्यता प्रदान करते हैं।[४] जिनकी सहायता से प्राड्विवाक स्मृति के आधार पर निर्णय करता था। प्रधान न्यायाधीश के रूप में वह दोषहीन प्रतिवादी मुक्त करके जयपत्र देता था अन्यथा अपराधी पाकर दण्ड्य घोषित करता था।[५] इन साधनों में अध्यक्ष अर्थात् प्राड्विवाक निर्णय कारता था। सभ्य वाद के सत्यासत्य की परीक्षा करते थे। राजा दण्ड देता था। न्यायालय का गणक सम्बन्ध धन राशि की गणना करता था। लेखक प्राड्विवाक के निर्णय की लिपि बन्ध करता था।[६] सभ्यों तथा प्रतिवादी और साक्षियों को स्वपूरुष न्यायालय में उपस्थित करता था। न्यायसभा के इन सदस्यों के अतिरिक्त सम्भवतः न्यायविभाग के प्रशासन को सुचारु और गतिशील रखने के निमित्त एवं इस विभाग के केन्द्रीय तथा प्रान्तीय संगठन की देखभाल करने वाले अन्य अधिकारी होते रहे होंगे। जिनके अतिरिक्त लिपिकों का भी वर्ग होता रहा होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि न्यायालय अथवा न्यायसभा के सदस्य और वहाँ के कर्मचारी मूल रूप से विभागीय सेवाओं के ही व्यक्ति होते थे। सभ्य न्यायसभा के सदस्य होते हुए भी प्रशासकीय सेवाओं के व्यक्ति नहीं होते थे। वे राजकीय प्रभाव से स्वतन्त्र विद्वान् होते थे, जो श्रुति, स्मृति, स्थानीय लोकाचार एवं देशाचार के ज्ञाता होते थे।

अन्य विभाग—एक स्थल पर बृहस्पति ग्रामीण प्रशासन के प्रधान महत्तम का वर्णन करते हैं।[७] उपलब्ध बार्हस्पत्य अंशों में दुर्ग के प्रशासकीय अधिकारी

---

१. वही व्य० का०, १।१-९, वही सं० का० ७-८, बृ० सू० ३।१४१-४७।
२. वही व्य० का० १।६८-७०।
३. वही व्य० का० १।७१-७२।
४. वही व्य०का० १।५९, ६३।
५. वही व्य० का० १।८८-८९।
६. वही व्य० का० १।८८-९०।
७. वही व्य० का० १७।९।

दुर्गपाल तथा अन्तपाल के वर्णन नहीं मिलते। नही उसके सहायकों के वर्णन मिलते हैं। इसी भाँति कारागार तथा उसके अधिकारियों के भी वर्णन उपलब्ध नहीं होते। इसी प्रकार निर्माण विभाग के अधिकारियों अथवा उनके सहायकों के भी वर्णन नहीं मिलते जो राजकीय भवनों पाठशालाओं, मार्गों, मंदिरों एवं सेतुबन्धों के निर्माण का कार्य करता रहा होगा।

योग्यता एवं अनुभव का महत्व—बार्हस्पत्य-चिन्तन विभिन्न प्रशासकीय पदों के निमित्त योग्यताओं: शैक्षिक योग्यताओं, प्रयोग, ज्ञान तथा अनुभव को विशेष महत्व प्रदान करता है। पारिवारिक शालीनता और स्वभाव का भी महत्व स्पष्ट रूप में स्वीकार्य है।[1] बार्हस्पत्य वर्णनों से ज्ञात होता है कि निर्धारित योग्यताएं पदप्राप्ति के लिये आवश्यक होता था। पितृपरम्परा में महत्व-पदों के चलते रहने को बृहस्पति मान्यता प्रदान करते हैं।[2] प्रमाणों के अभाव में कहना कठिन है कि इन अधिकारियों का विभागान्तरण होता था अथवा नहीं। संभवत: राजकीय कर्मचारियों को वेतन मुद्रा में दिया जाता रहा होगा। बार्हस्पत्य वर्णनों में कार्षापण, चन्द्रिका, सुवर्ण तथा दीनार आदि मुद्राओं के उल्लेख मिलते हैं।[3]

प्रशासकीय सेवाओं में नियुक्त अधिकारियों के महत्व का वर्णन करते हुए डा० अल्तेकर ग्रीक लेखकों के आधार पर मानते हैं कि प्रान्तीय प्रशासकों; प्रान्तीय प्रमुखों, उप प्रशासकों तथा कोश और कृषिविभागों के अध्यक्षों, सेनापतियों और नौ सैनिक अधिकारियों की नियुक्ति में प्रशासकीय सेवाओं के अनुभवी अधिकारियों का विशेष हाथ होता था। स्पष्ट है कि सचिवालय के पुराने अधिकारियों की नियुक्ति इन पदों पर होती थी।[4] इस प्रकार की पद-वृद्धि के वर्णन किसी भी स्थल पर वृहस्पति नहीं करते।

१. बृ० स्मृ० पृ० ४९३। २. वही पृ० ४९३।

३. वही व्य० का० ८।१०।

४. State and Government in Ancient India, p. 182.

सप्तम अध्याय

कोश

विश्व राजनीति में यदि किसी ऐसी वस्तु का महत्व स्वीकार किया जाय जिसकी स्थिति राज्य–चिन्तन के आदि युग से लेकर आज तक अविरल तथा नित्य रूप में उसी प्रकार ही नहीं वरन् युग–युगान्तर में क्रमशः वृद्धिमती होती रही है, जिसके क्षणिक अभाव में भी राज्य की समस्त शासन-व्यवस्था की इति श्री हो जाय, तो ऐसी वस्तु एवं उसका भाव दो अक्षरों में संकलित "कोश" शब्द में अन्तरित हो सकता है। सुदृढ़ एवं समृद्धिशाली राज्य के लिये आर्थिक दृढ़ता अत्यन्त महत्वपूर्ण होती थी। अतः बृहस्पति तथा अन्य धर्मार्थशास्त्रियों ने समान रूप से राज्य-प्रकृतियों में कोश को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया है।[1] राज्य की समृद्धि के लिये ही नहीं, वरन् इस संसार के अर्थ प्रधान होने के कारण भी बृहस्पति के मतानुयायी उसकी उपादेयता स्वीकार करते हैं।[2]

बार्हस्पत्य राज्य-चिन्तन में कोश शब्द का व्यवहार केवल राजकीयकोश के ही संदर्भ में नहीं हुआ है। बृहस्पति ने इस शब्द का प्रयोग कहीं अधिक व्यापक अर्थ में किया है। वास्तव में कोश शब्द से उनका अभिप्राय राज्य की अर्थ नीति से है न कि सामान्य राजकोश से। बार्हस्पत्य चिन्तन के अनुरूप कोश के अन्तर्गत अर्थनीति के विनिश्चय और उसके सफल प्रयोग पर ही राज्य की शक्ति,

---

१. कामन्दकीय, ८।४, अर्थ ६।१ पृ० २५७, मनु ९।२९४; शान्ति ६९।६४, शुक्र १।६१।

यो विपदि सम्पदि च स्वामिनस्तंत्राभ्युदयं कोशयतीति कोशः। नीति पृ०२०३।

इस कथन का यह अर्थ होगा कि राज्य के प्रशासन की वृद्धि एवं अर्थवृद्धि दोनों ही कोशाधीन थी। बृहस्पति ने एक स्थल पर राज्य को सुमहत् तंत्र बताया है। अतः नीतिवाक्यामृत के टीकाकार का कथन तंत्रवृद्धि-सैन्यवृद्धि तंत्र शब्द का उचित अर्थ न होगा।

२. वही० २।४; अर्थ १।२ पृ० ६; बृ० स्मृ० व्य० का० १।८।

यही कारण है कि बृहस्पति अराजक में कृषि, कुसीद, वाणिज्य तथा पशु-पालन की अव्यवस्था मानते हैं। फलतः राज्य की स्थिति में ये ही आवश्यक कार्य हो जाते हैं और उन्हें सम्पन्न करने के लिये वार्ता तथा दण्डनीति का ज्ञान परमावश्यक था।

उसका महत्व तथा अन्तर-राज्य संबंधों की भावना निर्भर करती थी। अर्थ-नीति के विनिश्चय, उपकरणों एवं प्रयोगों के लिए अर्थसिद्धान्तों का ज्ञान भी परमावश्यक था।[१]

कोश की आवश्यकता—बृहस्पति तथा अन्य अर्थशास्त्रियों ने कोश को विशेष महत्व प्रदान किया है। बृहस्पति धन को ही समस्त क्रियाओं का मूल तथा उद्गम स्थान मानते हैं।[२] कौटिल्य भी धन को प्रधान महत्व प्रदान करते हैं।[३] कौटिल्य ने अर्थशास्त्र परम्परा बृहस्पति से शिष्य परम्परा में प्राप्त की थी। अर्थशास्त्र की कौटिलीय परिभाषा के अनुसार मनुष्यों की वृत्ति, मनुष्यवती भूमि सब अर्थ हैं। उनकी उपलब्धि और पालन के उपाय सम्बन्धी शास्त्र अर्थशास्त्र है।[४] ये दोनों ही बिना कोश के संभव नहीं। कौटिल्य का कथन है कि खानों से कोश, कोश से सेना, कोश और सेना से भूमि प्राप्त होती है।[५] वही धर्म (अर्थात् कर्तव्य) तथा काम (अर्थात् उपभोग) का मूल है।[६] बृहस्पति भी धनप्राप्ति के सभी न्यायोचित मार्गों का अनुमोदन करते हैं।[७]

---

१. अध्येय विषय कौन हो, प्रश्न पर बार्हस्पत्य मतानुयायी, वार्ता एवं दण्डनीति को ही विद्या स्वीकार करते थे, जैसा कि कौटिलीय अर्थशास्त्र में उपलब्ध वर्णन वार्ता दण्डनीतिश्चेति बार्हस्पत्याः। अर्थ १।२, पृ० ६, कामन्दकीय २।४ से ज्ञात होता है। कौटिल्य ने भी अर्थानर्थौ वार्तायाम्। (वही १।२, पृ० ६) कथन द्वारा अर्थ के महत्व की पुष्टि की है।

२. बृ० स्मृ० व्य० का० ७।१। धन मूलाः क्रियाः सर्वाः।

३. अर्थ २।८, पृ० ६५। कोशपूर्वास्सर्वारंभाः।

शान्ति ११९।१६; कामन्दकीय १९।१६; नीति पृ० २०३। कोशो हि भूपतीनां जीवितं न प्राणाः।

४. वही १५।१, पृ० ४२६।

५. वही २।१२ पृ० ८५। ६. वही २।१२, पृ० ८५।

७. बृ० स्मृ० व्य० का० ७।१। सर्वा यत्नास्तत्साधने मताः।

नीतिवाक्यामृत का जैन लेखक भी अर्थशास्त्रीय परम्परा का अनुगमन करता हुआ कहता है कि विपत्ति और उत्कर्ष के समय जो प्रशासन को सुचारु करे और अर्थ (—धन) वृद्धि करे वही कोश है (नीति २१।१)। बृहस्पति भी धन का वर्धन, रक्षण और उपभोग, उसका विधिक्रम मानते हैं। (बृ० स्मृ० व्य० का० ७।१) संभवतः उनका उद्देश्य उत्तराधिकार में प्राप्त कोश की अभिवृद्धि, रक्षा और उचित प्रयोग था। बृहस्पति की ही भाँति नीतिवाक्यामृत का लेखक भी कोशवृद्धि और अर्जित धन का उपयोग महत्वपूर्ण मानता है। (नीति पृ० २०२)। वह तो कोश को ही राजा की जीवनी शक्ति मानता है। प्राणों को नहीं (कोशो हि भूपतीनां जीवितं न प्राणाः पृ० २०३)

कोश के इस महत्व के राजनीतिक तथा सामरिक दोनों कारण थे। बृहस्पति राजा को वेतन भोगी शासक के रूप में स्वीकार करते हैं, जिसका वेतन षड्भाग होता था जो उसे शत्रु के षड्यंत्रों, आन्तरिक अव्यवस्था और अन्याय से प्रजा की रक्षा के निमित्त प्रदान किया जाता था।[१] इस भावना से स्पष्ट है कि इस षड्-भाग के अभाव में वह अपने कर्तव्यों का पालन नहीं कर सकता था और यही षष्ठांश कोश वृद्धि का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण अंग होता था। अतः बार्हस्पत्य कोश सिद्धान्त के आधारभूत कारण राजनीतिक और सामारिक ही थे। शुक्रनीति के लेखक ने भी बल--(सेना), प्रजा तथा यज्ञ के निमित्त कोशसंग्रह का महत्व स्वीकार किया है। (उनके अनुसार) दोनों लोकों में सुखप्रदान करने वाला और शत्रु राजा को दुखदायी (कोश होता है)।[२] विष्णु धर्मोत्तर के लेखक का मत है कि, वित्तवान् राजा शत्रुघात में समर्थ होता है और शत्रु के सम्मुख शिथिल नहीं होता। सुदीर्घ कालीन विग्रह (—कूटनीतिक शीत युद्ध) भी कोश-वान् व्यक्ति ही कर सकता है। महती सैन्य वाले शत्रुओं में भी धनवान् व्यक्ति भेद डलवा सकता है।[3] दण्ड के इस सामरिक महत्व के कारण कौणपदन्त कोश से अधिक महत्वपूर्ण सेना को मानने लगे थे। उनका मत था कि, कोश और दण्ड में दण्ड व्यसन अधिक भयंकर है। मित्र और शत्रु पर निग्रह दण्ड द्वारा ही हो सकता है। शत्रु सेना को पक्ष में लाना और स्वसैन्य को नियमित करना—दण्ड द्वारा ही संभव है। दण्ड के अभाव में कोश का विनाश निश्चित है।[४] किन्तु अर्थशास्त्र परम्परा के पक्षपाती के रूप में कौटिल्य कौणपदन्त के मत के समर्थक नहीं हो सके। उनका स्पष्ट मत है कि यह (मत) ठीक नहीं। दण्ड का मूल कोश में है। कोश के अभाव में दण्ड (—सेना) शत्रु की ओर चला जाता है।

---

१. वही व्य० का० १।३९, ४१।

२. शुक्र ४।११८।

३. वीरमित्रोदय—राजनीतिप्रकाश पृ० २५७।

रिपुघातसमर्थः स्याद्वित्तवानेन पार्थिवः।
परचक्रोपमर्द्देषु वित्तवान्नैव मुह्यति॥
वित्तवानेव सहते सुदीर्घमपि विग्रहम्।
बहुदण्डानपि परांस्तथा भिन्द्याद्धनाधिकः॥

४. अर्थ ८।१, पृ० ३२३–३२४। कोशदण्डव्यसनयोर्दण्डव्यसनम् इति कौणपदन्तः।"

दण्डमूलो हि मित्रामित्रनिग्रहः परदण्डोत्साहनं स्वदण्डप्रतिग्रहश्च। दण्डाभावे च ध्रुवं कोशविनाशः।

या राजा को मार डालता है।[१] कामन्दकीय नीतिसार कोश को राष्ट्रीय महत्व की योजनाओं और शासन यंत्र के संचालन के लिये भी आवश्यक मानता है। उसका कथन है कि, भृत्यों का भरण अर्थात् राजकीय कर्मचारियों का वेतन, दान और राजकीय आभूषणों और वाहन के लिये, दुर्ग के संस्कार (सैनिक आवश्यकता के अनुरूप दुर्ग की मरम्मत), राज्य की स्थिरता, सेतु बंधों के निर्माण वणिक्कर्म अर्थात् वाणिज्य के प्रबन्ध तथा धर्म, काम और अर्थ की (त्रिवर्ग) सिद्धि कोश से ही संभव है। (कोश) प्रजा को स्वामिभक्त बनाना है, कोशवान् पृथिवीपाल के शत्रु भी आश्रित होते हैं।[२] राज्यों के जन्म के साथ ही कोश का भी महत्व स्वीकार किया गया था। बृहस्पति गुणवान् कोश की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि आपत्तिकाल में बहुव्ययक्षम स्वर्ण आदि से परिपूर्ण कोश, गुणवान् माना जाता है। वे गायों को भी राष्ट्रीय महत्व प्रदान करते हैं। और शुल्कों की नियमितता कोश की अभिवृद्धि के लिये आवश्यक मानते हैं।[3] राजा के सम्मुख बृहस्पति धन की वृद्धि, संरक्षण और उचित व्यय का आदर्श प्रस्तुत करते हैं।[४] राजनीतिक इतिहास में बृहस्पति ने अपना सर्वाधिक महत्वपूर्ण मत शक्तिशाली और अधिक धन सम्पन्न राजा के साथ मंत्री के विरुद्ध प्रकट किया था। इस प्रकार के सम्बन्ध को वे लाभ के लिये नहीं वरन् महान् व्यय का कारण मानते हैं।[५] संभवतः इस सिद्धान्त का अभिप्राय शक्तिशाली के साथ शक्तिहीन की आर्थिक बाधाओं आदि की रूपरेखा रही होगी जो कूटनीतिक दौत्य सम्बन्ध के लिये राष्ट्रीय कोश पर बहुत बड़ा आघात रहता रहा होगा।

बृहस्पति कोशवृद्धि के लिये राजा को सचेत करते हैं। उनका मत है कि, कोश का महत्व राजकीय आय के रूप में ही नहीं है वरन् व्यय की मदों की पूर्ति

---

१. वही ८।१, पृ० ३२३–३२४। नेति कौटिल्यः। कोशमूलो हि दण्डः। कोशाभावे दण्डः परंगच्छति स्वामिनं वा हन्ति। सर्वाभियोगकरश्च कोशो धर्म-काम हेतुः।

२. कामन्दकीय १३।३१-३४

३. नीति पृ० २०२ आपत्काले तु सम्प्राप्ते बहुव्ययसहक्षमः
हिरण्यादिभिः संयुक्तः स कोशो गुणवान् स्मृतः
वही पृ० १९६। प्रभूता धेनवो यस्य राष्ट्रे भूपस्य सर्वदा।
हिरण्याय तथा शुल्कं युक्तं कोशाभिवृद्धये ॥

४. बृ० स्मृ० व्य० का० ७।१।

५. नीति पृ० ४०१। महद्भिः सह नो कुर्याद्व्यवहारं सुदुर्बलः
गतस्य गोचरं तस्य न स्यात्प्राप्त्या महान् व्ययः ॥

भी राष्ट्रीय आय पर निर्भर करती है।[१] वे राज्य की कुशल अर्थनीति के लिये राजा तथा राजकर्मचारियों के नैतिक चरित्र का महत्व स्वीकार करते हैं।[२] बृहस्पति का आदेश है कि धन के लोभ से ही हीनाधिक कर नहीं लगाने चाहिये क्योंकि हीनाधिक कर लगाने वाले राजा के शासन में राज्य नष्ट हो जाता है। स्मृतियों द्वारा निर्दिष्ट पद्धति पर दण्ड देने वाला राजा अपराधी हीनाधिक के पाप में लिप्त नहीं होता है। जो राजा अपने कोश में एक काकिणी की भी वृद्धि नहीं करता आपत्ति काल में उसे शत्रु पीड़ित करते है। जो पितृपैतामह कोश का व्यय जो व्यसनों की तृप्ति के लिये करता है और धन का उपार्जन नहीं करता वह निश्चय ही दरिद्र हो जाता है।[३] वे कठोर शरीर और अर्थदण्ड द्वारा धन संग्रह और उच्चवंशीय अथवा राजवंशीय लोगों के साथ सामान्य रूप में न्याय के क्षत्र में आवश्यकता से अधिक किये जाने वाले उदार व्यवहार के विरोधी हैं। अर्थ के रूप में मिलने वाले धन को वे राजकीय आय का साधन मानते हुए उसकी वैधानिकता एवं व्यवहार के समर्थक है।[४]

वित्त विभाग—उपलब्ध बार्हस्पत्य अंशों में वित्त विभाग के संगठन के सम्बन्ध में बहुत कम वर्णन मिलते है। ऐसा प्रतीत होता है कि बृहस्पति ने भी उत्तर वैदिक युगीन वित्त विभागीय संगठन को सामान्य परिवर्तनों के साथ मान्यता प्रदान की थी।[५] व्यवस्था बनाये रखने के लिये बृहस्पति इस विभाग को विभागीय अध्यक्ष के अन्तर्गत रखते हैं।[६] यह अर्थोपधाशुद्ध व्यक्ति होता

---

१. वही पृ० २०३। २. वही पृ० १३८।

३. वही पृ० १०३,१०२, २०३, ३०।

यो राजा धनलोभेन हीनाधिककरप्रियः।
तस्य राष्ट्रं व्रजेन्नाशं न स्यात्परं वृद्धिमत्॥
स्मृत्युक्तवचनैर्दण्डं हीनाधिक्यं प्रपातयन्।
अपराधकपापेन लिप्यते न विशुद्ध्यति॥
काकिण्यापि न वृद्धिं यः कोशं नयति भूमिपः।
आपत्काले तु सम्प्राप्ते शत्रुभिः पीड्यते हि सः॥
पितृपैतामहं वित्तं व्यसनैर्यस्तु भक्षयेत्।
अन्यन्नोपार्जयेत् किंचित् स दरिद्रो भवेद् ध्रुवम्॥

४. बृ० स्मृ० व्य० का० ७।११।
द्विविधं क्षत्रियस्यापि प्राहुर्वैशेषिकं धनम्—दण्डाच्च व्यवहारतः।

५. वही व्य० का० १।७७।

६. उत्तरवैदिक युगीन राजतंत्रों में राजकर्ताओं में सन्निधाता, समाहर्ता, और अक्षावाप आदि पदाधिकारियों की गणना की जाती थी। सन्निधाता,

रहा होगा[१]। कौटिल्य इसे कोशाध्यक्ष की संज्ञा प्रदान करते हैं।[२] शुक्र कोशाध्यक्ष के पद के लिये योग्यताएँ निर्धारित करते हुए कहते हैं कि वह इन्द्रिय दमन में समर्थ, धन सम्पन्न, व्यवहार कुशल तथा धन को प्राण की भाँति मानने वाला व्यक्ति हो।[3] इस विभागीय अध्यक्ष के अतिरिक्त अन्य पदाधिकारी समाहर्ता और सन्निधाता आदि बार्हस्पत्य अर्थ-व्यवस्था के अन्तर्गत होते रहे होंगे। कौटिल्य ने भी इन अधिकारियों का उल्लेख किया है।[४]

बार्हस्पत्य अंशों में भूमि की नाप करने और उपज का अनुमान लगाने वाले अधिकारियों के वर्णन नहीं मिलते फिर भी इतना निश्चत है कि इन अधिकारियों का महत्व बृहस्पति के युग में भी रहा होगा क्योंकि इन अधिकारियो के अभाव में राज्य का षड्भाग निश्चित करने वाला कोई न होता। बुद्ध युगीन भारत[५] और पाणिनि के युग में भी[६] इन अधिकारियों की स्थिति थी। जातकों से हमें ज्ञात होता है कि खड़ी फसल में सरकारी भाग का अनुमान लगाने वाले पदाधिकारी होते थे। राजतंत्रों में उपज का वार्षिक भाग राजा को होता था। यह फसल में होता था जिसे गामभोजक या महामत्त माप के बाद निश्चित करते थे।[७]

विभाग का सामान्य प्रशासक होता था। समाहर्ता कर आदि का संग्रहकर्ता, अक्षावाय-अक्षपटलाधिकरण का प्रमुख अधिकारी और गोविकर्ता वन विभाग का प्रमुख अधिकारी होता था। वन संभवतः राष्ट्रीय सम्पत्ति माने जाते थे।

१. अर्थ १।१०, पृ० १७।

अर्थोपधाशुद्धान् समाहर्तृसन्निधातृ निचयकर्मसु।

२. उपलब्ध बार्हस्पत्य अंशों में कोशाध्यक्ष की कर्तव्य तालिका उपलब्ध नहीं होती। कौटिलीय के वर्णनों से ज्ञात होता है कि कोश में प्रवेश के निमित्त लाये गये रत्न. सार (लड़की इत्यादि), फल्गु (वस्त्र) कुप्य (धातु) इत्यादि वस्तुओं के पृथक्—पृथक् संग्रह कर्त्ताओं की उपस्थिति में इन्हें ग्रहण करना कोषाध्यक्ष का कर्तव्य था। (अर्थ० २।११, पृ० ७५)

३. शुक्र, २।१५१-१५२। ४. अर्थ २।३४, पृ० १४१-१४३।

कौटिल्य आर्थिक ग्रामीण प्रबंध में समहर्ता को सर्वोच्च पदाधिकारी मानते हैं। वह ग्रामीण कृषि संबंधो कार्यों का अन्तिम अधिकारी था। वह पूरे जनपद अथवा आधुनिक परिभाषा के सम्पूर्ण जिले का अधिकारी होता था। सन्निधाता कोशगृह, पण्यगृह, कोष्ठागार, कुप्यगृह, आयुधागार और बन्धनागार के प्रबंध के लिये उत्तरदायी होता था।

५. Pre-Buddhist India, pp. 142-43.

६. India as known to Pāṇini p. 197;

७, Pre-Buddhist Iadia pp. 142-43.

पाणिनि ने भी अष्टाध्यायी में क्षेत्रकरों का का उल्लेख किया है। डा० अग्रवाल का अनुमान है कि ये अधिकारी कृषि योग्य भूमि का क्षेत्रों में वर्गीकरण करते थे[१]।

वित्त विभागीय अनुशासन तथा परिहापण सम्बन्धी नियम—बृहस्पति राजकीय वित्तव्यवस्था के प्रति विशेष रूप से जागरूक—हैं। वे उच्च स्तरीय प्रशासकीय अनुशासन के पक्षपाती हैं। अतः उनका स्पष्ट कथन है कि जिसका मंत्री ही धनलोलुप हो जाता है, उस राजा के पास धन कहाँ ?[२] व्यवहार और अर्थ (सिद्धान्तों) के ज्ञाता से क्या लाभ जो राजा के धनोपाय अर्थात् अर्थ लाभ के मार्ग और शत्रु के क्षय की चिन्ता नहीं करता।[3] उन्हें भली-भाँति ज्ञात है कि शुल्क स्थानों में ही विशेषरूप से कुप्रबंध होता है। उनका कथन है कि शुल्क स्थानों पर अल्प अन्याय भी[४] विनाशकारी होता है। बृहस्पति को भली भाँति ज्ञात है कि यह विभाग राष्ट्रीय लाभ का ही नहीं, अनुशासन की कमी में व्यक्तिगत लाभ का भी हो सकता है। उन्होंने वित्त-विभागीय नियमों की कठोरता के निर्देश और विभागीय अनुशासन की रूपरेखा का निर्माण व्यक्तिगत लाभ उठाने वाले अर्थात् परिहापण अथवा गबन करने वाले अधिकारियों को रोक थाम के लिये किया था।[५] सामान्य रूप से गबन को वर्तमान शासकों की कमजोरी माना जाता है किन्तु यह अद्भुत सत्य है कि बृहस्पति तथा कौटिल्य को इस प्रकार के परिहापणों को रोकने के लिये विशेष नियमों का निर्देश करना पड़ा था।[६] उपलब्ध बार्हस्पत्य अंशों में परिहापण सम्बन्धी उल्लेख नहीं प्राप्त होते किन्तु अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने विभिन्न नियमों के संदर्भ में बृहस्पति के परिहापण सिद्धान्त का वर्णन किया है। कौटिलीय के आधार पर ही अधिक स्पष्ट वर्णन संभव है।

---

१. India as known to Pāṇini p. 197.

Kshetrakara (I1I. 221) maker of a field–This term denoted an officar who divided the cultivable area into plots by survey and measurement. Megasthenes also refers to officers whose duty was to measure lands for purposes of revenue (Prag. 34)

२. नीति पृ० १३८। यस्य संजायते मंत्री वित्तग्रहण-लालसः।
तस्य कार्यं न सिध्येत भूमिपस्य कुतो धनम् ?

३. वही, पृ० ११०। किं तस्य व्यवहारार्थविज्ञातैः शुभकरैरपि।
यो न चिन्तयते राज्ञो धनोपायं रिपुक्षयम्।

४. अर्थ २।७, पृ० ६३।

५. वही २।७, पृ० ६३।

६. वही २।७, पृ० ६३।

कौटिल्य ने व्यक्तिगत हित के लिये सत्य का छिपाना भी परिहापण माना है। वास्तव में उनके परिहापण की परिभाषा के अन्तर्गत राजकीय भाग के राजकोष में पहुँचने से रोकने के सभी प्रयत्न माने जाते थे।[१] एक राजकीय अधिकारी जो चरों द्वारा इकट्ठा की गयी सूचनाओं की ओर ध्यान नहीं देता, अपने विभागीय कार्य को निर्धारित ढंग पर नहीं करता, उसके अज्ञान के कारण सरकार की वित्तहानि होती है, या वह अपनी अक्रियता के कारण जब अपने कार्यभार को संभालने में असमर्थ होता है या अपने ज्ञान या अनुभूति की कमी के कारण जब वह लोकापवाद से भयभीत होता है, कर्तव्यविमुखता के कारण, विपरीत परिणामों के कारण या किसी व्यक्तिगत नाम के लिये, किसी व्यक्ति के लाभ के लिये कार्य करता है, या क्रोधजन्य निर्दयता के कारण, या अपनी प्रतिष्ठा की कमी को आर्थिक लाभ के इच्छुक बिद्वानों से घिरा हुआ होने के कारण करता है, या गलत हिसाब-किताब गलत ढंग के कारण और धनलोभ के कारण गलत योग करता है (परिहापण करता है) ।] कौटिलीय के अनुसार पूर्वाचार्यों ने इस प्रकार के कार्यों को आहरण माना है। इस प्रकार की परिस्थिति में सम्बन्धित धनराशि के अनुपात का दस गुना अधिक दण्ड बार्हस्पत्य आवश्यक मानते हैं। औशनस बीस गुना अधिक दण्ड ठहराते हैं, जब कि पाराशर धनराशि का आठ गुना अधिक दण्ड निर्धारित करते हैं। मनु के अनुयायी धनराशि के बराबर और अपराध की स्थिति के अनुरूप दण्ड निश्चित करते हैं।[२] कौटिल्य किसी सामान्य नियम का निर्देश न करके अपराध के महत्व के अनुसार दण्ड देने के समर्थक हैं।[३]

अर्थनीति के विनिश्चय के सिद्धान्त—समस्त राज्य-व्यवस्था के संचालन के लिये बृहस्पति तीन गुणों[४] (मंत्र गुण, अर्थगुण तथा सहायगुण) का सम्मिलन आवश्यक मानते हैं और इनसे युक्त राजा को वे गुणवान् की संज्ञा प्रदान करते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि जनता में जिस राजा की गुणवान् के रूप में

---

१. वही २।७, पृ० ६३।

२. वही २।७, पृ० ६३।

"दशगुण: इति बार्हस्पत्या:

"तेषां आनुपूर्व्या यावानर्थोपधात: तावानेकोत्तरो दण्ड:" इति मानवा:।

"सर्वत्राष्टगुण:" इति पाराशरा:।" विशंतिगुण:" इत्यौशनसा:।

३. वही २।७ पृ० ६३।

"यथाऽपराधम्" इति कौटिल्य:।

४. बृ० सू० २।१-२

प्रसिद्धि है, उसे अन्य लोग निर्गुण कैसे कह सकते हैं ?[1] बृहस्पति के कथन से स्पष्ट है कि अर्थगुण या आर्थिक नीति का विनिश्चय विशेष महत्वपूर्ण होता था और यही गुण उसमें विशेष रूप से गुणों की स्थापना करता था। यदि उसमें अर्थ नीतिनिर्धारण की क्षमता होती थी तो गुणहीन कहाने का प्रश्न ही नहीं उठता था। कर निर्धारण के सिद्धान्त स्पष्ट करते हुए बृहस्पति का स्पष्ट मत है कि देश की परम्परा के अनुरूप प्रजापालन (प्रशासन) होना चाहिये अन्यथा प्रजा में क्षोभ व्याप्त हो जाता है। प्रजा शत्रुपक्ष की ओर आकर्षित हो जाती है और बल तथा कोश नष्ट हो जाते हैं।[2]

करनीति के निर्धारण में बृहस्पति निम्नलिखित सिद्धान्तों का पालन अनिवार्य मानते हैं।

करनीति का उद्देश्य लोकहितः—बृहस्पति कर निर्धारण का प्रथम और अन्तिम उद्देश्य लोकहित मानते हैं, जिसके लिये और जिसके द्वारा प्रेरित समस्त व्यवस्था होती थी। राजकीय आय का सबसे बड़ा साधन राजस्व था। अतः उसके निर्धारण और वसूली के लिये उनका मत है कि देश, भूमि और प्रजा तीनों की ही स्थिति का विचार किया जाय। उसकी वसूली भी अवस्था के अनुरूप, षाण्मासिक या वार्षिक हो।[3]

करनियमित होः—बृहस्पति का मत है कि कर धर्मानुकूल हों। उनके विनिश्चय एवं वसूली का भी माप-दण्ड हो। उनका कथन है कि जो राजा धनप्राप्ति की इच्छा से हीनाधिक कर लेता है, उसका राज्य वृद्धिमान न होकर पतनोन्मुख हो जाता है।[4] कर वसूली में भी वे नियमितता आवश्यक मानते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि शुल्क स्थानों अथवा चुंगी घरों पर होने वाले अन्याय का प्रभाव राष्ट्र की प्रतिष्ठा पर पड़ता है।[5]

---

१. बृ० स्मृ० व्य० का० १।३६। गुणवानिति यः प्रोक्तः ख्यापितो जनसंसदि।
कथं तेनैव वक्रेण निर्गुणः परिकथ्यते।

२. वही व्य० का० १।१२७।, शान्ति ८८।५; मनु ७।१२९; शुक्र २।१७१-७२, १७४-२२२।

३. वही व्य० का० १।४४। देशस्थित्या बलिं दद्युर्भूतं षण्मासवार्षिकम्।

४. नीति पृ० १०३। यो राजा धनलोभेन हीनाधिककरप्रियः।
तस्य राष्ट्रं व्रजेन्नाशं न स्यात्परमवृद्धिमत्॥

शान्ति ८९।२३; मनु ७।१११-१२।

५. वही पृ० १९३। शुल्कस्थानेषुयोऽन्यायः स्वल्पोऽपि च प्रवर्तते—
मनु ७।१३९।

कोशवृद्धि का सिद्धान्त—वैधानिकता एवं नैतिकता के बार्हस्पत्य विचारों का यह अर्थ कदापि नहीं कि बृहस्पति कोशवृद्धि के विरोधी थे। गुणवान् कोश की बार्हस्पत्य व्याख्या ही इस विषय पर प्रामाण्य प्रस्तुत करती है। उनका स्पष्ट कथन है कि जो राजा अपने कोश में एक काकिणी की भी वृद्धि नहीं करता (और पहले के संचित धन का व्यय करता है) आपत्ति काल में शत्रु उसे कष्ट पहुँचाते हैं।[1]

क्रमिक कर-वृद्धि का सिद्धान्त—अतः बृहस्पति धीरे-धीरे कर बढ़ाने की नीति के पक्षपाती हैं ताकि कर के अभाव में कोश भी क्षीण न हो और कर की अधिकता के कारण जनता में उद्वेग भी न हो।[2]

बृहस्पति की ही भाँति भीष्म ने भी कर-नीति को पर्याप्त महत्व प्रदान किया है। वे भी प्रजाहित, प्रजा के प्रति कल्याण-भावना और उसकी समृद्धि के सिद्धान्त को पर्याप्त महत्व प्रदान करते हैं। उन्होंने प्रजा की तुलना गौ से और राजा की गोपाल से की है। उनका कथन है कि जिस प्रकार गाय की सेवा करके दुग्ध प्राप्त किया जा सकता है। उसी भाँति उचित उपायों के द्वारा राजा फलों का उपभोग करता है।[3] अधिक कर के इच्छुक के सम्मुख लालची ग्वाले का उदाहरण एवं उसके परिणाम प्रस्तुत करते हुए भीष्म का मत है कि बहुत अधिक दूध का इच्छुक गाय के स्तनों को काट डालने के कारण दूध नहीं पाता उसी भाँति अनुचित मार्गों से प्रजा को पीड़ित करके (राजा) धन नहीं बढ़ा पाता।[4] इसके विपरीत भीष्म राजा के सम्मुख माली, व्याघ्री तथा भ्रमर का आदर्श रखते हैं जो बिना व्यथा पीड़ित किये हुए अपने लिये आवश्यक कार्य कर लेते हैं।[5] जिस प्रकार बछड़ा गाय का दूध पीता है उसके स्तनों को नहीं काटता,[6] उसी भाँति राजा कर उगाहने में प्रजा को पीड़ित न करे।

---

१. वही पृ० २०३। काकिण्यापि न वृद्धिं यः कोशं नयति भूमिपः।
आपत्काले तु सम्प्राप्ते शत्रुभिः पीड्यते हि सः।

वही २१।४, पृ० २०३।
कुतस्तस्यायत्यां श्रेयांसि यः प्रत्यहं काकिण्यापि कोशं न वर्धयति।

२. बृ० स्मृ० व्य० का० १।१२७; नीति पृ० २०३।

३. शान्ति ७२।१७। ४. वही ७२।१६।

५. वही ७२।२०; शुक्र २।१७१; शान्ति ८९।४।

६. वही ८९।४ वत्सापेक्षी दुहेच्चैव स्तनांश्च न विकुट्टयेत्।

बृहस्पति ने भी राजा के सम्मुख माता का आदर्श रखा था जो पुत्र के भावी लाभ के लिये अपनी इच्छाओं का बलपूर्वक दमन करती थी। अतः बार्हस्पत्य राज्य-व्यवस्था के अन्तर्गत अन्यायपूर्ण एवं अधिक करों का प्रश्न ही नहीं उठता।

उपलब्ध बार्हस्पत्य अंशों में कहीं भी क्रय-विक्रय की वस्तुओं पर कर लगाने के सिद्धान्तों के वर्णन नहीं मिलते। व्यापारियों पर कर लगाने में क्रय-विक्रय, मार्ग व्यय, भरण-पोषण, रक्षा तथा निर्वाह व्यय आदि को ध्यान में रखकर कर लगाने का मनु निर्देश करते हैं।[1] भीष्म भी उत्पत्ति, दान, वृत्ति, शिल्प आदि के आधार पर शिल्पियों पर कर लगाने का निर्देश करते हैं।[2] शुक्र ने भी लाभ के अनुसार शुल्क देने के सिद्धान्त का अनुमोदन किया है।[3]

कोश-वृद्धि के साधन—उपलब्ध बार्हस्पत्य अंशों में राजकीय आय के उपकरणों का एकसूत्रीय एवं विस्तृत वर्णन नहीं मिलता। फिर भी उपलब्ध अंशों के सम्मिलन द्वारा एक धूमिल सा चित्र निर्मित किया जा सकता है। बृहस्पति तीन प्रकार का धन मानते हैं। (१) शुक्ल, (२) शबल तथा (३) कृष्ण। प्रथम वर्ग में श्रुत, शौर्य, तप, कन्या, शिष्य एवं याज्य धन की गणना होती थी। द्वितीय में कुसीद, कृषि, वाणिज्य, शुल्क, शिल्प, उपकार के प्रतिरूप प्राप्त तथा आप्त धन की गणना होती थी। तीसरे के अन्तर्गत पाशक, द्यूत, दूतार्थ, प्रतिरूपक, साहस तथा व्याज या धोखे से प्राप्त धन माना जाता था।[4] ऐसा प्रतीत होता है कि प्रथम प्रकार का धन ब्राह्मण को प्राप्त होता रहा होगा जब कि दूसरे और तीसरे प्रकार का धन क्षत्रिय अथवा राजा को प्राप्त होने वाला भाग रहा होगा। धन के अन्य तीन प्रकार क्रमागत, प्रीतिदाय तथा भार्या के साथ उपलब्ध होने वाला धन थे।[5] क्षत्रिय का वैशेषिक धन युद्धोपलब्ध, कर के रूप में प्राप्त धन तथा न्यायसभा में अर्थ दण्ड के रूप में प्राप्त धन होता था।[6] राजकीय वित्त व्यवस्था में वैशेषिक धन की भी गणना होती थी।

---

१. मनु ७।१२७।

२. शान्ति ८८।१२।

उत्पत्ति दानवृत्तिं च शिल्पं संप्रेक्ष्य चासकृत्।
योगक्षेमं च संप्रेक्ष्य वणिजः कारयेत्करान्।

३. शुक्र ४।२२१। लाभं दृष्ट्वा हरेच्छुल्कं क्रेतृतश्च सदा नृपः।

४. बृ० स्मृ० व्य० का० ७।२–५।

५. वही व्य० का ७।९। क्रमागतं प्रीतिदायं प्राप्तं च सह भार्यया।
अविशेषेण सर्वेषां वर्णानां त्रिविधं स्मृतम्॥

६. वही व्य० का० ७।११। त्रिविधं क्षत्रियस्यापि प्राहुर्वैशेषिकं धनम्।
युद्धोपलब्धं करतो दण्डाच्च व्यवहारतः।
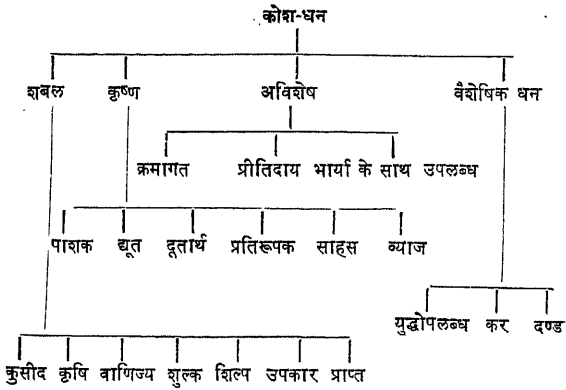
प्राचीन भारत के अन्तिम चरण के शुक्रनीति के लेखक के अतिरिक्त कोई अन्य अर्थशास्त्री ऐसा नहीं हो—जिसने राजकोश की आय का वैज्ञानिक वर्णन किया हो। शुक्रनीति के आधार पर राजकीय आय का वर्गीकरण इस प्रकार होगा।

आय

पूर्ववत्सर शेष — वर्तमानाब्द संभव

वर्तमानाब्द संभव: निश्चितान्य-स्वामिक — अनिश्चित स्वामिक — शाश्वत-निश्चित

निश्चितान्य-स्वामिक: औपनिध्य — याचितक — औत्तमर्णिक

शाश्वत-निश्चित: साहजिक — अधिक

साहजिक: पार्थिव — पार्थिवेतर

पार्थिवेतर: शुल्क — दण्ड — आकर — कर — भाटक — उपायन

अधिक: मौल्याधिक — कुसीद — याजनादि — पारितोष्य — विजित — भृतिप्राप्त
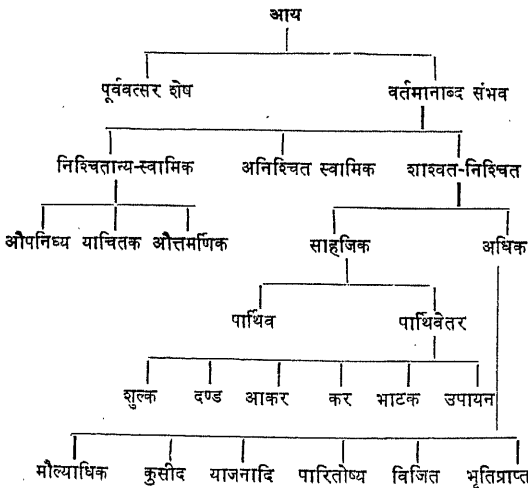
आधुनिक प्रचलन से यह बहुत अधिक सन्निकट है। उनके अनुसार, राजकीय आय विगत वर्ष के शेष तथा वर्तमान सत्र में प्राप्त आय दोनों का प्रातिनिध्य करती है। द्वितीय के अन्तर्गत (अर्थात् वर्तमान वर्ष की आय) (१) निश्चित अथवा उचित, (२) अज्ञात साधनों से प्राप्त उदाहरणार्थ, खजाना वा, खोई हुई एवं लावारिस सम्पत्ति राज्य को प्राप्त होती थी, और (३) वह धन जिसका अधिकार अन्य लोगों के अधीन होता था। जैसे निधि, उपहार, ऋण। आज कल भी ऋण को आय का साधन माना जाता है। उचित एवं सामान्य राजकीय आय को साहजिक (सामान्य) एवं अधिक में विभक्त किया गया है। बाद वाली (आय), अर्धराजकीय आय की पूरक है, उदाहरणार्थ व्यापारिक लाभ कुसीद या सूद, प्रतिमूल्य में प्राप्त एवं विजयों में उपलब्ध। शेष आय साहजिक या सामान्य है। इसकी परिभाषा उस धन के रूप में की गयी है जिसकी वृद्धि दिन, मास अथवा वर्ष में होती है। या तो वह भूमि से प्राप्त होती हैं (पार्थिव) अथवा अन्य स्रोतों से (पार्थिवेतर)। पूर्व (वर्णित) स्रोत भूमि (पुर, ग्राम) तथा जल—प्राकृतिक अथवा कृत्रिम (सदैव कृत्रिमजल) के ऊपर राजसत्ता प्रदर्शित करता है। कर, दण्ड, आकर एवं अन्य कर पार्थिवेतर आय (के सूचक हैं)।[1]

आय के भेद—राजकीय आय की मदों के निरूपण पर राज्य के भावी उत्कर्ष तथा उसकी समृद्धि की योजनाएँ निर्भर करती थीं। आधुनिक युग के आय-व्यय के ब्योरे के अन्तर्गत करों के निरूपण और बार्हस्पत्य राज्य-व्यवस्था में अन्तर की खोज-बीन व्यर्थ होगी। साथ ही साथ अवैधानिक भी। वास्तव में बार्हस्पत्य आवश्यकताएँ तथा राज्य की समृद्धि ही आय के निरूपण में महत्वपूर्ण स्थान रखती थी। कोश-वृद्धि के साधनों की अक्षुण्णता बनाये रखतें हुए समस्त आय को बलि, भाग, शुल्क, पशु भाग, हिरण्यभाग, द्यूत समाह्वय कर, तरपण्य, निधि, राजगामिधन, विजित धन, दण्ड, राजस्वत्व, एवं विष्टि[2] आदि के अन्तर्गत विभक्त किया जा सकता है। उपलब्ध बार्हस्पत्य अंशों में बलि[3] भाग[4], शुल्क[5], द्यूत[6], तथा निधि[7] आदि पारिभाषिकों का प्रयोग मिलता है।

१. Kośa in the Smṛitis—Dr. R. K. Dikshit—JUPHS. Vol. V (N. S.) Part I pp. 71-72, 1957.

२. Ibid, pp. 70-80.

३. बृ० स्मृ० व्य० का० १।४३; मनु ८।३०८; शान्ति ७२।१०।

४. वही व्य० का० १।४४; अर्थ १।१३, पृ. २२; शुक्र ४।२२२; शान्ति ६९।२४।

५. वही व्य० का० ७।३-४; मनु ८।३६०; अर्थ ३।१६, पृ० १९०; शुक्र ४।२१७।

६. वही व्य० का० ७।५। ७. वही व्य० का० २।२७।

तरपण्य, "राजगामिधन, विजित धन, दण्ड तथा राजस्वत्व आदि की द्योतना के लिये बृहस्पति भी इसी प्रकार की भावना प्रकट करते हैं। वे क्षत्रिय के वैशेषिक धन के अन्तर्गत युद्धोपलब्ध,[1] कर[2], (व्यवहार के अन्तर्गत अर्थ) दण्ड[3] आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं। संभवतः पशु भाग, हिरण्य भाग तथा विष्टि आदि प्रकारों का जन्म कौटिल्य से पहले नहीं हो पाया था। इनके विपरीत अन्तर-राष्ट्रीय स्तर पर चौर वृत्ति को प्रश्रय देने तथा चौर्य कर[4] को मान्यता प्रदान करने के लिये भारतीय राजनीतिक तथा अर्थशास्त्री बृहस्पति के ऋणी हैं।

बलि—बलि शब्द का प्रयोग ऋग्वेद में देवताओं को यज्ञों में दी जाने वाली भेंट (बलि) के अतिरिक्त शत्रु से अपने जन की रक्षा, शत्रु के गढ़ों को तोड़ने आदि कार्यों के उपलक्ष्य में राजा को दिये जाने वाले धन के लिये भी किया गया है।[5] उत्तर वैदिक काल से लेकर बौद्ध युग तक आते-आते बलि शब्द राजनीतिक शब्दावली का पारिभाषिक बन गया और बृहस्पति तथा अन्य अर्थ तथा धर्मशास्त्रियों ने समान रूप से इस शब्द का प्रयोग राजा को अपने कर्तव्य पालन के पुरस्कार स्वरूप मिलने वाले धन के लिये किया है।[6] अपने कर्तव्यों के उचित पालन के परिणाम स्वरूप षड्भाग का अधिकारी राजा माना गया है। प्राचीन भारतीय राज्य-चिन्तकों का एक वर्ग था जो तपोवनवासियों से भी उनकी अन्य उपज के षड्भाग को वसूल करने का राजा को अधिकार प्रदान करता था, जब कि दूसरा वर्ग राजा के अधिकार को मान्यता प्रदान करता हुआ कहता था कि, वे (तपोवनवासी) अपने पुण्य का छठा अंश राजा को प्रदान करते हैं। अर्थशास्त्र में कौटिल्य राजा के पक्षपाती चर से कहलाते हैं कि मात्स्य-न्याय से अभिभूत होकर प्रजा ने वैवस्वत मनु को राजा बनाया था। धान्य का छठा भाग, विक्रय वस्तु का दशमांश और हिरण्य में भी इसका भाग निश्चित किया गया। उनसे सम्बद्ध राजा प्रजा के योग-क्षेम का वहन करते हैं—इसी कारण तपोवन के निवासी भी वन्य प्राप्त फलों का छठा भाग देते हैं।[7]

---

१. वही व्य० का० ७।११; शुक्र ४।१२२।

२. वही व्य० का० ७।११। संभवतः पशु, स्वर्ण आदि के करों की गणना होती रही होगी। शान्ति ६७।२३, मनु ७।१३०; शुक्र ४।२३१।

३. वही व्य० का० ७।११; शान्ति ६९।१६६; मनु ८।३०७; अर्थ ४।९. पृ० २२४; शुक्र ४।११४। ४. वही व्य० का० १३।३८।

५. ऋग्वेद ३।४, ३-५; ३।३४-१; १०।१७३।६

६. बृ० स्मृ० व्य० का० १।४१; मनु ८।३०८। बलिषड्भागहारिणं; शान्ति ७२।१०।

७. अर्थ १।१३, पृ० २२-२३।

कौटिल्य का यह मत पहली साम्राज्यवादी विचारधारा को प्रकट करता है। इसके विपरीत बृहस्पति का स्पष्ट कथन है कि उचित प्रकार से रक्षा करने के कारण राजा को लोगों के यज्ञ-यजन, अध्ययन और पुण्यों का छठा अंश प्राप्त होता है।[1]

भागः—जहाँ बलि की आयोजना के अन्तर्गत समस्त राष्ट्र आ जाता था वहीं "भाग" राजकीय आय अथवा मालगुजारी के रूप में कृषीवल अर्थात् किसानों से वसूल किया जाता था। इस भाग की वसूली तक ही राज्य की भूमि पर राजा का अधिकार माना जाता था। बृहस्पति भाग को वसूली में देश स्थिति (अर्थात् वर्षा, उपज तथा अन्य कृषिसम्बन्धी विचारों) तथा कीनाशों (किसानों) के परम्परागत नियमों और मान्यता को विशेष महत्व प्रदान करते हैं।[2] बृहस्पति कृषि. भूमि तथा ऋतु के अनुरूप उपज का राजकीय भाग वसूल करने के पक्षपाती हैं। उनका कथन है कि, कृषीबल अर्थात् कृषि पर जीविका निर्वाह करने वाले किसान खिल, वर्षा और बसन्त की उपज का क्रमशः दसवाँ, आठवाँ तथा छठा अंश राजा का भाग दें।[3] इसके विषय में भी उनका मत है कि देश स्थिति के अनुरूप छठे महीने या वार्षिक भाग दें।[4] बार्हस्पत्य अंश की व्याख्या करते हुए मित्रमिश्र का कथन है :—।

> अस्यार्थः—खिलात् चिरकालमकर्षणेनानुत्पन्नसस्यात्, वर्षावसन्तात् वर्षाकाले उत्पन्नात्, वसन्तकाले चोत्पन्नात्। कृष्यमाणात्, प्रतिवर्षं कृष्यमाणात्। इदं च वर्षावसन्तादित्यनेनान्वितम्। अयमर्थः—खिलाद्युत्पन्नं तत्र दशममंशं, वर्षाकालोत्पन्नादष्टमं वसन्तकालोत्पन्नात्षष्ठमंशमादद्यादिति।[5]

पाणिनीय अष्टाध्यायी में भी बोवाई के अनुसार तीन प्रकार की फसलें मानी गयी है। आश्वयुज अथवा आश्विन् पूर्णिमा को बोई जाने वाली फसल आश्वयुजक (४–३–४५) ग्रीष्म, में बोई जाने वाली ग्रैष्यक तथा बसन्त में बोई जाने वाली वासन्त या वासन्तक (४–३–४६) कहलाती थी। कौटिल्य ने भी फसलों

---

१. बृ० स्मृ० व्य० का० १।४१।
२. बृ० स्मृ० व्य० का० १।४४, राजनीतिप्रकाश पृ० २६३।
३. वही, व्य० का० १।४३, राजनीतिप्रकाश पृष्ठ २६३।
दशाष्टषष्ठं नृपतेर्भागं दद्यात्कृषीबलम्।
खिलाद्वर्षावसन्ताच्च कृष्यमाणाद्यथाक्रमम्॥
४. वही व्य० का० १।४४। देशस्थित्या बलिर्दद्युर्भूतं षण्मासवार्षिकम्।
५. राजनीति प्रकाश पृ० २६२–६३।

का वर्णन किया है। बार्हस्पत्य उल्लेखों में खिल भूमि, वर्षा तथा बसन्त की फसलों का वर्णन मिलता है। पाणिनि तथा कौटिल्य खिल के स्थान पर आश्वयुज तथा हैमन फसलों का क्रमशः वर्णन करते हैं।[१] बृहस्पति कृषकों के लिये अनेक अनुच्छेद रखते हैं। "वापसंग्रह" अथवा फसल काटने के अवसर पर कृषकों को अनासेध्य घोषित करते हैं।[२] शत्रु-सेना से पीड़ित तथा दुर्भिक्ष और व्याधिपीड़ित देश में वे पुनः आह्वाहन की व्यवस्था करते हैं।[३] बृहस्पति से कहीं अधिक कठोरतापूर्वक कौटिल्य उपज का चौथा या पांचवा भाग राज्य के लिये निर्धारित करते हैं।[४] यही नहीं, जो कृषक पास की नहरों से पानी लेते थे उन्हें उदक भाग के रूप में पांचवां भाग देना पड़ता था।[५] भाग उपज के रूप में ही राज्य स्वीकार करता था। बार्हस्पत्य उल्लेखों में कहीं भी उसकी वसूली के वर्णन नहीं मिलते। जातक साहित्य से ज्ञात होता है कि, भूमि की भली भाँति नाप-जोख की जाती थी और उसे कई प्रत्ययों (—खेतों) में विभक्त कर दिया जाता था। नाप-जोख करने वाले रज्जुग्गाहक अमच्च या राजकम्मिक ही उपज में राजकीय अंश निर्धारित करते थे। राजकीय अंश निर्धारित होने के पहले अन्न इकट्ठा नहीं किया जा सकता था और अन्त में दोणमापक महामत्त की अध्यक्षता में राजकीय कोष्ठागार में समस्त सामग्री इकट्ठा की जाती थी।[६]

१. पाणिनि कालीन भारतवर्ष अध्याय ४ आर्थिक दशा, परिच्छेद १ कृषि पृ० २०५–०६।

कौटिलीय में भी ऋतु के अनुसार कई फसल होने का उल्लेख है। वहाँ हरी खेती को सस्य और पकी फसल को मुष्टि कहा गया है। वार्षिक सस्य के बाद हैमन मुष्टि, मार्गशीर्ष में हैमन सस्य के बाद वासन्तिक मुष्टि चैत्र, में वासन्तिक सस्य के बाद वार्षिक मुष्टि कहा है जिन्हें पाणिनि ने वाप और पच्यमान कहा है। दोनों का तुलनात्मक परिचय इस प्रकार है :—

वापकाल के अनुसार कौटिल्य के सस्य का नाम	बोने या वाप के अनुसार पाणिनि में फसल का नाम	पच्यमान काल के अनुसार मुष्टि पकी फसल का नाम	पक्व काल
१. वार्षिक सस्य	ग्रैष्म, ग्रैष्मक (४।३।४६)	हैमन मुष्टि	मार्गशीर्ष
२. हैमन सस्य	आश्वयुज (४।३।४५)	वासन्तिक मुष्टि	चैत्र
३. वासन्तिक सस्य	वासन्त या वासन्तिक (४।३।४६)	वार्षिक मुष्टि	ज्येष्ठ

२. बृ० स्मृ० व्य० का० १।१३७।

३. वही० व्य० का० १।१४८। ४. अर्थ २।२४, पृ० ११६।

५. स्ववीर्योपजीविनो वा चतुर्थपंचभागिकाः यथेष्टमनवसितं भागं दद्युरन्यत्र कृच्छ्रेभ्यः।

६. Pre-Buddhist India pp. 142-43.

शुल्कः—राजकीय आय का अन्य महत्वपूर्ण साधन शुल्क होता था। शुक्रनीति के लेखक के शब्दों में विक्रेता तथा क्रेता से वसूल किया जाने वाला राजकीय भाग शुल्क कहलाता था।[1] बार्हस्पत्य वर्णनों में शुल्क विभाग के प्रशासन-सम्बन्धी विवरण उपलब्ध नहीं होते। कौटिलीय व्यवस्था के अन्तर्गत शुल्काध्यक्ष नामक पदाधिकारी के अन्तर्गत यह विभाग शुल्कशाला कहलाता था। व्यापारियों से सम्बन्धित आवश्यक सूचनाओं का संकलन और आलेखन इसी विभाग का कार्य था।[2] वे शुल्क स्थानों पर होने वाले अन्याय को भयंकर मानते हैं।[3] शुल्क वसूली और पण्य प्रवेश के नियमों के बारे में वे विशेष रूप से जागरूक हैं। उनका कथन है कि दुर्ग के द्वार पर व्यापारियों से चुंगी वसूली और उनकी व्यापारिक मान्यता की छानबीन के लिये रोकने वाले राजा का दुर्ग नष्ट नहीं होता।[4] पण्य प्रवेश की मान्यता के लिये वे शलाका भिदापन[5] शब्द का व्यवहार करते हैं। नगर-द्वार पर बृहस्पति सामान्य निरोध की आयोजना करते हैं।[6] इसका-अर्थ यह नहीं कि सभी को वे बाहर रोकने और छानबीन करने के पक्षपाती हैं। इसके विपरीत, वे विशिष्ट तथा ख्यातिलब्ध व्यापारियों पर यह योजना लागू नहीं करते। उनका कथन है कि सबका निषेध न किया जाय।[7] इस प्रकार के कार्य से उत्तेजना की संभावना होती थी। बृहस्पति का उद्देश्य व्यापार की राजकीय मान्यता की छानबीन

---

१. शुक्र ४।२१७। विक्रेतृकेतृभ्यो राजभागः शुल्कमुदाहृतम्।

२. अर्थ २।२१, पृ० १०९।

'शुल्काध्यक्षः शुल्कशालाध्वजं च प्राङ्मुखं उदङ्मुखं वा महाद्वाराभ्याशे निवेशयेत्।' इस कौटिलीय मत के अनुसार यदि महाद्वार में शुल्कशाला की सामान्य स्थिति मानी जाय तो बार्हस्पत्य शुल्क स्थान एवं व्यापारियों की छानबीन के स्थान समानार्थी होंगे। कौटिल्य (पृ० ११०) का मत है कि इस शाला में चार या पाँच अधिकारी शुल्काध्यक्ष के अन्तर्गत हों। विवरण प्राप्त करें कि यह व्यापारी कौन है, कहाँ के निवासी हैं, कहाँ से आये हैं, इनके पास कितनी और किस प्रकार की विक्रय सामग्री पर कहाँ और किस प्रकार की मुद्रा लगी है। ३. नीति पृ० १९३। शुल्कस्थानेषु योऽन्यायः स्वल्पोऽपि प्रवर्तते।

४. वही पृ० २०१। भिन्दापयति यो राजा करिष्णाय शलाकया।
स्थगिकां वणिजानां च तस्य दुर्गं न नश्यति।

५. वही पृ० २०१।

६. बृ० सू० ३।२९। पुरद्वारे सर्वनिरोधनं कार्यम्।

७. वही ३।३० सर्वान्न निषेधयेच्च।

करना था, व्यापार का अवरोध नहीं। शुल्क के विषय में उनका विचार है कि शुल्क स्थान पर पहुँच कर वणिक् को यथोचित शुल्क देना चाहिये, उससे बचना नहीं चाहिये क्योंकि वह राजा का अधिकार (बलि) है। जहां अपनी शक्ति द्वारा तस्करों से रक्षा की जाय, तो राज्य को दसवां अंश दे।[1] उपलब्ध बार्हस्पत्य अंशों में अन्तर-देशीय तथा अन्तर-राज्य व्यापार के वर्णन नहीं मिलते फिर भी बुद्धयुगीन भारत[2] और पाणिनीय[3] में वर्णित भौगोलिक स्थानों का ज्ञान स्पष्ट कर देता है कि इन स्थानों और राज्यों में राजनीतिक एवं व्यापारिक सम्बन्ध मान्य थे। बार्हस्पत्य युग में भी इस प्रकार के व्यापारिक सम्बन्धों की स्थिति वैधता एवं मान्यता प्राप्त कर चुकी थी। बार्हस्पत्य उल्लेखों में शुल्क दरों के भी वर्णन नहीं मिलते। कौटिल्य व्याजी वस्तुओं पर सोलहवाँ भाग, तुलामान पर बीसवाँ भाग और गणना योग्य वस्तुओं का ग्यारहवाँ भाग निर्धारित करते हैं।[4] शुक्र भी लाभ के सोलहवें और बीसवें भाग की वसूली को मान्यता प्रदान करते हैं।[5]

बृहस्पति वाणिज्य के अतिरिक्त कुसीद तथा शिल्पियों से प्राप्त होने वाले धन की भी गणना करते हैं।[6] शिल्पियों के अन्तर्गत वे हिरण्य-स्वर्णकार, कुप्य अर्थात् खानों में काम करने वालों, सूत्रकारों, काष्ठ, पाषाण आदि के संस्कर्ताओं के अतिरिक्त, नर्तकों, तालकों और गायन करने वालों की गणना करते हैं।[7] इन लोगों से प्राप्त होने वाले अंश की मात्रा के विषय में पर्याप्त प्रमाणों के अभाव में कुछ भी कहना संभव नहीं है।

---

१. बृ० स्मृ० व्य० का० १३।१२–१३।

शुल्कस्थानं वणिक्प्राप्तः शुल्कं दद्याद् यथोचितम्
न तद्व्यभिचरेद्राज्ञां बलिरेष प्रकीर्तितः ॥
नैवं तस्करराजाग्निव्यसने समुपस्थिते।
यस्तु स्वशक्तया रक्षेत्तु तस्यांशो दशमः स्मृतः।

२. अंगुत्तर निकाय १।३।७ पृ० २१३, ४।४।४२--४, पृ० २५२, ४।४३ पृ० २५६, ४।४५।३ पृ० २६०।

३. पाणिनि कालीन भारतवर्ष पृ० ५७ और आगे।

४. अर्थ २।१६ पृ० ९८। ५. शुक्र ४।२२०।

६. बृ० स्मृ० व्य० का ७।४।

कुसीदकृषि-वाणिज्य-शुल्कशिल्पानुवृत्तिभिः ····। शबलं समुदाहृतम्।

७. वही व्य० का० १३।३३–३७।

मृतक सम्पत्ति कर—बृहस्पति आय के साधनों में मृत व्यापारियों के धन से मिलने वाले लाभ का भी उल्लेख करते हैं। उनके मतानुसार मृत-व्यक्ति के भाण्ड या सामग्री का निरीक्षण राजपुरुष (या राजकीय अधिकारियों) का कार्य है। यदि उस व्यक्ति का कोई रिक्थहर (उत्तराधिकारी) होता है और अन्य लोगों से वह अपनी स्थिति प्रमाणित करवा लेता है तो अपने वर्ण के अनुकूल राजकीय अंश देकर उसे प्राप्त कर सकता था।[1] राजा का अंश, बृहस्पति, शूद्र के धन में छठा भाग, विट्-वैश्य के धन का नवां भाग और क्षत्र जातियों के धन का दसवां तथा ब्राह्मण के धन का बीसवां भाग मानते हैं।[2] तीन दिनों तक यदि कोई स्वामी (अर्थात् उचित उत्तराधिकारी) नहीं आता तो उसे राजा ग्रहण करले और ब्राह्मण के धन को ब्राह्मणों को दे दे।[3] ईस्वी० पूर्व ३०५ के लगभग चन्द्रगुप्त मौर्य की राजधानी पाटलिपुत्र में सैल्यूकस निकेटर के दूत के रूप में मेगस्थनीज भारत आया था। उसने अपनी पुस्तक "इण्डिका" में वर्णन किया है कि पाटलिपुत्र में विदेशी व्यापारियों के लिये एक विदेश समिति थी। यदि किसी विदेशी व्यापारी की मृत्यु हो जाती तो उसके सामान का निरीक्षण और उसकी रक्षा इसी समिति का काम था। साथ ही साथ यह समिति उसके उत्तराधिकारी की छानबीन करके उसे धन दे देती थी और उत्तराधिकारी के अभाव में धन राजकीय कोश में सम्मिलित कर लिया जाता था।[4] अभिज्ञान शाकुन्तल में भी छठे अंक में इसी प्रकार सार्थवाह वणिक् की मृत्यु के वर्णन उपलब्ध होते हैं। इनसे ज्ञात होता है कि, सामान्य रूप से, उत्तराधिकारी के अभाव में इस प्रकार के व्यापारियों का धन राजकीय कोश में सम्मिलित कर लिया जाता था। मंत्री इस प्रकार की आय की अतिरिक्त सूची रखते थे किन्तु

---

१. वही व्य० का० १३।१४-१५।

यदा तत्र वणिक्कश्चित्प्रमीयते प्रमादतः।
तस्य भांडं दर्शनीयं नियुक्तै राजपुरुषैः।
यदा कश्चित्समागच्छेत्तदा रिक्थहरो नरः।
स्वाम्यं विभावयेदन्यैः स तदा लब्धुमर्हति।

२. वही व्य० का० १३।१६। ३. वही व्य० का० १३।१७।

४. Ancient India-Megasthenes and Arrian p. 79.

Those who have the charge of the city are divided into six bodies of five each. Those of the second attend to the entertainment of foreigners. To those they assign lodging, and they keep watch over thair modes of life by means of those persons whom they give to them for assistants. They

इसके विषय में राजा की राय अन्तिम होती थी।[1] यह विशेष रूप से द्रष्टव्य है कि बृहस्पति के परवर्ती, कौटिल्य से लेकर शुक्रनीति के लेखक पर्यन्त इस प्रकार के नियम का सैद्धान्तिक स्वीकरण अथवा उसकी आलोचना उपलब्ध नहीं होती किन्तु शाकुन्तल के प्रमाण निर्विवाद रूप से सिद्ध कर देते हैं कि बृहस्पति का यह सिद्धान्त हिन्दू युग के पतन तक व्यावहारिक रूप में सदैव मान्य रहा।

अक्ष तथा समाह्वय कर—बृहस्पति ने द्यूत खेलने के समर्थन तथा विरोध में अनेक मत प्रकट किये हैं। एक स्थल पर समर्थन, दूसरे पर विरोध, और तीसरे स्थल पर चरित्र के अध्ययन के लिये इसकी उपयोगिता स्वीकार की है।[2] विशेष रूप से राजकीय आय के रूप में इसका महत्व स्वीकार किया गया है। बृहस्पति समाह्वय या सड़क के किनारे होने वाले जानवरों के युद्ध तथा नट क्रीड़ा आदि को भी राजकीय मान्यता द्वारा धन लाभ का साधन मानते हैं।[3]

अन्तरराज्य तस्कर वृत्ति पर कर:—जहां बृहस्पति राज्य में सुख शान्ति तथा कण्टकोद्धरण द्वारा चौर वृत्ति के निरोध की योजना करते हैं; वहीं वे, अन्तरराज्य स्तर पर राज्य प्रोत्साहित तथा संरक्षित चौर-वृत्ति का समर्थन करते हैं। इस प्रकार की चौर वृत्ति का षष्ठांश वे राजगामि धन मानते हैं।[4] ट्यूडर इग्लैंड में भी साम्राज्ञी एलिजाबेथ ने इस प्रकार के समुद्री तस्करों को न केवल राजकीय मान्यता प्रदान की थी वरन् उन्हें प्रोत्साहन भी दिया था। उसी की प्रेरणा के फलस्वरूप सर फ्रांसिस ड्रेक और जॉन हॉकिंस स्पेन के अजेय

---

escort them on the way when they leave the country or, in the event of their dying, forward their property to their relatives. They take care of them when they are sick, and if they die bury them.

१. अभिज्ञान शाकुन्तल अंक ६ पृ० ११८।

(राजा वाचयति) विदितमस्तु भवताम्
धनवृद्धिर्नामा वणिक् वारिपथोपजीवी नौव्यसने विपन्नः।
स चनापत्यः। तस्य चानेककोटिसंख्यं वसु। तदिदानीं
राजार्थतामापद्येत। श्रुत्वा देवः प्रमाणमिति।

२. बृ० सू० ३।४६–४७। अक्षैर्दीव्यात्। नैव दीव्यात्।
बृ० स्मृ० व्य० का० २७।१–२। द्युतं निषिद्धं मनुना सत्यशौचधनापाहम्।
सभिकाधिष्ठितं कार्यं तस्करज्ञानहेतुना।

३. बृ० स्मृ० व्य० का० २८।१–२।

४. वही० व्य० का० १३।३८। स्वाम्याज्ञया तु यच्चौरैः परदेशात्समाहृतम्।
राज्ञे दत्त्वा तु षड्भागं भजेयुस्ते यथांशतः।

आर्मडा को ध्वस्त करके इग्लैंड की समुद्री शक्ति के महत्व को बढ़ा सके थे।[१] बृहस्पति तथा एलिजबेथ दोनों का ही उद्देश्य इस प्रकार के तत्वों को स्वदेशी राजनीतिक से दूर रख कर अपने शत्रुओं की शक्ति के दमन में उनका सहयोग प्राप्त करना था। संस्कृत विश्व के इतिहास में ये दो अद्वितीय उदाहरण हैं। इस प्रकार का धन भी बार्हस्पत्य व्यवस्था के अन्तर्गत अतिरिक्त आय में गिना जाता रहा होगा।

दण्ड—राजकीय आय का एक अन्य महत्वपूर्ण अंग अर्थ दण्ड के रूप में न्यायालयों में मिलने वाला धन होता था।[२] बृहस्पति वित्तीय विवादों में राजा की उपस्थिति अनिवार्य मानते हैं।[3] वे नैतिकता तथा शास्त्र पर आधारित दण्डों को स्वीकार करते हैं—उन्हें धन संग्रह का माध्यम नहीं बनाना चाहते। न्याय के क्षेत्र में सामान्य जनता से लेकर निकट सम्बन्धी तक की समता उन्हें स्वीकार्य है।[४]

युद्ध—राज्य की अतिरिक्त आय के साधनों में बृहस्पति युद्धों में उपलब्ध होने वाले धन की भी गणना करते हैं।[५] मुस्लिम राजनीति के अनुसार भी खम्श (लूट का माल) राजकीय आय वृद्धि का साधन होता था। राज्य सम्पूर्ण लूट का १/५ भाग वैधानिक आधार पर ले सकता था किंतु इस नियम का सदैव पालन नहीं होता था।[६]

आय के अन्य साधन—संभवतः परवर्ती अर्थशास्त्रियों द्वारा मान्य आय के साधनों की ही भाँति उन्हें भी कुसीद, निधि, अस्वामिविक्रय, गणिका आदि से प्राप्त होने वाला धन स्वीकार्य भी रहा होगा।

व्यय की मदें—बार्हस्पत्य अंशों में व्यय की मदों का कोई भी विवरण उपलब्ध नहीं होता किन्तु जिस प्रकार के नियम बृहस्पति ने कोश-वृद्धि के उपादानों के लिये प्रस्तुत किये हैं उनसे स्पष्ट हो जाता है कि धर्म के अनुरूप

---

१. The Tuder England, pp. 362-63 ff up to 423.

२. बृ० स्मृ० व्य० का० २९।३। ३. वही व्य० का १।५२।

४. वही व्य० का० १।७८।

५. वही व्य० का० ७।११।

६. The Snluanate of Delhi, p. 232.

Khams means one fifth of the booty captured during war. Alauddin and Muhammad Tughluq used to appropriate four fifth of the booty, leaving one fifth to the army.

But Firoz followed the Islamic custom of taking one fifth and leaving four fifth to the soldiery.

कोश-वृद्धि बृहस्पति का आदर्श था। अतः धर्म के अनुसार एवं स्वधर्म सम्पादन के निमित्त ही राजा को धन की आवश्यकता होती थी। यद्यपि बृहस्पति ने किसी भी स्थल पर राजा को वेतनभोगी नहीं कहा है फिर भी वे स्वीकार करते हैं कि प्रजा-रक्षण के प्रतिरूप में राजा को षष्ठांश बलि प्राप्त होती है। प्रजा रक्षण शब्द ही समस्त राज्य-व्यवस्था एवं उसके सभी आवश्यक अंगों का सम्मिलन रूप है। वास्तव में, राजकीय व्यय प्रजा—रक्षण के निमित्त दुर्ग-निर्णय, रक्षण, राष्ट्रीय प्रशासन, मंत्रिमण्डल, विभिन्न अधिकारियों के वेतन, राजकीय परिवर्धन की योजनाओं तथा सामाजिक एवं सांस्कृतिक कार्यों के अतिरिक्त अन्तरराज्य राजनीति के निमित्त किया जाने वाला व्यय, विदेश विभाग एवं दूतों पर होने वाला व्यय तथा विदेशी अतिथियों पर होने वाला व्यय और युद्ध के निमित्त सैन्य-प्रशासन, सैनिकों का वेतन तथा युद्ध-सामग्री सम्बन्धित व्यय परिगणित होता रहा होगा।[1]

●

१. जैसा कि पहिले भी वर्णन किया जा चुका है कामन्दकीय नीतिसार का लेखक व्यय का ब्यौरा देता हुआ कहता है ,कि भृत्यों का भरण, दान, राजा के आभूषण, वाहन, दुर्ग-संस्कार, राज्य के स्थैर्य्य, सेतुबन्धों, वणिक्कर्म, तथा धर्मार्थकाम की सिद्धि कोश द्वारा ही सम्भव है। कोश प्रजा को स्वामिभक्त बनाता है और शत्रु भी कोशवान् पृथ्वीपाल के आश्रित रहते हैं। कामन्दकीय १३।३१–३४।

अष्टम अध्याय

सैन्य-प्रशासन

सेना की आवश्यकता :—ऋग्वैदिक भारतवर्ष में ही वीरता, नये देश की विजय की आकांक्षा, दासों और आर्यों तथा आर्यों के पारस्परिक युद्धों ने राज्य-रक्षा और साम्राज्यवादी लिप्सा को शान्त करने के लिये सुसंगठित सैन्य-व्यवस्था का महत्व सिद्ध कर दिया था।[1] उत्तर वैदिक युग में भी यह ऋग्वेदिक परम्परा मान्य रही। यही नहीं, सूत्र युग तक आते आते इसने सिद्धान्त का रूप ग्रहण कर लिया था। बृहस्पति भी इस आदर्श को स्वीकार करते हैं। बार्हस्पत्य युग तक सेना के महत्व, उसके अंग और युद्ध-प्रणाली विषयक प्रश्नों पर विचार-विमर्श हो चुका था। ऋग्वैदिक परम्पराएँ शताब्दियों के अन्तर और राजनीतिक चिन्तन के विकास के कारण शनैः शनैः सिद्धान्त-रूप ग्रहण कर चुकी थीं यही नहीं, प्राचीन साहित्य के अध्ययन से प्रतीत होता है कि प्राचीन भारत में सैन्य एवं पुलिस प्रशासन में अन्तर नहीं था।[2] अतः युद्धों के लिये ही नहीं, राज्य-सीमा की रक्षा, राज्य के आन्तरिक भागों में नागरिक जीवन की सुरक्षा तथा शान्ति और व्यवस्था के लिये भी सेना महत्वपूर्ण अंग बन चुकी थी।[3] बृहस्पति उत्तम बल आवश्यक मानते हैं।[4] सैन्य अंग का महत्व एक अन्य स्थल पर और भी अधिक प्रकट होता है जब वे राजा शब्द की उत्पत्ति की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि—चतुरंग बल (की सहायता) से प्रजारंजन करता है इस कारण उसे राजा कहा जाता है।[5]

---

१. The Vedie Age pp. 242–46

२. डा० श्याम लाल पाण्डेय ने उत्तर प्रदेश इतिहास परिषद् पत्रिका में प्रकाशित अपने शोध लेख "मनु और पुलिस एडमिनिस्ट्रेशन" में दूसरा ही मत प्रतिपादित किया हैं। अपने ग्रन्थ "मनु का राजधर्म" में उन्होंने सेना अध्याय का ही प्रयोग किया है—पुलिस का स्वतन्त्र उल्लेख कहीं नहीं किया है। जर्नल में प्रकाशित लेख उनकी नवीनतम सामग्री होने के कारण सेना अध्याय का खण्डन प्रस्तुत करता है। निश्चय ही उनका परवर्ती मत उनके मतानुसार अधिक ग्राह्य होगा। JUPHS, Vol. VIII (Ns) Part II, pp. 59-60, 1960.

३. बृ० स्मृ० व्य० का० १।३८–३९। ४. वही व्य० का० १।३८।

५. वही व्य० का १।३९।

सैन्य, बल तथा दण्ड—सेना के लिए प्राचीन भारत में सैन्य,[१] बल[३] तथा दण्ड[४] आदि विभिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है। सेना शब्द राज्य की सैन्य शक्ति सूचित करता है। बल शब्द सैन्य ही नहीं वरन् राज्यशक्ति (बल) का प्रतीक है। दण्ड शब्द राज्य की दण्ड शक्ति एवं सैन्यशक्ति के सम्मिलन का प्रतीक है। कौटिल्य बल के दो प्रभेद मानते हैं—मित्रबल एवं सैन्यबल। सैन्यबल को विशेष महत्व प्रदान करते हुए उनका कथन है कि सैन्यबल से युक्त राजा के मित्र तो मित्र बने ही रहेंगे शत्रु भी मित्र हो जायगे।[५] स्पष्टतः कौटिल्य अन्तर-राष्ट्रीय राजनीति में राज्य को गौरवपूर्ण बनाने का श्रेय उसकी सैन्य-शक्ति को प्रदान करते हैं। उन से पहले कौणपदन्त ने भी सेना का महत्व स्वीकार करते हुए कहा था कि सैन्य-शक्ति द्वारा ही मित्र और शत्रु का निग्रह होता है। सैन्य बल द्वारा ही दूसरे की सेना को अपनी ओर मिलाया जा सकता है अपनी सैन्य-वृद्धि की जा सकती है।[६] शुक्र आय का तृतीयांश सेना पर व्यय करने का आदेश देते है।[७]

चतुरंग बल—नियमित एवं उचित रूप से संगठित प्रशासन सेना का प्राण और जीवन होता है। चतुरंग बल शब्द की व्युत्पत्ति के बारे में प्रो० दीक्षितार का मत है कि "चतुरंग बल अथवा चतुरंगिणी सेना शब्द के दर्शन हमें पहली बार महाकाव्यों में होते है। पहले के वैदिक साहित्य में नहीं। यह कहा जा सकता है कि वैदिक ग्रन्थों में शतरंज के खेल के वर्णन भरे पड़े हैं। इस कारण यह स्वाभाविक है कि शतरंज के खेल के सिद्धान्त ने सेना के अंगों और विकास के प्रकार के लिये प्रेरणा दी।[८] प्रो० दीक्षितार की कल्पना सहज और ग्राह्य है

---

१. वही व्य० का० १।६६। बलेन चतुरंगेण यतो रंजयते प्रजाः।
दीप्यमानः स्ववपुषा तेन राजाऽभिधीयते।

२. शान्ति १०४।३७। ३. बृ० स्मृ० व्य० का० १।६६।

४. कामन्दकीय ८।४। ५. अर्थ ८।१, पृ० ३२४।
दण्डवतो मित्रं मित्रभावे तिष्ठत्यमित्रो वा मित्रभावे।

६. वही ८।१, पृ० ३२३–३२४।
"कोशदण्डव्यसनयोर्दण्डव्यसनम्" इति कौणपदन्तः, "दण्डमूलो हि मित्रामित्रनिग्रहः। परदण्डोत्साहनं स्वदण्डप्रतिग्रहश्च।"
इसके विपरीत वातव्याधि मित्र के महत्व के समर्थक थे। उनका मत था—
"दण्डमित्रव्यवसनयोर्मित्रव्यसनम्" इति वातव्याधिः। ८।१, पृ० ३२४।

७. शुक्र १।३१४। त्रिभिरंशैर्बलं धार्यम्।

८. War in Ancient India, p. 186.

किन्तु उनका यह कथन समुचित नहीं प्रतीत होता है कि, चतुरंग शब्द का प्रयोग पहली बार महाकाव्यों में हुआ है क्योंकि रामायण एवं महाभारत के उपलब्ध संस्करणों की तिथि तृतीय शती ईस्वी पूर्व से लेकर तृतीय शती ईस्वी तक मानी जाती है। निश्चय ही कौटिलीय अर्थशास्त्र उसके आधुनिक रूप से तीन शताब्दी पूर्व का है और चतुरंग की कल्पना कहीं अधिक पुरानी होगी। दीर्घ निकाय के सामञफल सुत्त में बुद्ध-अजातशत्रु मिलन कथा वर्णित है। इसमें अजातशत्रु ने सेना के प्रमुख अङ्गों और अन्य सहायक अंगों का वर्णन किया था। वे थे हस्त्यारोही, अश्वारोही, रथिक, धनुर्ग्राही, चलक, चेलक, शूर, चर्मयोधी आदि।[1] इनमें से प्रथम चार निश्चित रूप से सेना के चार अंगों का प्रतिनिधित्व करते हैं। चलक, चेलक, शूरवीर योद्धा तथा चर्मयोधी संभवतः ढाल और तलवार लेकर लड़ने वाले होते थे अथवा चमड़े की गुलेल की भाँति किसी अस्त्र से युद्ध करके पथराव करते थे। बुद्ध के पश्चात् लगभग एक शती के अन्दर ही युद्ध कला में पर्याप्त विकास हो चुका था। बृहस्पति सेना के इन अंगों को पृथक्-पृथक् अध्यक्षों के अन्तर्गत रखने के समर्थक हैं।[2] समतल, पहाड़ी और जंगलों से युक्त भारतवर्ष ऐसे देश में हाथी, घोड़े, रथ तथा पैदल सेना के बिना एक ही ढंग की सेना सर्वत्र विजयिनी नहीं हो सकती थी। चतुरंग के अतिरिक्त बृहस्पति, सेना के अन्य अंगों का भी वर्णन करते हैं जिनमें नौस्थित[3] अर्थात् नौसेना, वृक्षों तथा पर्वतों पर आरूढ़[4] (गुरिल्ला) सैनिकों या अटवीबल की अलग टुकड़ी रहती रही होगी। बृहस्पति के युग में भी कौटिल्य की भाँति विष्टि[5] अथवा सेना के विभागों की सेवा करने वाला वर्ग रहता रहा होगा। महाभारत में भी विष्टि का उल्लेख मिलता है।[6]

We meet with the term Chaturaṅg a–afour fold force, only in the epic literature and not in the earlier Vedic literature. And it may be pointed out that the Vedic works are full of references to the game of chess. Therefore it is natural that the principles of chess supplied ideas to the progressive development of the modes and constituents of the army.

१. दीघनिकाय-सामञफल सुत्त-प्रथम भाग–पृ० ६१।

१४ यथा नु खो इमानि भन्ते, पुथु-सिप्पायतनानि–सेय्यथीदं, हत्थारोहा, अस्सारोहा रथिका धनुग्गहा चेलका चलका––चम्मयोधिनो।

२. बृ० स्मृ० Additional Texts pp. ४९३–९४।

३. वही १।१६६। ४. वही १।१६६ वृक्षपर्वतमारूढाः।

५. अर्थ १०।४, पृ० ३७१। ६. शान्ति ५९।४१।

सैन्य संग्रह के साधन—उपलब्ध बार्हस्पत्य अंशों में सैन्य संग्रह के साधनों का वर्णन नहीं मिलता है। संभवतः बार्हस्पत्य युग से लेकर कौटिलीय के रचना काल तक सैन्य-संग्रह के स्रोतों में विशेष अन्तर नहीं पड़ा होगा। वर्गीकरण विभेद हो सकता है। कौटिल्य मौल, भृत, श्रेणीबल, शत्रुबल, मित्रबल तथा अटवी-बल आदि विभेद स्वीकार करते हैं।[1] परम्परागत सैनिक मौल, किराये के सैनिक भृत, सैनिक संगठनों के सैनिक श्रेणी बल, मित्र शासक के सैनिक मित्रबल, शत्रु राज्य से भाग कर आये हुए सैनिक शत्रुबल, एवं अटवी अथवा जंगल के रहने वाली जातियों के सैनिक गिने जाते थे। निःसंदेह मौल सेना बृहस्पति के युग में भी रहती रही होगी। पाणिनि ने भी आयुधजीवी संघ का वर्णन किया है जो कौटिल्य के श्रेणी बल से सादृश्य रखता है।[2] बृहस्पति एक संदर्भ में मित्र सैन्य का उल्लेख करते हैं। उनका कथन है कि, जो शत्रु मित्र बन गया हो और राज्य के कल्याण की कामना न करता हो, उसे अपने दूसरे शत्रु के साथ युद्ध में मित्र, शक्ति के रूप में नियुक्त कर दे।[3] इसका यही अर्थ होगा कि, युद्ध में विजिगीषु ही नहीं उसके मित्र की सेना भी शत्रु से युद्ध करने के लिये आया करती थी। यद्यपि उपलब्ध बार्हस्पत्य अंशों में शत्रुबल का उल्लेख नहीं मिलता किन्तु निश्चित है कि उस युग में भी विजिगीषु के प्रताप को देखकर लाभान्वित होने की इच्छा रखने वाले शत्रु राज्य के सैनिक अपने ही राज्य के विरुद्ध लड़ने में संकोच न करते रहे होंगे। बार्हस्पत्य वृक्ष-पर्वतमारूढ़[4] कौटिलीय अटवीबल के सन्निकट प्रतीत होता है।

शुक्रनीति का लेखक सेना के केवल दो प्रकार मानता है। स्थायी सैनिक एवं युद्ध के निमित्त भर्ती किये गये सैनिक: सैनिक शिक्षा प्राप्त एवं कार्यक्षम सेना तथा सैनिक शिक्षा बिना प्राप्त किये एवं अक्षम सैनिक (सार एवं असार)। संक्षेप में स्थायी राजकीय सेना (गुल्मी-भूत) अगुल्मक वेतन भोगी सैनिक।[5] शुक्रनीति के लेखक की अपेक्षा बार्हस्पत्य मत पाणिनि एवं कौटिल्य के निकट रहा होगा।

सैन्य प्रशासन—बार्हस्पत्य राज्य-व्यवस्था के अन्तर्गत राजकीय सैन्य प्रशा-सन का प्रधान सेनापति[6] होता था। सेनापति का पद राज्य की दृढ़ता एवं

१. अर्थ २।३३, पृ० १४०।

२. पाणिनि कालीन भारतवर्ष, पु० ४४८ और आगे।

३. नीति पृ० ३२१। ४. बृ० स्मृ० व्य० का० १।१६६।

५. शुक्र ४।८७२। गुल्मीभूत अगुल्मकम्। सारासारं पुनर्द्विधा॥

६. बृ. स्मृ. पृ. ४९३।

अन्तर राज्य सम्बन्धों के दृष्टिकोण से विशेष महत्वपूर्ण था। उसके सफल नियंत्रण एवं प्रशिक्षण पर युद्ध स्थलों में सेना की स्थिति निर्भर करती थी। बृहस्पति इस पद पर अनुभवी एवं राज्य की सेवाओं में दक्ष व्यक्ति को नियुक्त करने के पक्षपाती हैं। उनके अनुसार, सेनापति होने के पूर्व वह बलाधिकृत[1] होता था। सेनापति पद के लिये, (वे उसके लिये) उपधाशुद्ध, कर्तव्य-परायण तथा अपने पद के कार्यों का ज्ञाता होना अनिवार्य मानते थे। अर्थशास्त्रों में वर्णित प्रयोगों के करने की क्षमता अनिवार्य मानी जाती थी। जिसके लिये उसका नीति, निगम, एवं इतिहास आदि का पारंगत होना भी आवश्यक था[2]। किसी विभाग विशेष का ही ज्ञान उसे महत्व नहीं प्रदान कर सकता था वरन् उसके लिये अपनी तथा शत्रु की सेना की सामर्थ्य का ज्ञान आवश्यक था[3]। हस्ति, अश्व एवं पुरुषों अर्थात् सैनिकों के आचार का ज्ञान तथा (युद्ध विषयक) देश, काल, अहोरात्र, याम, निर्गम, आदि के निश्चय की क्षमता भी आवश्यक थी[4]। संभवतः विभागीय अध्यक्ष के रूप में वह संबद्ध विषयों का ज्ञान प्राप्त करता था एवं विभिन्न विभागीय विषयों के ज्ञान तथा युद्ध क्षेत्र की प्रसिद्धि के ही कारण महत्वपूर्ण पद प्राप्त कर लेता था। सेनापति के कार्यों का वर्णन करते हुए कौटिल्य का मत है कि, चतुरंग बल की वास्तविक स्थिति का ज्ञान, सभी प्रकार के शस्त्र-अस्त्र के प्रयोग, हस्ति, अश्व, रथ के संचालन की क्षमता के साथ साथ सेनापति में सेना के आयोग (अग्रगमन) तथा अयोग (पीछे हटने) की आज्ञा देने की क्षमता हो। उसे यह भी ज्ञात हो कि किस प्रकार की भूमि अपनी सेना के लिये अधिक लाभप्रद होगी, कौन काल या ऋतु अधिक उपयोगी होगी। शत्रु की सैन्य शक्ति कितनी है, एकमत शत्रु सैन्य में किस प्रकार भेद उत्पन्न किया जाय, अपनी बिखरी हुई सेना को कैसे इकट्ठा किया जाय, शत्रु की संगठित सेना को किस प्रकार तितर-बितर किया जाये। किस प्रकार दुर्ग पर आक्रमण किया जाय और किस समय सेना का अभियान किया जाय"[5]। सैनिक अनुशासन के प्रति सचेत होकर, जो न केवल यान के लिये ही महत्वपूर्ण है वरन् स्कन्धावार एवं युद्ध स्थल के लिये भी महत्वपूर्ण है उसे चाहिये कि वह तूर्य, ध्वज, आदि के अनुरूप व्यूह की आयोजना

---

१. वही ४९३। २. वही ४९३ अनुरक्तः शुचिरनुद्धतः उद्युक्तो नीतिनिगमेतिहासकुशलो बलाधिकृतः सेनापतिस्स्यात्।

३. वही ४९३। स्वधर्मविद् मृदुरर्थशास्त्रकृतयोग्यो—स्वपरबलबलावज्ञो।

४. वही ४९३। देशकालविद्—हस्त्यश्वपुरुषाचाराहोरात्रयाम-निर्गमविनिश्चितमतिश्च सेनापतिस्स्यात्।

५. अर्थ २।२३, पृ० १४०।

करे[१]। इस प्रकार कौटिल्य न केवल बृहस्पति द्वारा निर्दिष्ट सेनापति पद हेतु योग्यताओं को ही मान्यता प्रदान करते हैं वरन् उन्होंने बृहस्पति के आदर्शों को अधिक व्यापकता प्रदान करते हुए, सैन्य प्रशासन के सर्व्वोच्च पद के लिये कर्तव्य तालिका प्रस्तुत की है। शुक्र द्वारा निश्चित प्रधान की कर्तव्य सूची बृहस्पति के सेनापति के कर्तव्यों से बहुत कुछ समता रखती है[२]।

सेनापति या प्रधान सेनापति के अन्तर्गत सेना के अन्य सभी उपविभाग कार्य करते थे। ऐसा प्रतीत होता है कि, मंत्रिमण्डल के सदस्यों की ही भाँति ये विभागीय अध्यक्ष व्यक्तिगत रूप से अपने-अपने विभाग के कार्यों के लिये सेनापति के प्रति उत्तरदायी होते थे जो अन्तिम रूप से सभी सैन्य विभागोंके प्रशासन के लिये राजा के प्रति उत्तरदायी होता था। बृहस्पति कहीं भी मेगस्थनीज की भाँति सैन्य प्रशासन की तीस सदस्यों की महासमिति एवं पाँच-पाँच सदस्यों की विभागीय उप समितियों का वर्णन नहीं करते[३], इसके विपरीत विभिन्न अध्यक्षीय विभागों का वर्णन करते हैं जिनकी संख्या निःसंदेह पाँच तो है ही (हस्ति, अश्व, रथ, पदाति एवं नौ) तथा छठे (विष्टि) विभाग की भी सम्भावना प्रतीत होती है[४]। ऐसा प्रतीत होता है कि, उपर्युक्त अध्यक्षीय विभाग सेनापति के अन्तर्गत अपने विभाग के प्रति उत्तरदायी होते हुए भी अन्य विभाग से स्वतंत्र होते थे।

अध्यक्षीय विभाग, उनके कार्य एवं उपादेयता—बार्हस्पत्य वर्णनों से ज्ञात होता है कि, सेना के अध्यक्षीय उपविभागों में हस्त्यध्यक्ष[५] के अन्तर्गत कार्य करने वाला हस्ति सेना विभाग विशेष महत्वपूर्ण था। सम्भवतः अनार्यों की युद्ध प्रणाली के अन्तर्गत हाथियों का विशेष स्थान था। बुद्ध युगीन भारत से लेकर सांची एवं भरहुत के भास्कर्य चित्रों एवं बाद के युगों में भी हस्ति सेना का विशेष महत्व था। गज लक्षण प्रकरण में बृहस्पति ने हाथियों के लक्षण एवं उनकी विशेषताओं तथा उनके प्रकारों का विशद वर्णन किया है[६]। बृहस्पति के अनुसार राज्य के हस्तिवनों का संरक्षण हस्त्यध्यक्ष का कर्तव्य था। हाथियों के कुल, जाति, साम्य एवं गुणों की परख इसका कर्तव्य था[७]। हस्ति लक्षणों पर ही शत्रु पर

---

१. वही २।२३, पृ० १४०। २. शुक्र २।८३,८९—९३।

३. Ancient India—Magasthenes and Arrian–p. 86.

४. शन्ति १०४।३७।

यदा स्यान्महती सेना हयनागरथाकुला।
पदातियन्त्रबहुला स्वनुरक्ता षडगिनी॥

५. बृ० स्मृ०, पृ० ४९३। ६. लक्षणप्रकाश, पृ० ३३१-३४।

७. बृ० स्मृ०, पृ० ४९३। वन-कुल-काल-जाति-साम्यगुणवयश्शीलायुरादान-गमनकल्पनावान् व्यपगतभयो विजयोर्जितमना हस्त्यध्यक्षस्स्यात्।

विजय निर्भर करती थी[१] । बृहस्पति सांग्रामिक गजों का उल्लेख करते हुए उन्हें लक्षणों (अर्थात् निर्धारित गुणों एवं लक्षणों) से लक्षित मानते थे[२] । अन्यत्र राजा के लिये बृहस्पति सर्वलक्षण सम्पन्न उत्तम गज को सांग्रामिक कार्य के लिये उपयोगी मानते हैं । साथ ही साथ उनका आदेश है कि, लक्षण वर्जित गज पर आरोहण नहीं करना चाहिये[३] । वे भद्र, मन्द, मृग एवं संकीर्ण आदि हाथियों के चार प्रकार मानते थे[४] । सम्भवतः भद्र गज सर्वोत्तम प्रकार का होता था एवं मंद तथा मृग मध्यम तथा संकीर्ण विभिन्न प्रकारों के सम्मिलन के कारण हीन माने जाते रहे होंगे[५] । कौटिल्य, उत्तम मध्यम एवं हीन आदि प्रकारों के वर्णन करते हुए हस्तिवनों एवं हाथियों की आयु को भी महत्व प्रदान करते हैं । उनका कथन है कि कलिंग, अंग और कारुश के हाथी उत्तम, दशार्ण, सौराष्ट्र और पंचजन के कनिष्ठ माने जाते थे[६] । आयु एवं माप दण्ड के अनुरूप भी हाथियों का वर्गीकरण स्वीकार करते हुए कौटल्य का कथन है कि, सात हाथ ऊँचा, चौदह हाथ लम्बा, दस हाथ मोटा तथा चालीस वर्ष की आयु का हाथी सर्वश्रेष्ठ होता था, तीस का मध्यम एवं पचास का कनिष्ट[७] । बृहस्पति हाथी के कार्यों का वर्णन नहीं करते ।

इस समस्त विभाग का संचालन हस्त्यध्यक्ष करता था । पद का महत्व दृष्टिगत करते हुए वृद्ध बृहस्पति ने उसके लिये भय रहित, विजयों द्वारा अर्जित कीर्तिवाला, युद्धभूमि में गमन या अभियान करने की योजना में समर्थ[८], होना आवश्यक माना है । इस मत को बल प्रदान करते हुए कौटिल्य और भी अधिक विस्तृत कर्तव्य तालिका प्रस्तुत करते हैं[९] । बृहस्पति एवं कौटिल्य के संयुक्त वक्तव्यों से स्पष्ट हो जाता है कि, हस्त्यध्यक्ष पद प्राप्ति के हेतु, विभागीय सेवा, पूर्व अनुभव एवं ख्याति का महत्वपूर्ण स्थान था। कौटिल्य का तो स्पष्ट कथन है कि, इन सब कार्यों का व्यक्तिगत अनुभव आवश्यक था[१०] ।

---

१. लक्षण प्रकाश पृ० ३२० । रिपुविजयः फलमेषां नागानां नागलक्षणोक्तानाम्।

२. वही पृ० ३२० । सर्वलक्षणसम्पूर्णो यो भवेद्गज उत्तमः ।।
संग्रामादिषु पार्थिवस्तं समारुहेत् ।

३. वही पृ० ३२० । सांग्रामिका द्विपा राजन् सम्यग्लक्षणलक्षिताः ।।

४. वही पृ० ३४७ । राज्ञा तथापि लक्षणवर्जितो वर्जनीयश्च ।

५. वही पृ० ३२०-४७ ।

६. अर्थ २।२, पृ० ५० । ७. वही २।३१, पृ० १३६ ।

८. बृ० स्मृ० पृ० ४९३ ।
गमनकल्पनावान् व्यपगतभयो विजयोर्जितमना हस्त्यध्यक्षस्स्यात् ।

९. अर्थ २।३१, पृ० १३५ ।

१०. वही २०।३१, पृ० १३५—३६ ।

अश्वसेना :—बृहस्पति ने अश्वसेना को महत्व प्रदान किया है। हाथियों की ही भाँति अश्वों का भी चुनाव अपने क्षेत्र, जाति, साम्य, गुण, लक्षण के आधार पर किया जाता था।[१] बृहस्पति अश्वों की प्राप्ति के स्थानों एवं उनके प्रकारों की विवेचना नहीं करते। बृहस्पति के अनुसार इस विभाग का प्रधान अधिकारी अश्वक्षेत्रों,जाति, साम्य, गुण, लक्षण, तथा वाहन एवं अस्त्रों का ज्ञाता, तथा अत्ति-अर्थ कार्यों के करने की क्षमता रखता हो।[२] कौटिल्य भी राजकीय अश्वों का पालन-पोषण उनकी सेवा शुश्रूषा, चिकित्सा, प्रशिक्षण, आदि कार्य, तथा विभिन्न श्रेणी के अश्वों को उनके लक्षणों एवं विशेषताओं सहित राजकीय निबन्ध पुस्तक पर अंकित करना, विक्रयार्थ, क्रीत, युद्धों में प्राप्त, अश्वशाला में उत्पन्न, सहायता के प्रतिफल में प्राप्त, गिरवी, धरोहर के रूप में आये हुए अश्वों का वर्णन, कुल, वय, चिह्न, वर्ग आदि का अंकन इसी अधिकारी के कार्य मानते थे।[३] बृहस्पति एवं कौटिल्य के वर्णनों से स्पष्ट होता है कि अश्वाध्यक्ष यह पद प्राप्त करने के पहले भी विभागीय अधिकारी होता था। जो अपने अनुभव एवं योग्यता के बल पर इस पद पर पहुँच जाता था।[४]

रथ[५] **(सेना)**—बृहस्पति ने दो स्थलों पर रथ शब्द का प्रयोग किया है किन्तु कहीं भी रथाध्यक्ष के पद् के लिये अनिवार्य योग्यताओं एवं उसके कर्तव्यों का वर्णन उपलब्ध नहीं होता। कौटिल्य के वर्णनों से प्रतीत होता है कि अश्वाध्यक्ष एवं रथाध्यक्ष के कर्तव्यों में विशेष अन्तर नहीं था।[६] उसके अतिरिक्त कर्तव्यों में, रथ निर्माण, उनकी मरम्मत, अस्त्रशस्त्र, रथों के आवरण, लगाम आदि उपकरण, रथिक-सारथी की उनके कर्तव्यों में नियुक्ति, कार्य करने वाले शिल्पियों के वेतन भत्ते का प्रबंध आदि की गणना होती थी।[७] रथ कर्म या रथ सेना के

---

१. बृ० स्मृ० ४९३। क्षेत्र जातिसाम्यगुणलक्षण।

२. बृ० स्मृ० ४९३।

क्षेत्रजातिसाम्यगुणलक्षणवाहनास्त्रज्ञो अत्त्यर्थसमर्थः शुचिरनुद्धतोऽनुरूपोऽश्वाध्यक्षस्स्यात्।

३. अर्थ २।३०, पृ० १३२। अश्वाध्यक्षः पण्यागारिकं क्रयोपगतमाहवलब्धमाजातं साहाय्यकागतकं पणस्थितं यावत्कालिकं वाश्वपर्यग्रं कुलवयोवर्णचिह्नवर्गागमैलेवयेत्।

४. वही २।३०, पृ० १३२, बृ० स्मृ० ४९३।

५. बृ० स्मृ० १।१६६, शान्ति १०४।३७।

६. अर्थ २।३३, पृ० १३९।

अश्वाध्यक्षेण रथाध्यक्षो व्याख्यातः। स रथ कमातन्कारयेत्।

७. वही २।३३, पृ० १३९–४०।

कार्यों में अपनी सेना की रक्षा, संग्राम में शत्रु को रोकना, योद्धाओं को पकड़ना, अपने योद्धाओं को छुड़ाना, अपनी सेना को संगठित करना, शत्रु सैन्य को छिन्न-भिन्न करना, भय दिखा कर उसे विचलित करना, भयंकर घोष करना, अपनी सेना के औदार्य को बढ़ाना आदि परिगणित होते थे।[1]

पत्ति सेना—चतुरंग बल के अन्तिम महत्वपूर्ण अंग पत्ति सेना (पैदलों) के लिये शान्तिपर्व मे उपलब्ध बार्हस्पत्य उद्धरण में पदाति[2] शब्द का प्रयोग मिलता है किन्तु उसके अध्यक्ष के कार्यों का वर्णन उपलब्ध नहीं होता। कौटिल्य भी रथ सेना की ही भाँति पदाति के कार्यों को मानते हैं।[3] उनके अनुसार सभी देश काल में शस्त्रग्रहण करना एवं सैन्य प्रशिक्षण उनका कर्तव्य[4] था। पाँचवीं शती ईस्वी पूर्व के उत्तरार्ध में भारतीय पदाति इतनी महत्वपूर्ण हो चुकी थी कि पारसीक शासक क्षयार्ष के पक्ष में भारतीय सेनाएँ ग्रोस में लड़ी थीं। पदाति का वर्णन करते हुए हेरोडोटस का कथन है कि, भारतीय सूती वस्त्र पहने बेत के धनुष एवं बाणों से युक्त थे। बाणों के अग्रभाग में लोहे का फल लगा होता था। गंधार के सैनिक धनुष एवं छोटे भाले लिये हुए थे जो पास के युद्ध के लिये उपयोगी थे जब कि भारतीय दूर से निशाने लगाते थे।[5]

अन्य दो अंग—चतुरंग बल के अतिरिक्त दो अन्य अंग सम्मिलित होकर उसे षडंगबल बना देते थे। शान्तिपर्व के बार्हस्पत्य उद्धरण में सेना को षडंगिनी बताया गया है।[6] बृहस्पति वृक्षों एवं पर्वतों[7] पर रहने वाली सेना का उल्लेख करते हैं। संभवतः यह सेना जंगल के प्रधान के अन्तर्गत रहती रही होगी। इस सेना की उपयोगिया संभवतः पर्वतीय एवं जंगली क्षेत्रों में विशेष रूप से होती रही होगी, जहाँ पर अपने राज्य की चतुरंग सेना का प्रवेश भी दुष्कर होता होगा। शत्रु के लिये अज्ञात प्रदेश होने के कारण यह सेना कम समय, व्यय एवं व्यक्तियों के अनुपात में विशेष सफलतापूर्वक कार्य कर सकती रही होगी। बृहस्पति नौ (सेना) का भी उल्लेख करते हैं। संभवतः यह सेना कौटिल्य के

---

१. वही १०।४, पृ० ३७१।

२. शान्ति १०४।३७।

३. अर्थ २।३३, पृ० १४०। एतेन पत्त्यध्यक्षो व्याख्यातः।

४. वही २।३३, पृ० १४०।
समौलभृतश्रेणिमित्रामित्राटवीबलानां सारफल्गुतां विद्यात्।

५. The Age of Imperial Unity, p. 42.

६. शान्ति १०४।३७।

७. बृ० स्मृ० व्य० का० १।१६६, शान्ति १०४।३७।

युग की ही भाँति बृहस्पति के समय में भी नावध्यक्ष के अन्तर्गत कार्य करती रही होगी। इसके कर्तव्यों में अपने राज्य की नदियों की सीमा की रक्षा, युद्ध के अवसरों पर नदी पार करने में सेना को सहायता देना, शत्रु की नावों को नष्ट करना आदि रहा होगा। शान्ति के समय में नदी मार्गों से आने जाने वाली व्यापारिक वस्तुओं की निगरानी भी इसी विभाग का कार्य रहा होगा।[१]

बृहस्पति विष्टि का वर्णन नहीं करते किन्तु उनके युग में भी कौटिल्य की भाँति सैनिकों के सामान को ले जाने के लिये तथा सामान की देख रेख करने वाला विभाग रहा होगा। कौटिल्य के अनुसार विशिष्ट के कर्तव्यों में तम्बू, मार्ग के पुल, कुए, घाटों का शोधन, वनों की घास साफ करना, यंत्र, आयुध, कवच तथा अन्य प्रकार की युद्धोपयोगी सामग्री घास आदि का वहन, युद्धभूमि से आयुध, कवच आदि इकट्ठा करना परिगणित होता था।[२]

युद्ध समिति—युद्ध सम्मेलन के अवसरों पर संभवतः राजा के अतिरिक्त मंत्रिन्, एवं सेनापति युद्ध समितियों में विचार-विमर्श करते रहे होंगे। बृहस्पति का कथन है कि, मंत्रियों से विमर्श करने के बाद ही राजा युद्ध अथवा समर्पण करने का निश्चय करें। यथासम्भव एक के साथ विचार विमर्श किया जाय किन्तु विशेष अवसरों पर अधिक लोगों के साथ मंत्रणा करने की नीति को बृहस्पति मान्यता प्रदान करते हैं।[३] संभवतः युद्ध समितियों में अपनी एवं शत्रु-सेना के बलाबल, राज्यों की शक्ति, मित्रों की स्थिति तथा युद्ध के पश्चात् अनुमानित लाभ के अतिरिक्त आक्रमण के ढंग आदि पर भी विचार होता रहा होगा।

सैनिक न्यायालय—कहना कठिन है कि, राज्य में शान्ति के संस्थापकों एवं रक्षकों (सैनिकों) तथा सामान्य प्रजा में बृहस्पति स्पष्ट अन्तर मानते थे अथवा नहीं। सामान्य प्रजा के लिये वे धर्म सभा एवं न्यायालयों की योजना करते हैं जिनमें सभी दण्डनीयों में समता का सिद्धान्त उन्हें मान्य है। वे सैनिकों के लिये सेना में ही न्यायालयों का उल्लेख नहीं करते। एक स्थल पर युद्ध के अवसर पर सैनिक को अनासेच्य घोषित करते हैं।[४] उपलब्ध बार्हस्पत्य अंशों में सैनिक न्यायालय के उल्लेख नहीं मिलते, न ही सैनिक अपराधियों के लिये किसी विशेष दण्ड विधान का उल्लेख मिलता है। क्या वे नागरिकों एवं सैनिकों को न्याय के क्षेत्र में समान मानते थे ? कहना कठिन है।

---

१. अर्थ २।२८, पृ० १२६।
२. वही १०।४, पृ० ३७१।
३. शान्ति १०४। २५।
४. बृ० स्मृ० व्य० का० १।१३७। आसन्ने सैनिकः संख्ये।

अस्त्र-शस्त्र—उपलब्ध बार्हस्पत्य अंशों में सामान्य रूप से सायक[१], शर[२], अथवा बाण[३] के उल्लेख प्राप्त होते हैं। साथ ही साथ आयुधों[४] और यंत्रों[५] का भी वर्णन मिलता है। कौटिलीय में कहीं अधिक विस्तार से अस्त्र, शस्त्र और आयुधों के वर्णन उपलब्ध होते हैं। कौटिलीय के अनुसार यंत्र पाषाण, गोष्पण, मुष्टिपाषाण, रोचनी, एवं प्रस्तर आदि आयुध हैं।[६] उन्होंने यंत्रों को भी स्थिर, चल, हलमुख आदि विभागों में विभाजित किया है।[७] स्थैर्य यंत्र में सर्वतोभद्र, जामदग्न्य, बहुमुख, विश्वासघाती, संघाटी, यानक, पर्जन्यक, अर्ध बाहु तथा ऊर्ध्व बाहु की गणना करते हैं।[८] महाशिलाकण्टक एवं रथमूसल नामक यंत्रों की सहायता से अजातशत्रु ने वज्जियों को परास्त किया था।[९] बृहस्पति के युग तक आते आते अस्त्र, शस्त्र, यंत्र तथा आयुधों की सहायता से युद्ध करने की कला विकसित हो चुकी थी। यह आश्चर्यजनक बात है कि बार्हस्पत्य अंशों में शिरस्त्राण, कण्ठत्राण तथा वारवाण आदि सुरक्षात्मक वस्तुओं के वर्णन उपलब्ध नहीं होते जबकि कौटिलीय में इनका विस्तृत वर्णन मिलता है।[१०] मूल ग्रन्थ के अभाव में केवल संदर्भों के बल पर कोई भी निर्णायक मत प्रकट करना समीचीन न होगा।

व्यूह—अस्त्र शस्त्रों की ही भाँति व्यूह सम्बन्धी बार्हस्पत्य चिन्तन के विशेष वर्णन उपलब्ध नहीं होते। कौटिलीय अर्थशास्त्र[११] तथा उसी की भाँति कामन्दकीय नीतिसार में प्रतिग्रह व्यूह सम्बन्धी बार्हस्पत्य मत के वर्णन उपलब्ध होते हैं। उसका कथन है कि, दोनों पक्ष, दोनों कक्षाएँ तथा उरस्य (का सम्मिलन) बार्हस्पत्यों के अनुसार प्रतिग्रह (व्यूह का निर्माण करता) है।[१२] इन दोनों के

---

१. बृ० स्मृ० व्य० का० ८।६२।   २. वही व्य० का० ८।५८।६०।
३. वही० व्य० का० १।२९, शान्ति १०४।३७।
४. वही व्य० का० १।२९।   ५. अर्थ २।१८, पृ० १०२।
६. वही २।१८, पृ० १०१।   ७. वही।
८. वही २।१८, पृ० १०१।
९. Political History of Ancient India, p. 213.
१०. अर्थ २।१८, पृ० १०२।
११. वही १०।६, पृ० ३७५।
"पक्षौ कक्षावुरस्यं प्रतिग्रहः" इति बार्हस्पत्यः "पक्षावुरस्यं प्रतिग्रहः" इत्यौशनसो व्यूहविभागः।
१२. कामन्दकीय १९।३१। उरस्य कक्षपक्षौ च व्यूहोऽयं स प्रतिग्रहः।
गुरोरेष च शुक्रस्य कक्षाभ्यां परिवर्जितः।

मतानुसार पक्ष, कक्ष तथा उरस्य सेना के दण्ड, भोग, मण्डल, असंहत आदि व्यूहों का निर्माण करते हैं ।[1] कौटिल्य ने इन व्यूहों के भी प्रभेद बताये हैं एवं यह भी बताया है कि किस व्यूह के विरुद्ध किस व्यूह का प्रयोग किया जाय ।[2]

१. अर्थ १०।६, पृ० ३७५। प्रपसकक्षोरस्या उभयोः। दण्डभोगमण्डलासंहताः प्रकृतिव्यूहाः। तत्र तिर्यग्वृत्तिर्दण्डः। समस्तानामन्वावृत्तिर्भोगः। सुतरां सर्वतोवृत्तिः मण्डलः। स्थितानां पृथगनीकवृत्तिरसंहतः।

२. वही १०।६, पृ० ३७६–७७।

नवम अध्याय

दुर्ग

दुर्ग के अर्थ, विभिन्न प्रकार एवं महत्व :—बृहस्पति ने राजधानी की सुरक्षा एवं वैभव के लिये भी निर्देश करना आवश्यक माना था। राजधानी का महत्व राजनीतिक, कूटनीतिक एवं सामरिक आवश्यकताओं के कारण भी होता था। यही कारण है कि, बृहस्पति और अन्य अर्थशास्त्रियों ने इसे महत्वपूर्ण स्थान प्रदान किया था।[1] प्राचीन भारतीयों ने कभी भी इस शब्द का प्रयोग संकुचित अर्थों में सामान्य किले के लिये न करके, राजकीय सुरक्षित नगर, पुर या राजधानी के अर्थ में किया था। इस शब्द का प्रयोग सामान्य दुर्गों के लिये हुआ है, जिनकी दृढ़ता, स्थिति, संगृहीत यंत्रों, कोश, एवं जनशक्ति पर ही युद्धों में राज्य की जय-पराजय निर्भर करती थी। राजधानीय दुर्ग में राजा के आवास के कारण उसका महत्व द्विगुणित हो जाता था।[2]

दुर्ग शब्द के अर्थ एवं दुर्गों का महत्व :—बृहस्पति के नाम से सम्बद्ध किसी भी शास्त्र, मत अथवा नीति शास्त्र के प्राप्य उद्धरणों में दुर्ग शब्द की व्युत्पत्ति नहीं मिलती। दुर्ग के महत्व का वर्णन कामन्दक ने किया है। उसके मतानुसार "दुर्ग जल तथा धन धान्य से सम्पन्न और (दृढ़ होना चाहिये ताकि) समय (एवं ऋतु) से अप्रभावित रह सकें। उसका स्पष्ट कथन है कि दुर्गहीन शासक झंझावात के समय के बादलों के समान होता है।[3] सोमदेव के अनुसार, जिसके अभियोग से पर दुःखी होते हैं, दुर्जनों के उद्योग व अपनी आपदाओं के कारण दुर्ग होते हैं।[4] उनके इस कथन की टीका करते हुए टीकाकार (हरिबल) का कथन है कि, दुर्ग की उपलब्धि से शत्रु दुखी होते हैं, तथा उनकी खोज एवं उन्हें पकड़ने के लिये जिनका घेरा डाला जाता है और जो विजिगीषु के नाश का

---

१. कामन्दकीय ८।४; अर्थ ६।१, पृ० २५७; मनु ९।२९६–९७; याज्ञवल्क्य १२।३५१।५२।

२. बृ० स्मृ० व्य० का० १।२८।१९। ३. कामन्दकीय ४।५८।

४. नीति दुर्ग समुद्देश, अध्याय २०।१।

यस्याभियोगात्परे दुःखं गच्छन्ति, दुर्जनोद्योगविषया वा स्वस्यापदो गयमतीति दुर्गम्।

कारण होते हैं, उन्हें दुर्ग कहते हैं ।[1] शब्द कल्पद्रुम "दूर + गम् सुदुरोरधिकरणे ३।२।४५ दुःखेन गच्छत्यत्र" आदि शब्दों द्वारा इस शब्द की सिद्धि करते हुए इसे पहुँचने में दुरूह या कठिन बताता है ।[2] विलसन दुर्ग शब्द का प्रयोग साधारण किले के लिये स्वीकार करते हैं,[3] किन्तु प्राचीन भारत में इसका प्रयोग राजधानी के अर्थ में भी होता था ।[4] बृहस्पति दुर्ग के निवासियों को पौर[5] शब्द भी पुर का ही उद्भव है । यही नहीं, मनु के अनुसार साम्राज्य के स्पष्ट दो विभाग होते थे—प्रथम दुर्ग एवं द्वितीय के अन्तर्गत दुर्ग के अतिरिक्त शेष राष्ट्र सम्मिलित होता था ।[6]

दुर्ग के प्रकार—बृहस्पति दुर्गों के औदक, पार्वत, वार्क्ष्य, ऐरण एवं धान्वन आदि पांच प्रकार मानते हैं ।[7] कौटिल्य भी बृहस्पति की ही भांति अर्थशास्त्रीय परम्परा का अनुकरण करते हुए दुर्गों के औदक, पार्वत, धान्वन एवं वन आदि चार प्रभेद मानते हैं ।[8] कामन्दकीय का लेखक भी बृहस्पति की भाँति दुर्गों के पाँच प्रभेद मानता है ।[9] महाभारत, अग्नि पुराण, एवं मानव धर्मशास्त्र छ;[10] एवं मानसार, मानसोल्लास, शुक्रनीति एवं समरांगण के लेखक भिन्न-भिन्न एवं अधिक व्यापक तालिकाएँ प्रस्तुत करते हैं ।[11] इन विभिन्न प्रकारों में बृहस्पति किस

---

१. वही पृ० १९८ (हरिबलीया टोका)

यस्य दुर्गस्यभियोगात्प्राप्तेः परे शत्रवो दुःखं यांति तथा दुर्ज्जनान्वेषणयां यत्तद्ग्रहणार्थं योऽसावुद्यमः तस्य विषयो गोचरं यद्दुर्गं लक्षेन प्रविशति—तथा स्वस्य विजिगीषं (षोः) स्वामिनो यद्दुर्गं नाशं नयति । काम् ? आपदं व्यसनं तद्दुर्गमुच्यते ।

२. शब्द कल्पद्रुम पृ० ७२६ ।

३. A Sanskrit English Dictionary p. 431.

दुर्ग A fort, a strong hold a Durg or hill fort.

४. अमरकोश (पर्वतादिभिर्दुर्गमं पुरम्) २।८।१७ "पुरं दुर्गमधिष्ठानं कोट्टोऽस्त्री जटाधरः"—शब्दकल्पद्रुम पृ० ७२६, अभिज्ञानशाकुन्तल पृ० ७९, २४३ एवं ११२ ।

५. बृ० स्मृ० व्य० का० १।३२ ।

६. मनु ७।२९ । ततो दुर्ग च राष्ट्रं च सचराचरम् ।

७. बृ० स्मृ० व्य० का० १।४५ ।

८. अर्थ २।३, पृ० ५१–५४ ।

९. कामन्दकीय ४।५९ ।

१०. शान्ति ८६।५; अग्नि पुराण; २२२।४।५; याज्ञवल्क्य १२।३२१; मनु ७।७० ।

११. मानसार १०।४५।४६; शुक्र ४।५०-५५; समरांगण, ८।३७।३९; Architecture of Mānasāra, Chap. x, vv. 88-91 p. 97.

प्रकार को महत्व प्रदान करते थे, विशेष विवरणों के अभाव में, कहना कठिन ही नहीं असम्भव भी है। अन्य लेखकों ने गिरि दुर्ग को विशेष महत्व प्रदान किया है। जबकि कौटिल्य नदी संगम पर बने हुए के समर्थक हैं।[1] बुद्ध युगीन भारत में गिरिव्रज गिरिदुर्ग था एवं विशेष महत्वपूर्ण माना जाता था जब कि कौटिल्य के युग में पाटलिपुत्र, नदी संगम पर बने दुर्ग, की विशेष महिमा थी।

दुर्ग निर्माण के ध्येय एवं उनकी सिद्धि—दुर्ग निर्माण का उद्देश्य बृहस्पति, राजा, राज-परिवार, प्रजा एवं संचित कोश की रक्षा मानते हैं।[2] दुर्ग निर्माण के सामरिक महत्व की ओर इंगित करते हुए मनु का कथन है कि, (दुर्ग के बाहर निर्मित) प्राकार में स्थित एक धनुर्धर सौ लोगों और सौ दस सहस्र लोगों से युद्ध कर सकते हैं। इसी कारण दुर्ग का विधान किया जाता है।[3] इस ध्येय की सिद्धि बहुत कुछ दुर्ग की भौगोलिक अवस्था पर भी निर्भर करती थी। बृहस्पति किसी विशेष प्रकार के दुर्ग का समर्थन न करके दुर्ग निर्माण को वास्तु-कला पर विशेष ध्यान देते हुए कहते हैं कि, भूमि चाहे सम या (विषम) निम्नोन्नत, (किसी भी प्रकार की) (हो उसी) के अनुरूप दुर्ग निर्माण किया जाय।[4]

दुर्ग निर्माण परक वास्तुकला:—दुर्ग की शक्ति, उसका सामरिक महत्व, उसकी सुरक्षा एवं दृढ़ता बहुत अधिक सीमा तक दुर्ग निर्माण परक वास्तुकला पर निभर करती थी। यद्यपि दुर्ग निर्माण कला वास्तुशास्त्र का विषय थी फिर भी दुर्ग के राजनीतिक महत्व के कारण बृहस्पति आदि अर्थशास्त्रियों ने इसे भी अर्थशास्त्र में स्थान प्रदान किया था। दुर्ग निर्माण के वास्तु विषयक वर्णन उपलब्ध बार्हस्पत्य अंशों में अधिक नहीं मिलते। कौटिलीय अर्थशास्त्र मानसार एवं समरांगण सूत्रधार में ही दुर्ग निर्माण विषयक वस्तु वास्तु-वर्णन उपलब्ध होते हैं, जिनके सम्मिलित वर्णन के आधार पर दुर्ग निर्माण कला का वर्णन सम्भव है।

भूमि परीक्षा—दुर्ग निर्माण के पूर्व निश्चित क्षेत्र में भूमि की परीक्षा अनि-वार्य मानी जाती थी। यह परीक्षा भूमि के स्वरूप, उसकी दृढ़ता एवं भावी वास्तु वहन शक्ति सम्बन्धी परीक्षा होती थी। इसी के अनुसार भूमि का महत्व

१. अर्थ २।३, पृ० ५१।

२. बृ० स्मृ० व्य० का० १।२८; मनु ७।६९; याज्ञवल्क्य, १२।३२०।

३. मनु ७।७४। एकः शतं योधयति प्राकारस्थो धनुर्धरः।
शतं दशसहस्राणि तस्माद्दुर्गं विधीयते॥

४. बृ० स्मृ० का० १।२३।

आंका जाता था। भूमि परीक्षा सम्बन्धी किसी विशेष मत का प्रतिपादन न करके बृहस्पति भूमि के अनुसार निर्माण वास्तु की आयोजना को मान्यता प्रदान करते हैं।[१] दुर्ग के लिये सम, निम्न एवं उन्नत तथा निम्नोन्नत (ऊँची नीची) सभी प्रकार की भूमि के प्रयोग को बृहस्पति मान्यता प्रदान करते हैं।[२]

दुर्ग निर्माण के आवश्यक अंग—दुर्ग निर्माण के अनिवार्य अंगों में बृहस्पति, शाला, अट्टालक एवं परिखा[3] आदि को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं। ये तीनों ही शब्द उनके गढ़े न होकर दुर्ग वास्तु के पारिभाषिकों के रूप में पहिले से ही प्रचलित रहे होंगे। बृहस्पति राज सन्निवेश की सुरक्षा के निमित्त दो प्राकारों का निर्माण आवश्यक मानते हैं।[४] कौटिल्य ने भी पृथक् सूत्रों में इन अंगों का वर्णन किया है।[५]

परिखा[६]—बृहस्पति प्राकार या नगर भीति के बाहर खुदी हुई खाई के लिये परिखा शब्द का व्यवहार करते हैं। कौटिल्य एवं सभी परवर्ती लेखकों ने पारिभाषिक अर्थों में इस शब्द का व्यवहार किया है। सम्भवतः दुर्ग-वास्तु अथवा दुर्ग निर्माण के लिये भूमि के अन्वेषण अथवा खोज के पश्चात् सर्वप्रथम कार्य परिखा का उत्खनन होता था क्योंकि परिखा से निकली हुई मिट्टी वप्र एवं प्राकार के निर्माण के लिये उपयोगी होती थी। पुनः दुर्ग की आन्तरिक सुरक्षा को अधिक बल प्रदान करने के लिये तथा शत्रु की विजय वाहिनी को रोकने के लिये परिखा का आयोजन किया जाता था। उपलब्ध बार्हस्पत्य अंशों में कहीं भी परिखा निर्माण के ढंग का वर्णन उपलब्ध नहीं होता। कौटिल्य का कथन है कि, प्राकार के चारों ओर एक एक दण्ड के अन्तर पर तीन परिखाओं का उत्खनन किया जाय। वे क्रमशः चौदह, बारह और दस दण्ड आयत हों। उससे आधी या कम या तीन अंश गहरी हों। नीचे के तल में सम हों एवं पत्थरों से बँधी हों। इधर उधर के किनारे पत्थर अथवा ईंट से मजबूत चुने हुये हों। कहीं-कहीं इतना अधिक खोद दिया जाय कि पानी निकलने लगे अथवा किसी नदी आदि से पानी लाकर भर दिया जाय। इनमें जल के निकास मार्ग अवश्य रहें। कमल हों तथा मगर आदि भी जल में रहें।[७] कौटिल्य से शतियों या

१. वही० व्य० का० १।३३। यत्र भूमिर्यथाविधा।

२. वही व्य० का० १।३३। ३. वही व्य० का० १।३३।

४. वही व्य० का० १।२८। ५. अर्थ २।३–४, पृ० ५१।५७।

६. बृ० स्मृ० व्य० का० १।३३. A Dictionary of Hindu Architecture, P. 340–A ditch, a moat, a trench round a fortified wall.

७. अर्थ २।३, पृ० ५१।

सहस्राब्दियों पहले से दुर्ग निर्माण कला विकसित हो चुकी थी। बुद्ध युगीन उज्जयिनी के त्रिवर्षीय (१९५५, ५६, ५७) उत्खनन भी उस युग में परिखा निर्माण पद्धति के साक्षी हैं।[१] शत्रु सेना को नष्ट करने में परिखा का महत्व आंकते हुए कौटिल्य का कथन है कि, परिखा के बाहर की भूमि में जानु भंजिनी, त्रिशूल समूह, अंधेरे गढ़ों, लोहे की शलाका से युक्त एवं तिनके से ढके गढ़ों, लोहे के कांटों में सांपों के अस्थिपंजर, तथा तालपत्रों के समान बने लोहे के जालों, तीन कोने वाले कांटों, कुत्ते की डाढ़ के समान नुकीले कीलों, बड़े-बड़े लट्ठों, अथवा पैर की नाप के बराबर गढ़ों, अग्नि गढ़ों, दूषित जल के गढ़ों से दुर्ग तक पहुँचने के मार्ग को पाट दे।[२] बार्हस्पत्य अंशों में शत्रु सैन्य के विनाशकारी दुर्ग क बाहर प्रयोजनीय इन उपक्रमों के वर्णन नहीं मिलते।

वप्र-प्राकार[३]:—बार्हस्पत्य अंशों में प्राकार शब्द का प्रयोग मिलता है, किन्तु वप्र शब्द नहीं उपलब्ध होता। कौटिल्य के वर्णनों से ज्ञात होता है कि, दुर्ग निर्माण वास्तु का वप्र अभिन्न अंग होता था। यही नहीं, प्राकार निर्माण के पूर्व वप्र निर्माण अनिवार्य था। इसके निर्माण के विषय मे कौटिल्य का कथन है कि परिखा, (के अन्तर्गत) तथा उसके चार दण्ड के अन्तर पर छ दण्ड ऊँचा अवरुद्ध (अर्थात् सब ओर से दृढ़) ऊँचाई से दुगना चौड़ा (—१२ दण्ड) वप्र होता था। हाथी और बैलों से उसे रौंदवाया जाता था। मानसार वप्र एवं प्राकार को समानार्थी मानता है[४]। उज्जयिनी के उत्खननों से ज्ञात होता है कि कभी-कभी

---

१. Indian Archaeology–A Review, 1956–57, p. 20.

The rampart was built in Period I by the dumping of a dug up yellow and black clays to form a thick wall with a gentle slope on the inner side and a less pronounced one on the exterior. As originally planned, it was surrounded on the West and distantly, on the north by the river Sipra, while a moat exposed by excavation on the eastern side and found to be filled with greenish water borne silt, added to it a line of defence in that direction and, presumably, on the south side a wall, being apparently connected with the river and thus completing the circuit of a water-barrier. The moat was found to have been at least 80 ft. wide and 20 ft. deep during its functional life.

२. अर्थ २।३, पृ० ५२–५३१।

३. बृ० स्मृ० व्य० का० १।२३; अर्थ २।३, पृ० ५१।

४. समरांगण १०।१६-१९; मानसार ९।३१, पृ० ३४।

वप्र-प्राकार अर्थात् मिट्टी की ही नगर भीति का निर्माण भी होता था। सम्भवतः इस प्रकार के वप्र-प्राकार की विशेषता थी कि उसे सरलता से तोड़ा नहीं जा सकता था।

प्राकार :—बृहस्पति राजा को आदेश देते हैं कि दो प्राकारों से युक्त दुर्ग का निर्माण करें[१]। सम्भवतः एक प्राकार राजकीय निवेश के चतुर्दिश रहता रहा होगा और दूसरा प्राकार समस्त लोक या प्रजा की गुप्ति के लिये होता रहा होगा। दुर्ग का वास्तविक प्राकार प्रजा की गुप्ति वाला ही रहा होगा। कौटिल्य दो प्राकारों का वर्णन नहीं करते। वे, वप्र पर प्राकार का निर्माण आवश्यक मानते हैं। कौटिल्य विभिन्न प्रकार के प्राकारों का वर्णन नहीं करते। किन्तु वे लकड़ी के प्राकार की आलोचना करते हुए कहते हैं कि उसमें आग लगने का भय रहता है[२]। मानसार का लेखक ईंटों के वप्र का वर्णन करता है[३] और समरांगण सूत्रधार का लेखक वप्र के ऊपर बड़ी शिलाओं एवं पकी हुई ईंटों के प्राकार के निर्माण का आदेश देता है[४]। कौटिल्य प्राकार की ऊँचाई १२ से २४ हाथ तक मानते हैं जो सम (१२, १४, १६) एवं (१३, १५, १७) विषम संख्याओं में हो सकती थी[५]। प्राकार चौड़ाई से दुगुना ऊँचा होता था[६]।

अट्टालक—बृहस्पति अट्ट[७] को दुर्ग निर्माण का अन्य महत्वपूर्ण अंग मानते हैं। दुर्ग की दृढ़ता एवं सुरक्षा के दृष्टिकोण से प्राकार के निश्चित स्थलों पर अट्ट का निर्माण अभिप्रेत होता था। बृहस्पति अट्टालकों के बीच की दूर एवं अट्टालक निर्माण वास्तु का वर्णन नहीं करते। कौटिल्य के युग में दो अट्टालकों के बीच की दूरी तीस दण्ड मानी जाती[८] थी। अट्टालक की वाह्य निर्माण वास्तु के विषय में बृहस्पति ही नहीं सभी लेखक मौन हैं। ईस्वी संवत् से पच्चीस वर्ष पूर्व के रोमन वास्तुशास्त्री विट्रूवियस ने टौवर या अट्टालक का वर्णन किया है। उसके अनुसार, ये या तो गोल हों या बहुकोण। चतुष्कोण अच्छे नहीं होते क्योंकि शत्रु के आक्रमणों के सम्मुख सरलतापूर्वक क्षतिग्रस्त हो जाते हैं जबकि गोल (अट्टालकों) में यह विशेषता रहती है कि क्षतिग्रस्त होने पर भी गोल होने के कारण उनके टुकड़े उन्हीं में रह जाते हैं और पूरे हिस्से को लिये बिना बाहर नहीं

१. बृ० स्मृ० व्य० का० १।३३।

२. अर्थ २।३, पृ० ५२।

३. मानसार १०।१०८-९।

४. समरांगण १०।२५।

५. अर्थ २।३, पृ० ५२।

६. वही २।३।५१-५२। द्विगुणोत्सेधम्।

७. बृ० स्मृ० व्य० का० १।३३।

८. अर्थ २।३, पृ० ५२।

गिरते[1]। अट्टालकों की आन्तरिक वास्तुकला का वर्णन करते हुए भोजदेव का मत है कि दो हर्म्यों (मंजिलों) वाले हों, विस्तार में प्राकार की ही भाँति हों। उन पर चरिका या चलने योग्य स्थान हो। चरिका से आधे विस्तार के द्वार हों[2]। अट्टालक में साला होती थी[3]। बृहस्पति ने भी अट्ट के पहले शाला शब्द का प्रयोग सम्भवतः इसी अर्थ में किया है[4]। चारिका में वेदिका (या रेलिंग) भी होती थी। सोपान सुखारोह होते थे तथा निर्व्यूह (छिपने के स्थान) होते थे। और कपिशीर्ष (कंगूरे) बने होते थे[5]। सम्भवतः सिंधु के दुर्गों के ही आधार पर आर्यों ने भी अपने दुर्गों का निर्माण किया होगा[6]। बृहस्पति के युग तक दुर्ग विषयक वास्तुकला अपनी प्रौढ़ावस्था प्राप्त कर चुकी होगी जैसा कि उनके पारिभाषिक प्रयोगों से ज्ञात होता है।

प्रतोली—प्रतोली का उल्लेख बार्हस्पत्य अंशों में नहीं मिलता किन्तु कौटिलीय, महाभारत, कामन्दकीय तथा समरांगण[7] सूत्रधार में वर्णन मिलते हैं। दुर्ग की सुरक्षा सामग्री एवं निकास के महत्वपूर्ण अंग के रूप में इसका विशेष महत्व था। समरांगण सूत्रधार के लेखक ने प्रतोली को अन्तःभूनिविष्ट संस्थान माना है, जिसके तीन तल होते थे एवं गोपुर तथा नगर के महारथ्या द्वारों के नीचे इसका निदेश वांछनीय माना जाता था[8]। कौटिल्य भी इसे सहर्म्यद्वितला मानते

---

1. Vitruvius-Book I chapter V (Extracts quoted in Indian Architecuture p. 145.) "The towers should be made either round or polygonal. A square tower is a bad form on accounts of its being easily fractured at the quoins by the battering ram; where as the circular has this advantage, that when battered, the pices of the masonry where of it is composed being cuneiform, cannot be driven in towards their centre without displacing the whole mass.

२. समरांगण १०।३१-३२। ३. वही १०।३२।

४. बृ० स्मृ० व्य० का० १।३३। ५. समरांगण १०।३४।

६. Military system in Ancient India page 27…It is quite possible that although the Aryans had no forts of their own the resources of fortification which they captured from the non-Aryans probably stood them in good stead, and they utilised them to the best of their ability.

७. अर्थ २।३, पृ० ५२; कामन्दकीय १६।२, समरांगण-१०।३८।

८. समरांगण १८।२५, १०।४७-४८।

हैं[1]। प्रतोली की निर्माण वास्तु का वर्णन करते हुए कौटिल्य का कथन है कि चौड़ाई से डेढ़ गुनी लम्बी प्रतोली बनानी चाहिये। आदितल के पाँच भाग हों (जिनमें) वापी, (इधर-उधर) शाला, और सीमागृह बनवाये, शालाओं के किनारे दो मंचों का निर्माण किया जाय। शाला तथा सीमागृह के बीच में आणि (या छोटा द्वार) हो। हर्म्य की दूसरी मंजिल की ऊँचाई पहली से आधी हो। आवश्यकतानुसार छत के नीचे स्तम्भों का सहारा हो। उत्तमागार की ऊँचाई अर्धवास्तुक (डेढ़ दण्ड) होनी चाहिये अथवा उत्तमागार (ऊपर बने महारथ्या) द्वार के परिमाण का तृतीयांश हो। उसके किनारे ईटों से जड़े हों। बायीं ओर चक्करदार सीढ़ियाँ हों तथा दाहिनी ओर छिपे तौर पर भीति में निर्मित सीढ़ियाँ हों[2]। विषय का विस्तार करते हुए भोजदेव का कथन है कि, प्रतोली के दायें भाग की ओर ऊपर की ओर अन्तराल हो (जिसका) दूसरा भाग बाहर हो। दूसरा मार्ग इसी प्रकार बायें भाग से निकले जो प्राकार के बाहर (परिखा के नीचे से उस पार) जाता हो। ये अन्तराल राजमार्ग के समान (चौड़े) हों जिनमें स्थान पर एक उत्तम वस्तु द्वार हो[3]। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतोली का महत्व सामरिक यंत्रों के संकलन के लिये ही नहीं वरन् अपने को हारता देखकर दुर्ग के बाहर सुरक्षित स्थान पर निकल जाने के लिये भी था। द्वार के नीचे गुप्त होने के कारण शत्रु के लिये अदृश्य होती थी।

गोपुर—बार्हस्पत्य अंशों में गोपुर का उल्लेख नहीं प्राप्त होता किन्तु इसका अर्थ यह नहीं लिया जा सकता कि दुर्ग चतुर्दिश प्राकार से घिरे होते थे और निकास का मार्ग नहीं होता था। सिन्धु उत्खननों से लेकर समरांगण के लेखन काल तक द्वारों की प्रथा अक्षुण्ण रही। अतः बृहस्पति के युग में इसका प्रचलन विचित्र न होगा। गोपुर का नामकरण कौटिल्य गोह की ऐसी इसके शीर्ष की आकृति के कारण मानते हैं।[4] जब कि भोजदेव प्राकाराश्रित द्वार को गोपुर मानते हैं किन्तु वे ही इसी प्रकार के अन्य द्वारों को महारथ्या आदि नामों से पुकारते हैं।[5] अतः इसे नगर का प्रधान द्वार ही कहा जा सकता है। इसकी सुरक्षा के लिये कौटिल्य चार हाथियों के बराबर चौथे दो परिघों (बेलनों) के प्रयोग का आदेश देते हैं। द्वार में एक अरत्नि (अर्थात् १ हाथ लम्बी) इन्द्र कील (चटखनी) प्रयोजनीय थी। गोपुर का मणि द्वार पाँच हाथ (ऊँचा) होता था।[6] कौटिल्य दो हाथ ऊँचा तोरण शीर्ष मानते हैं। द्वार का विस्तार पाँच दण्ड से लेकर आठ दण्ड तक हो सकता था।[7]

---

१. अर्थ २।३, पृ० ५२। सहर्म्यद्वितलाम्। २. वही २।३, पृ० ५३।
३. समरांगण १०।४८–५०। ४. अर्थ २।३ पृ० ५३।
५. समरांगण १८।५२; १०।३५। ६. अर्थ २।३, पृ०५३। ७. वही २।३, पृ०५३।

इन्द्रकोश एवं देव पथ—गोपुर की ही भाँति इन्द्रकोश एवं देवपथ आदि पारिभाषिकों का प्रयोग उपलब्ध बार्हस्पत्य अंशों में नहीं मिलता किन्तु कौटिल्य इनका वर्णन करते हैं। कौटिल्य के मतानुसार अट्टालक तथा प्रतोली (अर्थात् गोपुर एवं महारथा द्वारों) के बीच आवरण युक्त तीन धनुर्धरों के बैठने योग्य इन्द्रकोश (अर्थात् बालकनी) का निर्माण अभिप्रेत था।[१] प्रतोली एवं इन्द्रकोश के बीच दो हाथ चौड़े एवं प्राकार के निकट आठ हाथ चौड़े देवपथ (गुप्त मार्ग) का निर्माण भी आवश्यक था।[२] उससे एक या दो दण्ड की दूरी पर चढ़ने उतरने के लिये चार्या (सीढ़ियाँ) होती थीं।[३]

इस प्रकार जो धूमिल मित्र हमारे सम्मुख कौटिलीय अर्थशास्त्र की सहायता से दुर्ग की अर्थशास्त्रीय बार्हस्पत्य परम्परा के विषय में निर्मित होता है वह इसी निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि सुरक्षित राजधानी, शासन के केन्द्र एवं सामरिक महत्व के स्थान के रूप में विशेष रूप से सप्त प्रकृति राज्य में महत्व रखती थी और बृहस्पति आदि अर्थशास्त्रियों ने इसी संदर्भ में राजसत्ता के सात प्रमुख अंगों में इसे स्थान प्रदान किया था।

---

१. वही २।३, पृ० ५२। २. वही २।३, पृ० ५२।
३. वही २।३, पृ० ५२।

दशम अध्याय

न्याय प्रशासन

राज्य एवं न्याय—बार्हस्पत्य राज्यदर्शन की आधारशिला न्याय पर आधारित थी। बृहस्पति स्मृति में स्पष्ट वर्णन मिलता है कि अन्याय और अव्यवस्था को दूर करके शान्ति, व्यवस्था और न्याय की स्थापना के निमित्त व्यवहार और राज्य का उद्भव हुआ था।[1] बृहस्पति मानते थे कि राज्य के उद्भव से बहुत पहिले "आदि" अथवा "कृतयुग" में लोग धर्म प्रधान थे। परस्पर सहायता करते थे और अहिंसक थे। शनैः शनैः युग पतन के साथ साथ गुणों की हानि होने लगी। लोगों के हृदयों में मत्सर-द्वेष प्रवेश कर गया। फलतः कलह होने लगी। कोई हिंसा करता तो कोई देय वस्तु वापस न देता। इस अव्यवस्था को दूर करने के लिये व्यवहार का जन्म हुआ था। राजा उचित रूप से विवादों पर विचार करता था।[2] वे मानते थे कि पारस्परिक विवादों के निर्णय के लिये ही नहीं, समाज द्वारा निर्धारित व्यवस्था "वर्णाश्रमधर्म" के पालन कराने में भी राजा का विशेष योग होता था। उसी के भय से लोग अपने कार्य करते थे एवं धर्म विचलित नहीं होते थे।[3] बृहस्पति ने राजा के कर्तव्यों में शत्रु सैन्य के अतिरिक्त चोरों और शक्तिशालियों से प्रजा की रक्षा के लिये कण्टकोद्धरण और न्याय दर्शन का महत्व स्वीकार किया था। यह नित्य का न्याय दर्शन था।[4] यह राजा का निष्ठापूर्ण व्रत अथवा कर्तव्य था, जिसके प्रति जागरूक राजा स्वर्ग प्राप्त करता एवं निष्ठाहीन राजा नरकगामी होता और उसको अयश मिलता था।[5] अतः न्याय करण और न्याय प्रशासन का संगठन राज्य के प्राथमिक कर्तव्यों में परिगणित होता था।

धर्म, दण्ड एवं व्यवहार—प्राचीन भारतीय न्याय पारिभाषिक शब्दावली के तीन महत्वपूर्ण शब्दों—धर्म, दण्ड एवं व्यवहार—का बृहस्पति ने न्यायिक अर्थों में प्रयोग किया है। तीनों ही शब्दों का प्रयोग पृथक् पृथक् प्रसंगों में पृथक् रूप से होता रहा है। धर्म शब्द का सामान्य प्रयोगों में प्राकृतिक, सामाजिक एवं नैति-

---

१. बृ० स्मृ० व्य० का० १।१–९।

२. वही सं० का० ७–८, व्य० का० १।२–४।

३. वही व्य० का० १।८। ४. वही व्य० का० १।३८–४०।

५. वही व्य० का० १।११०।

कता के नियमों और कर्तव्यों के लिये प्रयोग होता रहा है। विशिष्ट अर्थों में सामाजिकता के नियमों, सामान्य धर्म, वर्णाश्रम धर्म, आपद्धर्म, राजनीतिक नियमों—राजधर्म के लिये भी प्रयुक्त होता रहा है। धर्म की विशद परिभाषा में अभ्युदय एवं निःश्रेयस सिद्धि के प्रयत्न परिगणित होते थे। वस्तुतः धर्म शब्द का दार्शनिक निरूपण उसे "कर्तव्य-परिधि" से ऊपर उठाकर इहलोक एवं परलोक दोनों की उपलब्धि के प्रयत्नों में तादात्म्य उपस्थित करता था। बार्हस्पत्य न्याय प्रशासन का भी लौकिक के साथ-साथ पारलौकिक दृष्टिकोण होता था।[१] लौकिकता के नाते सामाजिकता के नियमों का पालन कराना, वर्णाश्रमों को अपने-अपने कर्तव्यों के प्रति प्रेरित करना एवं स्वधर्म अर्थात् अपने कर्तव्यों के पालन से विचलित होने वालों को दण्ड देना बार्हस्पत्य मतानुसार राजा का पुनीत कर्तव्य था।[२] धर्म और न्याय समान रूप से कर्तव्याकर्तव्य का विश्लेषण करते थे एवं धर्म के नियामक स्वरूप की स्थापना करते थे।[३] शनैः शनैः धर्म और न्याय शब्द पर्यायवाची माने जाने लगे। धर्मशास्त्र युग में धर्म सभा शब्द न्याय सभा के अर्थों में सामान्यतयाः व्यवहृत हुआ है।[४] पाणिनि ने भी धर्म न्याय में सामंजस्य की स्थापना की है। सूत्र ४।४–९२ के अनुसार, धर्म से अविचलित या परम्परा के अनुसार कार्य धर्म्य कहलाता है। न्याय शब्द का प्रयोग अभ्रेप या परम्परागत कार्यों से विचलित न होने के लिये किया है (३।३।३७)। परम्परा या प्रयोग मान्य कार्य न्याय्य (४।४।९२) था जो धर्म्य की ही भाँति था।[५] बृहस्पति ने न्याय करण पुण्य कार्य माना है, जिसके प्रति निष्ठा पुण्यकारिणी और स्वर्ग प्रदायिनी है तथा निष्ठाहीनता नरक का मार्ग प्रशस्त करती है।[६] उनके मतानुसार विप्र धर्मद्रुम का आदि होता है, महीपति स्कन्ध एवं शाखा होता है।[७] राजा का कर्तव्य यमव्रत होता है।[८] धर्म हानि के ही कारण वर्णाश्रमों के नेता राजा का उद्‌भव हुआ था।[९]

धर्म और दण्ड परस्पर सम्बद्ध शब्द हैं। मनु दण्ड को धर्मज मानते हैं,[१०] जिसका उद्भव धर्म की रक्षा के लिये हुआ था। बृहदारण्यक उपनिषद् धर्म को क्षत्र की संज्ञा प्रदान करते हुए कहता है कि, वह (ब्रह्मन्) विशेष शक्तिशाली नहीं था। उसने अधिक शक्तिशाली एवं महत्वपूर्ण धर्म का सृजन किया। धर्म

---

१. वही व्य० का० १।९७।
२. वही व्य० का० १।८–९।
३. वही व्य० का० १।५–६।
४. पाणिनि कालीन भारतवर्ष पृ०४१२।
५. वही पृ० ४१२।
६. बृ० स्मृ० व्य० का० १।७०, ७७।
७. वही व्य० का० १।४९।
८. वही व्य० का० १।१०।
९. वही व्य० का० १।९।
१०. मनु ७।१४।

क्षत्र का क्षत्र है। इसी कारण शक्तिहीन व्यक्ति भी उसकी सहायता से शक्ति-शाली पर शासन कर लेता है[1]। याज्ञवल्क्य स्मृति की टीका करते हुए विश्वरूपा-चार्य ने एक लुप्त ब्राह्मण ग्रन्थ का संदर्भ प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि, देवता अपनी कृपा द्वारा मनुष्यों को नियमित न कर सके तथा लुप्त हो गये। प्रजापति ने कहा कि, कौन उनकी (मनुष्यों की) रक्षा करेगा, जिसके निमित्त देवताओं ने चन्द्र, सूर्य, इन्द्र, विष्णु, कुबेर एवं यम की सौंदर्य, तेज, शक्ति, विजय, परित्याग, एवं निग्रह शक्तियों के संग्रह द्वारा मानवीय राजा का निर्माण किया। रक्षा कार्य के निमित्त जब उसने धर्म की आवश्यकता व्यक्त की तो उसके दूसरे रूप का निर्माण किया जिसे दण्ड कहा जाता है। वह धर्म जन्य है। अतः राजा जानता है कि (आवश्यकता पड़ने पर) अपने पिता पर भी दण्डपात करना चाहिये।[2] यद्यपि बृहस्पति किसी स्थल पर इस प्रकार का वक्तव्य नहीं देते फिर भी वे उचित प्रकार से दण्ड धारण, अन्यायियों का दमन एवं अवसर उपस्थित होने पर अपने निकटतम सम्बन्धी को दण्ड देना संगत ठहराते हैं।[3] कौटिल्य के युग में बार्हस्पत्य मतावलम्बी लोकयात्रा के निमित्त कर्ता ही नहीं दण्डनीति का ज्ञान भी परमावश्यक मानते थे।[4] दण्डनीति का ज्ञान नय और अनय, सत्यासत्य आदि में अन्तर स्थापित करने में सहायक होता था।[5] दण्डपात में राजा को यथावसर कार्य करने पड़ते थे। मृदु होने पर उसके प्रति निष्ठा नहीं होती थी और उग्र दण्ड होने से उद्वेजित कर देता था।[6] राजा दण्डधर होता था। सुशासन के निमित्त उसे उत्थित दण्ड होना पड़ता था।[7] बृहस्पति, कौटिल्य, मनु एवं भीष्म सभी ने दण्ड की महिमा स्वीकार की है।[8] मनु का मत है कि दण्ड ही प्रजा का शासन करता है। वही रक्षा करता है। (दण्डधर के अभाव में) पवित्र मनुष्य होना कठिन है।[9] बृहस्पति भी स्वीकार करते हैं

---

१. बृहदारण्यक उपनिषद्। १।४, ११–१५—घोषाल, पृ० २३ से उद्धृत।

२. याज्ञवल्क्य स्मृति १।३५०। ३. बृ० स्मृ० व्य० का० १।११०, ७७-७८।

४. अर्थ १।२, पृ० ६।

वार्तादण्डनीतिश्चेति बार्हस्पत्याः—संवरणमात्रं हि त्रयी लोकयात्राविद इति।

५. नीति पृ० ६१।

६. शान्ति ५६।४०। तस्मान्नैव मृदुर्नित्यं तीक्ष्णो वापि भवेन्नृपः।
वसन्तेऽर्क इव श्रीमान्न शीतो न च घर्मदः॥

७. बृ० स्मृ० व्य० का० १।३८–४०।

८. वही व्य० का० १।४०; बृ० सू० १।१; अर्थ १।४, पृ० ९; मनु ७।२२; शान्ति, १५।३४। ९. मनु ७।१८।

कि जो राजा अदण्ड्यों को दण्ड देता है एवं दण्ड्यों को दण्ड नहीं देता, उसके राज्य में मात्स्य-न्याय होता है।[1] अर्थात् समस्त सामाजिक व्यवस्था समाप्त हो जाती है। (राजा के) भय से ही लोग अपने कार्य करते हैं एवं स्वधर्मपालन से विचलित नहीं होते।[2] धर्म की स्थापना के निमित्त दण्ड की आवश्यकता पड़ती थी, अतः बृहस्पति स्वीकार करते हैं कि अदण्ड्यों को दण्ड देने वाला एवं दण्ड्यों को दण्ड न देने वाले राजा का अयश होता है एवं वह नरकगामी होता है।[3] दण्ड देने अथवा न्यायकरण का उद्देश्य बृहस्पति सत्य की खोज मानते हैं। इस महान् कार्य के निमित्त वे साक्षि एवं प्रमाण ही नहीं वरन् दिव्य परीक्षाओं एवं शपथ विधि का भी महत्व स्वीकार करते हैं। वे सत्य की रक्षा असत्य के दमन के निमित्त आवश्यक मानते हैं कि वास्तविक अपराधी को ही दण्ड दिया जाय। विना पूर्ण-रूपेण विचार किये दण्ड देने से धर्महानि होती है।[4]

दण्ड शब्द का प्रयोग राज्य की सर्वोच्च सत्ता दण्ड शक्ति के लिये ही बृहस्पति को स्वीकार्य नहीं है, वरन् वे राज्य में शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना के निमित्त दण्ड अथवा सैन्य बल के महत्व को स्वीकार करते हैं। यह कार्य प्रजापालन कहलाता था। इस कार्य की आवश्यकता उस समय पड़ी थी जब लोगों ने मोह एवं मत्सर से वशीभूत होकर त्रेता, द्वापर एवं तिष्यपाद में युग एवं गुणपतन द्वारा धर्माधर्म की परिभाषा वदल दी थी और अनृतवादतत्पर हो गये थे।[5] फलतः कोई देय वस्तु न देता तो कोई हिंसा करता।[6] इन कारणों ने राजत्व एवं व्यवहार को जन्म दिया था।[7] जहाँ राजा दण्ड शक्ति की सहायता से विचलित होने वालों को दण्ड देता एवं सामाजिकता का वातावरण बनाये रखने के प्रयत्न करता था वहीं धर्म नियम भंग करने वाले को दण्ड देने को व्यवस्था व्यवहार की आवश्यकता पड़ती थी। व्यवहार शब्द का शाब्दिक अर्थ होता था नाना प्रकार के संदेहों का निराकरण।[8] व्यवहार शब्द का प्रयोग

१. नीति, पृ० १०५। दण्ड्यं दण्डयति नो यः पापदण्डसमन्वितः।
तस्य राष्ट्रे न संदेहो मात्स्यो-न्यायः प्रकीर्तितः॥

२. बृ० स्मृ० व्य० का० १।७–८। ३. वही व्य० का० १।७७।

४. वही व्य० का० १।११४–११७।

५. वही व्य० का० १।३८–४०, १–४, वही सं० का० ७–८, बृ० सू० ३।१४१–४८। ६. वही व्य० का० १।२–३। ७. वही व्य० का० १।४।

८. धर्मकोश—व्यवहार काण्ड पृ० ५।
वि नानार्थेऽव संदेहे हरणं हार उच्यते।
नानासंदेहहरणाद्व्यवहार इति स्मृतिः॥

न्याय-मार्ग ही नहीं न्याय-पद्धति के लिये भी हुआ है। समस्त न्याय प्रक्रिया व्यवहार कहलाती थी।[१] व्यवहार का उद्देश्य न्याय की प्रतिष्ठा करना था। अतः बृहस्पति का कथन है कि, असत्य सत्य की भाँति एवं सत्य असत्य की भाँति भ्रान्तिजनक प्रतीत होते हैं इस कारण युक्ति पूर्वक विचार करना चाहिये।[२] यही नहीं, व्यवहार के कारण चोर साहूकार एवं साहूकार चोर हो जाते हैं। बिना युक्ति पूर्वक विचार करने के कारण ही माण्डव्य चोर मान लिये गये थे।[3] सत्य की स्थापना एवं असत्य की अप्रतिष्ठा के कारण, बृहस्पति के मतानुसार शास्त्रांजन शलाका से कष्ट रहित करने के कारण इस लोक में वह राजा के महत्व की उपलब्धि करता है एवं स्वर्ग प्राप्त करता है।[४] राजा का कर्तव्य यम की भाँति है। जिस प्रकार समय आ जाने पर यम प्रिय एवं द्वेषी सभी को ले जाते हैं उसी भाँति राजा को प्रजा पालन करना चाहिये।[५] यज्ञ में विष्णु का समादर होता है एवं व्यवहार के अवसर पर महीपति का समादर होता है।[६] वस्तुतः धर्म और सत्य दोनों ही बार्हस्पत्य राज्य-व्यवस्था में मौलिक एकता उपस्थित करते हैं। मत्सर द्वेष सम्भव अधर्म असत्य था तथा उस स्थिति की समाप्ति का सहायक साधन दण्ड था जो धर्म पुत्र था तथा व्यवहार अथवा न्याय प्रक्रिया ही नहीं वरन् सत्यासत्य और दण्ड्यादण्ड्य में अन्तर स्थापित करता था।

बार्हस्पत्य न्याय के साधन—बृहस्पति न्याय प्रशासन को राजा का आदर्श मानते हैं। उनका मत है कि यह कार्य "यमव्रत" है।[७] वे राजा को न्याय प्रशासन का सर्व श्रेष्ठ अधिकारी घोषित करते हैं किन्तु वे राजकीय प्रशासन यंत्र अर्थात् कार्यकारिणी से न्याय प्रशासन को सर्वथा मुक्त रखते हैं।[८] यही नहीं वे अन्य प्राचीन भारतीय धर्मार्थशास्त्रियों की भाँति व्यवस्थापिका शक्ति अर्थात् कानून बनाने की क्षमता राजा अपनी किसी राजकीय संस्था को नहीं प्रदान करते। प्राचीन मनीषियों द्वारा स्वीकार्य व्यवस्था ही उन्हें मान्य है। उनके मतानुसार न्याय के स्रोत चार हैं। वे हैं धर्म, व्यवहार चारित्र्य एवं नृपाज्ञा।[९]

---

१. यही कारण है कि समस्त धर्मकोश तथा अन्य स्मृतिकारों एवं निबन्धकारों ने व्यवहार काण्ड तथा व्यवहार-मातृक के अन्तर्गत न्याय प्रक्रिया का वर्णन किया है।

२. बृ० स्मृ० व्य० का० १।११७। ३. वही व्य० का० १।११६।

४. वही व्य० का० १।९७। ५. वही व्य० का० १।११०।

६. वही व्य० का० १।११८। ७. वही व्य० का० १।११०।

८. वही व्य० का० १।४९। ९. वही व्य० का० १।१८।

धर्म—इस स्थल पर धर्म की परिभाषा सामान्य न करते हुए वे मानते हैं कि धर्म के अन्तर्गत वे सभी मान्यताएँ निहित हैं जिन्हें श्रुति तथा स्मृति स्वीकार करती हैं। यही कारण है कि न्याय सभा के सदस्यों के लिये वे धर्मार्थशास्त्री होना अनिवार्य मानते हैं।[१] उनका स्पष्ट मत है कि जयदान तथा दम का निर्णय स्मृति करती है।[२] स्मृति स्वयं में श्रुति का संक्षेप होती थी और श्रुति द्वारा निर्धारित मान्यताएँ उसे स्वीकार होती थीं। अतः उनका मत है कि धर्मशास्त्रों में जिन विवादों को मान्यता प्रदान की गयी है उनके ज्ञाता ही परीक्षक हों।[३] अन्यत्र उनके लिये लौकिक शास्त्रों, वेद, वेदांग तथा धर्मशास्त्रों का ज्ञान अनिवार्य मानते हुए बृहस्पति का कथन है कि अमात्य को सभी शास्त्रों का ज्ञान हो।[४] न्यायिक प्रशासन के निमित्त वैदिक तथा धर्मशास्त्रीय साहित्य का ही महत्व वे स्वीकार नहीं करते वरन् न्याय के शास्त्रीय स्वरूप की महिमा स्वीकार करके कहते हैं कि न्याय में धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र दोनों में अविरोध कार्य हो।[५] अर्थात् श्रुति-स्मृति द्वारा निर्धारित नियमों और मान्यताओं का लौकिक शास्त्रों (अर्थशास्त्र आदि) के साथ विरोध न हो क्योंकि न्याय की शास्त्रीय भावना का तिरस्कार करके निर्णय करने से धर्महानि होती है और धर्म हानि होने सभी की हानि होती है।[६] ऐसे अवसरों से वे परिचित थे जब धर्मशास्त्र और अर्थशास्त्र में कुछ विषयों पर विरोध हो जाता था। प्राचीन परम्पराओं और वैदिक मान्यताओं के समर्थक होने के नाते वे विरोधपूर्ण मतों के अवसर पर धर्मशास्त्र के समर्थक थे।[७]

व्यवहार—न्याय का द्वितीय आधार बृहस्पति व्यवहार को मानते हैं। न्यायशास्त्रीय परम्पराओं के अनुरूप युक्ति अथवा तर्क और न्यायिक प्रक्रिया और साक्षियों तथा प्रमाण के आधार पर किये गये निर्णय के लिये व्यवहार शब्द का प्रयोग होता था[८]। बृहस्पति का स्पष्ट मत है कि केवल शास्त्र के आधार पर ही निर्णय नहीं करना चाहिये। युक्ति हीन निर्णय से भी धर्म की हानि होती है[९]। विषय को स्पष्ट करते हुए उनका कथन है कि (बाह्य रूप में) असत्य सत्य की भाँति प्रतीत होता है और सत्य असत्य की भाँति मालूम पड़ता है। इनके भ्रान्ति जनक होने के कारण युक्तिपूर्वक विचार करना चाहिये[१०]। व्यवहार

---

१. वही व्य० का० १।२२, ५९,६२।
२. वही व्य० का० १।८९।
३. वही व्य० का० १।११९, १६।
४. वही व्य० का० १।७१।
५. वही व्य० का० १।१११।
६. वही व्य० का० १।११४।
७. वही व्य० का० १।११३।
८. वही व्य० का० १।५, ७-८।
९. वही व्य० का० १।११४।
१०. वही व्य० का० १।११७।

के कारण चोर साहूकार और साहूकार चोर हो जाता है[१]। ऐतिहासिक उदाहरण प्रस्तुत करते हुए बृहस्पति कहते हैं कि बिना युक्ति के विचार करने के कारण माण्डव्य (ऋषि) चोर मान लिये गये थे[२]।

चारित्र्य—बृहस्पति न्याय का तृतीय साधन चारित्र्य को मानते हैं[3]। चारित्र्य शब्द सामान्य चरित्र से सम्बद्ध न होकर देश, जाति और कुल की परम्पराओं (धर्म) का संक्षेप है[४]। वे मानते हैं कि न्यायकरण में स्थानीय परम्पराओं, जातीय विशेषताओं एवं पारिवारिक रीतियों की स्वतन्त्र मान्यता होती है। इन परम्पराओं और रीतियों का महत्व इस कारण था क्योंकि वे सामाजिक आचारों व्यवहारों और सामाजिकता के नियमों का व्यतिरेक प्रस्तुत करती थीं। अतः नियम विरुद्ध होने के कारण दण्ड स्वाभाविक प्रतिक्रिया होता किन्तु प्रचलनों पर प्रतिबन्ध लगाना बृहस्पति को स्वीकार नहीं है। उनका कथन है कि देश, जाति और कुलों के जो प्रचलन हैं उनको मान्यता प्रदान करनी चाहिये क्योंकि अन्यथा (दण्ड देने पर) प्रजा में विक्षोभ हो जाता है। प्रजा शत्रु की समर्थक हो जाती है और सेना तथा कोश नष्ट हो जाता है।[५] सामाजिक मान्यताओं और वैदिक परम्पराओं के विपरीत होने वाले स्थानीय प्रचलनों के उदाहरण प्रस्तुत करते हुए बृहस्पति का कथन है कि दाक्षिणात्य ब्राह्मण मातुल की कन्या से विवाह कर लेते हैं। मध्यदेश के कर्मकर और शिल्पी गोमांस भक्षण करते हैं। मत्स्य (राजपूताना—तथा अन्य पाठ के अनुसार स्वश लोग) के लोग तथा पूर्व में स्त्रियाँ व्यभिचाररत रहती हैं। उत्तर के लोग मद्यपान करते हैं एवं रजस्वला स्त्रियाँ स्पृश्य होती हैं। सहजात लोग भाई की विधवा से विवाह कर लेते हैं।[६] भोजन, तथा विवाद सम्बन्धी श्रौत रीति के विपरीत होते हुए भी स्थानीय प्रचलनों के रूप में बृहस्पति इन्हें मान्यता प्रदान करते हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि इस प्रकार के कार्यों के कारण सामान्य परिस्थितियों में स्वीकार्य एवं मान्य प्रायश्चित्त एवं दण्ड के ये भागी नहीं हैं।[७]

नृपाज्ञा[८]—न्याय का अन्तिम आधार बृहस्पति राजाज्ञा[९] को मानते हैं। उनके मतानुसार जब व्यवहार प्रक्रिया में वादी प्रतिवादी दोनों ही पक्षों के प्रमाण समान होते थे तब न्याय का आधार राजाज्ञा होता था। इसी प्रकार जब

---

१. वही व्य० का० १।११६।
२. वही व्य० का० १।११६।
३. वही व्य० का० १।१८।
४. वही व्य० का० १।२०।
५. वही व्य० का० १।१२७।
६. वही व्य० का० १।१३०।
७. वही व्य० का० १।१२६।३०।
८. वही व्य० का० ९।७।
९. वही व्य० का० १।१८, ९।१।

शास्त्र और सभ्य किसी विषय पर निर्णायक मत नहीं देते थे तब भी राजाज्ञा ही प्रमाण होती थी।[१] सभ्यों और शास्त्रों द्वारा अनुमोदित न्यायिक आधार पर राजा द्वारा प्रस्तुत निर्णय राजाज्ञा कहलाता था।[२]

न्याय विभाग का संगठन—न्याय विभाग के संगठन की ओर बृहस्पति ने विशेष ध्यान दिया था। आधुनिक प्रशासक न्याय विभाग को व्यवस्थापिका एवं कार्यकारिणी शक्तियों के प्रभाव से मुक्त रखना चाहते हैं। इस कार्य को बृहस्पति ने बहुत पहिले क्रियात्मक रूप प्रदान किया था। राजा को उन्होंने सर्वश्रेष्ठ प्रशासकीय एवं न्यायिक अधिकारी माना था फिर भी वे न्याय विभाग को एक मंत्री (न्याय मंत्री एवं प्रधान न्यायाधीश) प्राड्विवाक के आधीन रखते हैं।[३] इस पद पर श्रुति, स्मृति तथा धर्मार्थशास्त्रज्ञ प्रसिद्धि प्राप्त विद्वान् ब्राह्मण की नियुक्ति के वे समर्थक थे। उसके अतिरिक्त अमात्य एवं पुरोहित[४] भी न्याय सभा में प्रशासकीय एवं धर्म सम्बन्धी दृष्टिकोण प्रस्तुत करते रहे होंगे। इन प्रशासकीय अधिकारियों के अतिरिक्त कार्यदर्शक सभ्यों की नियुक्ति का बृहस्पति ने समर्थन किया है। इनकी सात, पाँच अथवा तीन संख्या उन्हें स्वीकार्य्य थी। ये भी लोकवेदांगधर्मज्ञ विप्र होते थे।[५] प्रथम प्रकार के अधिकारी प्रशासन के सर्व श्रेष्ठ मंत्रीगण होते थे जो अपने अनुभव, ज्ञान एवं पांडित्य के लिये प्रसिद्ध होते थे। द्वितीय प्रकार के अधिकारी प्रशासकीय प्रभावों से मुक्त एवं प्रभावित न हो सकने वाले विद्वान् विप्र होते थे जिनकी न्यूनतम संख्या प्रशासकीय अधिकारियों के समान होती थी और अधिकतम दुगुनी से भी अधिक होती थी। इनके अभाव में किसी भी वाद का निर्णय नहीं हो सकता था[६]। धर्मवृक्ष के रूपक द्वारा बृहस्पति न्याय प्रशासन का वर्णन करते हैं। उनके अनुसार, विप्र (न्यायाधीश एवं सभ्य ?) धर्मद्रुम का आदि अथवा मूल होता है। महीपति स्कन्द एवं शाखाएँ होता है। सचिव (प्रशासकीय अधिकारी ?) पत्र और पुष्प होते हैं एवं न्याय पूर्वक पालन धर्मद्रुम का फल होता है।[७]

बृहस्पति के मतानुसार यज्ञ मे विष्णु की पूजा होती है एवं व्यवहार में महीपति की।[८] वह न्याय प्रशासन का सर्वोच्च अधिकारी एवं सर्वोच्च न्यायाधीश होता है। वह राजधानी के वादों का निर्णय करता है और निचले न्यायालयों

---

१. वही व्य० का० १।७–८। २. वही व्य० का० १।६५।
३. वही व्य० का० १।६५, ६८–६९।
४. वही व्य० का० १।६५, ६७–७०।
५. वही व्य० का० १।५९, ६३। ६. वही व्य० का० १।६५।
७. वही व्य० का १।४९। ८. वही व्य० का० १।११८।

के निर्णयों के विरुद्ध पुनर्न्याय (याचिका) पर अन्तिम निर्णय करता है ।[१] वह प्रतिदिन सभा में प्रवेश करके न्याय दर्शन करता है ।[२] वित्तीय विवादों का वही निर्णय करता है । प्राड्विवाक के निर्णय के अनुरूप अपराधी को दण्ड देता तथा उत्तम, अधम एवं मध्यम सभी प्रकारों के विवादों पर निर्णय करता था । साहस के कार्य राजा ही देख सकता था ।[३] बृहस्पति राजा के दैनिक कर्तव्यों में स्मृति-पुराण, तथा अर्थशास्त्र का अध्ययन एवं व्यवहार दर्शन की गणना करते हैं ।[४] किन्तु उसे भी वे सभ्यों की अनुपस्थिति में एकान्त में किसी विवाद के निर्णय करने का अधिकार नहीं देते ।[५] उसे सभ्य एवं शास्त्र के मत से सहमत होकर निर्णय करना पड़ता था । बृहस्पति अपने कर्तव्यपालन के प्रतिफल में राजा के सम्मुख पुण्य एवं बाद में स्वर्ग का आदर्श प्रस्तुत करते हैं तथा कर्तव्य विमुख होने पर नरक में वास अवश्यंभावी मानते हैं ।[६]

यद्यपि राजा न्याय प्रशासन का स्रोत होता था, फिर भी न्याय विभाग एक मंत्री के आधीन एक मंत्रालय के रूप में होता था । यह मंत्री दो रूपों में समान रूप से कार्य करता था । एक रूप था विभागीय मंत्री का, जिसके अन्तर्गत अपने विभाग का प्रशासन एवं राज्य में तथा शासन में अपने विभाग के प्रमुख के रूप में प्रतिनिधित्व करना पड़ता था; और दूसरे रूप में वह राज्य का प्रमुख न्यायाधीश होता एवं प्राड्विवाक कहलाता था । शुक्र इन कार्यों के लिये पंडित तथा प्राड्विवाक नामक दो मंत्रियों की स्थिति स्वीकार करते हैं ।[७] बृहस्पति प्राड्विवाक शब्द की सार्थकता के बारे में दो मतों का उल्लेख करते हैं । प्रथम मत के अनुसार वह व्यवहाराश्रित प्रश्न करता था एवं विवाद को सुनने के बाद निर्णय देता था, अतः प्राड्विवाक कहलाता था । दूसरे मत के अनुसार वह पहले प्रश्न एवं प्रतिप्रश्न करता था तथा बाद में निर्णय देता था । प्रिय पहले बोलता एवं बाद में निर्णय देता था । इस कारण वह प्राड्विवाक कहलाता था ।[८] बृहस्पति न्याय करने का अधिकार राजा, प्राड्विवाक अथवा द्विज को प्रदान करते हैं ।[९] व्यवहार एक है किन्तु उसके अनेकों प्रकार माने गये हैं । उसका निर्णय करने वाला राजा होता है और बहुश्रुत ब्राह्मण भी ।[१०] मनु का भी कथन है कि, जब राजा स्वयं विवादों को न देख सके तो विद्वान् ब्राह्मण को इस कार्य

१. वही व्य० का० १।९५–९७ । २. वही व्य० का० १।४० ।
३. वही व्य० का० १।५२, ९१ । ४. वही व्य० का० १।११५ ।
५. वही व्य० का० १।६५ ।
६. शुक्र २।८४, ९८, ७२; २।८४, ९९–१०० ।
७. बृ० स्मृ० व्य० का० १।६८–६९ । ८. वही व्य० का० १।६५ ।
९. वही व्य० का० १।६७ ।

के लिये नियुक्त करे।[1] मनु के मत की टीका करते हुए महामहोपाध्याय पं० गंगानाथ झा का कथन है कि, इस प्रकार नियुक्त ब्राह्मण के लिये आवश्यक था कि, वह अठारह प्रभेदों का ज्ञाता हो, युक्ति-युक्त, वेद एवं स्मृतियों का ज्ञाता हो क्योंकि उसे विवाद दर्शन के लिये न्यायाधीश बनाया जाता था। बार्हस्पत्य प्रयोगों में मनु के "तथा नियुंज्याद् विद्वांसम्" के लिये द्विज शब्द व्यवहृत हुआ है। संभवत: विशेष अवस्थाओं में इस प्रकार के कार्यवाहक न्यायाधीशों की नियुक्ति होती रही होगी।[2]

निर्णयकर्ता के अतिरिक्त विवाद की छानबीन करने वाले सभ्यों को नियुक्त करने का बृहस्पति का आदर्श है।[3] सभ्यों के अभाव में वे विवाद पर निर्णय देने का अधिकार राजा या प्राड्विवाक किसी को नहीं देते।[4] सभ्यों के लिये लौकिक शास्त्रों; वेदांगों एवं स्मृतियों का ज्ञान आवश्यक था जिसके अभाव में वे समुचित न्याय नहीं कर सकते थे।[5] बृहस्पति उनकी विषम संख्या सात, पाँच अथवा तीन को मान्यता प्रदान करते हैं। तीन संख्या उन्हें अधिक ग्राह्य है।[6]

प्रमुख पद एवं जाति-व्यवस्था—बृहस्पति विप्र अर्थात् ब्राह्मण को धर्म द्रुम न्याय वृक्ष का आदि अर्थात् मूल मानते हैं।[7] प्रधान न्यायाधीश एवं न्याय मंत्री प्राड्विवाक तथा न्याय सभा के सदस्यों के लिये वे जातीय वरीयता के सिद्धान्त भी प्रस्तुत करते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि, मनीषियों ने एक होते हुए भी व्यवहार को अनेक प्रकारों का बताया है, उसका निर्णय कर्ता राजा और बहुश्रुत ब्राह्मण होता है। वे विद्वान् ब्राह्मण के अभाव में विद्वान् क्षत्रिय अथवा धर्मशास्त्रों के ज्ञाता वैश्य को नियुक्त करने के पक्षपाती हैं। शूद्र को न्याय प्रशासन में स्थान प्रदान करने के वे घोर विरोधी हैं। उनका कथन है कि, प्रयत्न पूर्वक शूद्र को वर्जित करे।[8] वे अपना अभिमत व्यक्त करते हुए कहते हैं कि, द्विजों का परित्याग करके वृषलों के साथ जो (राजा) कार्य दर्शन करता है उसका राष्ट्र क्षीण हो जाता है तथा बल (अर्थात् सेना) एवं कोश नष्ट हो जाता है तथा बल (अर्थात् सेना) एवं कोश नष्ट हो जाता है।[9] बृहस्पति के इन वर्णनों से स्पष्ट हो जाता है कि, वे वर्ण व्यवस्था के सिद्धान्त से विशेष प्रभावित थे, साथ ही साथ वे न्याय प्रशासन में ब्राह्मणों को विशेष महत्व प्रदान करते थे।

---

१. मनु ८।९४।
२. Manu Smriti Vol. IV, Part I, pp. 21–22.
३. बृ० स्मृ० व्य० का० १।५९। ४. वही व्य० का० १।६५।
५. वही व्य० का० १।५९। ६. वही व्य० का० १।६३।
७. वही व्य० का० १।४९। ८. वही व्य० का० १।७९।
९. वही व्य० का० १।७२।

ब्राह्मणों के इस महत्व का न्याय सम्बन्धी आधार लेकर डा० काशी प्रसाद जायसवाल ने अपना विचार इन शब्दों में व्यक्त किया है "पुरोहित एवं अपुरोहित ब्राह्मण वर्गों के बीच के ब्राह्मण महाशाल ब्राह्मण कहलाते थे—अध्ययनशील एवं कार्य शील ब्राह्मण। वे मुख्यतः धर्म, व्यवहार, राजनीति एवं सम्बन्धित विषयों के अध्ययन में लगे रहते थे। न्यायाधीश (एवं सभ्य भी) इसी वर्ग के होते थे। सामान्य व्यवहार के अन्तर्गत अपराधी को राजा दण्ड देता था किन्तु धर्म नियम के अनुरूप अपराध सम्बन्धी अपने पाप के लिये भी वह दण्ड्य होता था। यह बाद का क्षेत्र ब्राह्मण के कार्य क्षेत्र में आता था। यह इसी कारण नहीं था कि ब्राह्मण अपने विषय के पण्डित होते थे वरन् ब्राह्मण अपराधियों को भी दण्ड देना होता था। उनके विवादों को उनका समान ही सुन सकता था, जिसे उन्हें धर्म से विचलित होने पर दण्ड देने में कोई संकोच न होता। इस प्रकार ब्राह्मण धर्म प्रशासन के लिये अत्यन्त आवश्यक होता था। जातकों में यह कार्य पुरोहित के कार्य क्षेत्र में वर्णित हैं। एक ही साथ (एवं समय में) वह अन्य अधिकारियों के साथ बैठकर (जो संभवतः ब्राह्मण नहीं होते थे) विवादों को सुनता एवं व्यवहार के विषयों का निर्णय करता था। व्यवहार एवं धर्म प्रशासन एक ही व्यक्ति और वह भी ब्राह्मण न्यायाधीश के अन्तर्गत हो रहा था। और ब्राह्मण भी राजा के प्रभाव से ऊपर (उन्मुक्त) होता था।[१] डा० अल्तेकर ने भी इस प्रश्न पर अपना मत प्रकट किया है।[२]

न्यायालय श्रृंखला और विकेन्द्रीकरण की नीति—प्राचीन भारतीय राज्य व्यवस्थाओं की सबसे बड़ी विशेषता प्रशासन के विकेन्द्रीकरण की नीति थी।

---

१. Hindu Polity p. 311.

२. प्राचीन भारतीय शासन पद्धति—पृ० २१७।

स्मृति-ग्रन्थों का कहना है कि सभासद् ब्राह्मण जाति के ही होना चाहिये। श्रुतिस्मृत्यादि ग्रन्थों में विहित धर्मशास्त्रीय नियमों का सम्यक् ज्ञान सभासदों के लिये आवश्यक था और वह ब्राह्मण के लिये ही शक्य था।

State and Government in Ancient India p. 244.

The Smritis are almost unanimous in stating that the Sabhyas or Jurors should be Brahmanas. The study of the Dharma Śāstras was usually cultivated in the Brahmanical circle, and a deep knowledge of the sacred law was necessary for the proper discharge of the duties and functions of the jurors. This must be the reason for the usual view of the Smritis that the Sabhyas should be Brāhmaṇas.

भारत में आर्यों के प्रवेश के पहिले के इतिहास की जानकारी के लिये हमें जिन पुरातात्विक साधनों का अवलोकन करना पड़ता है वे निश्चय ही भारत में ग्रामीण समाज एवं प्रशासन का इतिहास भारत में आर्यों की प्रवेश तिथि से शताब्दियों पूर्व निश्चित करते हैं। आर्य इतिहास में ग्रामीण व्यवस्था का विशेष महत्व था। बाद के इतिहास काल में साम्राज्यों के विकास और उत्कर्षशील राजाओं ने कभी भी ग्रामीण व्यवस्था में हस्तक्षेप नहीं किया। प्रत्युत ग्रामीण परम्पराओं ने स्थानीय न्याय व्यवस्था को जन्म दिया। हेनरी मेन के प्रमाण पर डा० अल्तेकर का दृढ़ मत था कि प्राचीन इंगलैंड एवं आयरलैंड में भी न्याय प्रशासन राजा की कर्तव्य परिधि में नहीं था[1]।

---

१. प्राचीन भारतीय शासन पद्धति पृ० २१३

इसमें संदेह नहीं कि न्यायकोर्ट या अदालत (न्यायालय) ही राज्य के प्रभावी शक्ति का देदीप्यमान प्रतीक है।

किन्तु प्राचीन काल में ऐसी स्थिति नहीं थी। जैसे यूरप में वैसे भारत में भी अपने क्षतिपूर्ति के लिये हर व्यक्ति को स्वयं ही उपाय योजना करनी पड़ती थी। प्राचीन इंग्लैंड, आयरलैंड व भारत में यह प्रथा थी कि क्षतिग्रस्त मनुष्य अपराधी के मकान के सामने तब तक धरना धरकर बैठे व उसको बाहर जाने से रोके जब तक अपराधी उसे उचित मात्रा में क्षतिपूर्ति (मुआवजा) देने को तैयार न हो। डा० अल्तेकर का यह मन्तव्य कि, न्याय प्रशासन, प्रारम्भिक युग में हीं राजकीय कर्तव्य नहीं था, सतर्क नहीं है क्योंकि ऋग्वेद में स्पष्ट रूप से देवता वरुण वेशभूषा में एवं कर्तव्यों में भी राजा माना गया है। यदि वह ऋत-अनृत, पाप पुण्य में अन्तर् देखता है एवं पापियों को दण्ड देता है तो निश्चय ही न्याय उस राजा वरुण के अधिकार क्षेत्र एवं कर्तव्यों में परिगणित होता था। इसमें संदेह नहीं।

One of Alfred's laws says,.'let the man who knows his foe to be home sitting fight not befoıe he has demanded justice of him. If he has power to beset his foe and beseiges him in his house, let him keep him there for seven days, but not attack him in his house, if he remains indoors. If then after seven days he be willing to surrender and give up his weapons, let him be kept for 30 days and let notice be given to his Kinsmen and friends. But if the plaintiff have not the power of his own, let him ride to the elderman, and if the elderman will not aid him, let him rise to the King before he fights.

ग्रामों के विकास के साथ-साथ भौतिक उन्नति के अन्तर्गत व्यापारिक संस्थाओं का भी जन्म हुआ, जिनके अपने नियम एवं मान्यताएँ थीं। ग्रामीण न्याय के साथ-साथ इन संस्थाओं की न्यायकारिणी शक्ति एवं सदस्यों के पारस्परिक विवादों के निपटारे का अधिकार स्वीकार किया गया। राजाओं ने ही नहीं वरन् बृहस्पति[1], कौटिल्य[2] तथा शुक्र[3] आदि अर्थशास्त्रियों ने भी इनकी न्यायकारिणी शक्ति की वैधता एव वैधानिकता प्रदान स्वीकार की। फलतः कुल, श्रेणी तथा गणों के पारस्परिक निर्णयों को मान्यता प्रदान की गयी।

इसी प्रकार राजकीय न्याय व्यवस्था के भी क्रमिक विकेन्द्रीकरण को बृहस्पति तथा अन्य धर्मार्थशास्त्रियों ने मान्यता प्रदान की। राज-नियंत्रण में स्थित ग्रामों की न्यायकारिणी सभा प्रतिष्ठित कहलाती थी।[4] इसी प्रकार पुर या राजधानी की न्याय सभा भी प्रतिष्ठित कहलाती थी। प्रतिष्ठित सभा एक स्थान पर होती थी जहाँ नियमित रूप से न्याय सभा की कार्यवाही होती थी।[5] इनसे बड़ा न्यायालय राजधानीय होता था जहाँ राजकीय मुद्रा से युक्त जय पत्र दिया जाता था। एवं वहाँ अध्यक्ष निर्णय करता था।[6] सर्वोच्च न्यायालय राजा की स्वयं अपनी सभा होती थी जो शासिता कहलाती थी।[7] राजा स्वयं उपस्थित रहता था। और उसके अभाव में उसकी आज्ञा से उसका नियुक्त अधिकारी निर्णय करता था धीरे-धीरे राज्यों की वृद्धि एवं साम्राज्यवादिता के प्रयत्नों के फलस्वरूप राज्यों का आकार प्रकार बढ़ने लगा। फलतः अशोक को चन्द्रगुप्त मौर्य के युग में प्रचलित युक्त, प्रादेशिक आदि अर्धशासकीय एवं अर्धन्यायिक अधिकारियों के अतिरिक्त राजुक नामक नये अधिकारी की नियुक्ति करनी पड़ी जो युक्त एवं प्रादेशिक के बीच न्याय एवं प्रशासन की कड़ी था एवं आधुनिक जिलाधीशों की

(Henry Maine Early Institutions, page 303.) State and Government in Ancient India—p. 240.

१. बृ० स्मृ० व्य० का० १।८२–७४।

राज्ञा ये विदिताः सम्यक्कुलश्रेणिगणादयः।
साहसन्यायवर्ज्यानि कुर्युः कार्याणि ते नृणाम्।

२. अर्थ ५१, पृ० २४०। पुराणां ग्रामाणां कुलानां वा।

३. शुक्र ४।५५२, बृ० स्मृ० व्य० का० १।९३–९५।

४. बृ० स्मृ० व्य० का० १।५७। प्रतिष्ठिता, १।५८ प्रतिष्ठिता ग्रामे।

५. वही व्य० का० १।५८। प्रतिष्ठिता पुरे।

६. वही व्य० का० १।५७। मुद्रिता, (१।५८) मुद्रिताध्यक्षसंयुक्ता।

७. वही व्य० का० १।५७। शासिता, (१।५८) राजयुक्ता च शासिता।

भाँति होता था।[१] बृहस्पति ने अप्रतिष्ठित न्यायालयों की व्यवस्था की, जो स्थान-स्थान पर जाकर निरीक्षण करते एवं शीघ्र न्याय करते थे।[२] अशोक के अभिलेखों में इस प्रकार के पर्यटन के लिये अनुसंधान शब्द का प्रयोग किया गया है।[३]

इन न्यायालयों के दो अधिकार क्षेत्र होते थे। नये विवादों का निर्णय तथा पूर्व निर्णय के विरुद्ध याचिका पर पुनर्विचार। बृहस्पति का कथन है कि जब कुल के लोगों ने किसी विषय पर भली-भाँति विचार न किया हो तो उस विषय पर श्रेणी विचार करे, श्रेणी के अविज्ञात विषयों पर गण विचार करे, गण के अविज्ञात विषयों पर नियुक्त विचार करे।[४] बृहस्पति क्रमशः कुल से अधिक श्रेणी, श्रेणी से अधिक गण, गण से अधिक सभ्यों से युक्त न्यायालय, उससे ऊँचा अध्यक्ष से युक्त न्यायालय एवं सबसे अधिक महत्वपूर्ण राजा का न्यायालय मानते हैं। राजा न्याय का सर्व्वोच्च अधिकारी, सबसे बड़ा न्यायाधीश होता है। वह उत्तम, अधम एवं मध्यम स्तर के सभी विवादों का अन्तिम निर्णायक होता है।[५]

न्यायालयों के अधिकार क्षेत्र—बृहस्पति ने न्याय के क्षेत्र में लोकाचार शिष्टाचार के साथ-साथ स्थानीय परम्पराओं तथा जातीय विशेषताओं को देश जाति कुल धर्म की संज्ञा प्रदान करके न्याय-व्यवस्था में स्थान प्रदान किया है[६]। ऐसा प्रतीत होता है कि स्थानीय परम्पराओं के साथ-साथ विभिन्न प्रकार के शिल्पि संगठनों को भी उन्होंने मान्यता प्रदान की थी जिन्हें वे कुल, श्रेणि तथा गण के अन्तर्गत स्थान प्रदान करते हैं[७]। डा० राधा कुमुद मुकर्जी तथा डा० रमेश चन्द्र मजुमदार ने स्थानीय प्रशासन के संदर्भ में इन संगठनों के इतिहास का अध्ययन किया है तथा संगठन विषय स्वतंत्र अस्तित्व एवं न्याय के क्षेत्र में उनके अधिकारों का विवेचन किया है[८]। राज्य की ओर से संगठनों को मान्यता प्रदान की जाती

---

१. Select Inscriptions p. 20.
युता च राजूके च प्रादेसिके च पंचसु पंचसु वासेसु
अनुसयानं नियातु।

२. बृ० स्मृ० व्य० का० १।५८ चला नाम अप्रतिष्ठिता।

३. Select Inscriptions p. 20.

४. बृ० स्मृ० व्य० का० १।९३—९५।

५. वही व्य० का० १।९३—९५।

६. बृ० स्मृ० व्य० का० १।१२६। ७. वही व्य० का० १।९२।

८. Local Government in Ancient India, pp 132–42, Corporate Life in Ancient India, pp 97–114.

थी और ये अपने सदस्यों (नृणाम्) के वादों का निपटारा करने में समर्थ होते थे किन्तु वे साहस (अथवा फौजदारी) के वादों के अतिरिक्त वादों का ही निर्णय कर सकते थे[1]। इस कथन से स्थानीय संगठनों के न्यायिक अधिकारों की व्याख्या ही नहीं होती वरन् उनके अधिकार क्षेत्र का भी निर्णय होता है[2]।

बृहस्पति के वर्णनों से स्पष्ट हो जाता है कि कुल, श्रेणी तथा गण स्थानीय संगठनों के ही पर्यायवाची नहीं थे वरन् इनके भी संकुचित एवं विस्तृत अधिकार क्षेत्र होते थे। यही नहीं बार्हस्पत्य परम्परा के अनुसार सबसे छोटा न्यायालय कुल का होता था। उससे बड़ा श्रेणी का न्यायालय तथा उससे बड़ा गण का न्यायालय होता था। इनके अध्यक्षों को निर्णयकारक माना जाता था[3]। कुल ने जिस विषय का विधिवत् विचार न किया हो, वह श्रेणी के विचार क्षेत्र अथवा अधिकार क्षेत्र में पुनर्न्याय के निमित्त प्रस्तुत होता था। श्रेणी द्वारा अविचारित वाद गण के सम्मुख प्रस्तुत होता था[4]। स्थानीय संगठनों में सर्वश्रेष्ठ गण का न्यायालय होता था, जहाँ प्रशासन से अप्रभावित रहकर अपनी परम्पराओं और नियमों के आधार पर निर्णय सम्भव था। इनके ऊपर शासक द्वारा नियुक्त (न्यायाधीश) होता था। न्याय क्षेत्र में कुल आदि से महत्वपूर्ण सभ्य होते थे जिनसे अधिक अध्यक्ष का अधिकार होता था[5]। न्याय क्षेत्र में उत्तम, मध्यम तथा अधम, सभी प्रकारों के विवादों पर विचार करने का सर्वश्रेष्ठ अधिकारी राजा होता था[6]। अन्यत्र बृहस्पति का स्पष्ट मत है कि कुल आदि के निर्णय पर सन्तोष न होने पर उस पर राजा विचार करके कुकृत्य (अनुचित न्याय से) का उद्धार करे[7]।

न्यायालयों की यह श्रृंखला व्यवहार की जटिलता का परिचायक न होकर आर्थिक संगठनों के महत्व के अनुसार आन्तरिक अनुशासन सम्बन्धी स्वाधिकार की प्रतीक है। यही नहीं इन वर्णनों से न्यायालयों के महत्व तथा उनके अधिकार क्षेत्र पर भी पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। बृहस्पति आर्थिक संगठनों को साहस के अतिरिक्त शेष सभी प्रकारों के विवादों पर स्वाधिकार प्रदान करते हैं[8]। अन्यत्र न्याय प्रशासन के महत्वपूर्ण अधिकारी विप्र न्यायाधीश को भी वे वित्तीय तथा साहस के वादों के अतिरिक्त सभी पर निर्णय करने का तथा वाग् और धिग् दण्ड देने का अधिकार प्रदान करते हैं[9]। बृहस्पति कुल, श्रेणी, गण, अध्यक्ष तथा

---

१. बृ०स्मृ०व्य०का० १।९२, ७५, ९३-९४। २. वही व्य०का० १।९३-९४।
३. वही व्य० का० १।९२–९४। ४. वही व्य० का० १।९३-९४।
५. वही व्य० का० १।९३–९४। ६. वही व्य० का० १।९५।
७. वही व्य० का० ९।२३। ८. वही व्य० का० १।९२।
९. वही व्य० का० १।९१–९६, ९–२३।

राजा सभी को निर्णय कारक मानते हैं, जिनमें क्रमशः वे अधिकार क्षेत्र की वृद्धि मानते हुए कहते हैं कि परवर्ती न्यायालय पूर्ववर्ती न्यायालयों के निर्णयों पर पुनः विचार कर सकते हैं[१] । उनके न्याय में अपील और पुनर्न्याय सभी के लिये स्थान है । संदेह की स्थिति में वे राजा तक के न्यायालय में अपील करने की अनुमति देते हैं[२] । जो अपनी शास्त्रांजन शलाका से लोगों के नेत्रों को कष्ट विहीन करता था[३] ।

न्यायालय एवं वयस्कता—आधुनिक युग में राज्य एवं देश अपनी परम्परा तथा स्थिति के अनुरूप व्यक्ति की नागरिकता प्राप्ति सम्बन्धी आयु सीमा निर्धारित करते हैं । भारतवर्ष में इक्कीस वर्ष की आयु पुरुष के लिये तथा अट्ठारह वर्ष की आयु स्त्री के लिये नागरिक तथा राष्ट्रीय जीवन में उसे वयस्क घोषित करती है[४] । प्राचीन भारत में वयस्कता के लिये प्राप्त व्यवहार शब्द का प्रयोग बार्हस्पत्य अंशों[५] और कौटिलीय अर्थशास्त्र[६] में उपलब्ध होता है । यह शब्द असंदिग्ध रूप से न्यायालय एवं राष्ट्रीय जीवन में व्यक्ति के स्वतन्त्र स्थान की उद्घोषणा करता है । कौटिल्य सोलह वर्ष की आयु में पुरुष एवं बारह वर्ष की आयु में स्त्री को प्राप्त-व्यवहार मानते हैं । उनके वर्णन से स्पष्ट है कि, प्राचीन भारत में आधुनिक दृष्टिकोण से व्यक्ति युवा बहुत पहिले हो जाता था, जिसके भौगोलिक, ऋतु और खानपान सम्बन्धी परिवर्तन भी महत्वपूर्ण रहे होंगे ।

न्याय सभा का निर्माण—बृहस्पति न्यायसभा के भवन निर्माण की वास्तुशास्त्रीय विशेषताओं का वर्णन न करके केवल इतना ही संकेत करते हैं कि वास्तुशास्त्र में वर्णित लक्षणों से युक्त सभा (भवन) का निर्माण किया जाय[७] । उनका कथन है कि सभा गृह दुर्ग के मध्य में हो तथा वृक्षों एव जल से परिवृत्त हो । इसका निर्माण पूर्व दिशा में पूर्वाभिमुख किया जाय । इसमें मालाएं हों, धूप हों एवं आसन हों । बीज तथा जल हो[८] । लोकपालों को प्रणाम करके भद्रासन पर[९] पूर्वाभिमुख हो राजा बैठे । सभ्य उत्तराभिमुख बैठें । गणक पश्चिमाभिमुख बैठें तथा लेखक दक्षिणाभिमुख बैठें[१०] । न्याय पुरुष के अवयवों का वर्णन करते

१. वही व्य० का० १।७५, ९३–९४ ।
२. वही व्य० का० १।९५–९६–९।२३ ।
३. वही व्य० का० १।९७ । ४. भारत का संविधान ।
५. नीति पृ० २७४; बृ० स्मृ० व्य० का० १ । १३८ ।
६. अर्थ ३।३, पृ० १५४ ।
७. बृ० स्मृ० व्य० का० १।४६ । ८. वही व्य० का० १।४५-४७ ।
९. वही व्य० का० १।४८ । १०. वही व्य० का० १।१०९ ।

हुए बृहस्पति का कथन है कि नृप इन अंगों में मूर्धा है, अधिकृत मुख है, सभ्य बाहु हैं, स्मृति दोनों हाथ हैं तथा गणक एवं लेखक जंघाएं हैं, हेम, अग्नि तथा जल, नेत्र तथा हृदय हैं और स्वपुरुष दोनों पैर हैं। इन अंगों के काम पृथक्-पृथक् हैं। अध्यक्ष वक्ता होता है, राजा शासन देता है, सभ्य कार्य परीक्षा करते हैं। स्मृति जय, दान सम्बन्धी निर्णय देती है। शपथ के लिये हिरण्य आदि तथा तृषित जंतुओं के लिये जल होता है। गणक विवाद सम्बन्धी धन की गणना करता है एवं लेखक न्याय लिखता है। स्वपूरुष विवाद से सम्बन्धित प्रत्यर्थी, सभ्य एवं साक्षियों को उपस्थित करता है। यदि उन्होंने प्रतिभू नहीं दिया है तो स्वपूरुष वादी प्रतिवादी को अपने निरीक्षण में रखता है[1]।

न्याय प्रक्रिया—बार्हस्पत्य अंशों में हमें न्याय प्रक्रिया के विस्तृत वर्णन उपलब्ध होते हैं। न्याय प्रणाली का सविस्तार वर्णन करते हुए वाद की स्थापना, प्रतिवादी का आह्वान, आसेध, व उपस्थित न होने पर दण्ड देने की व्यवस्था; उपस्थित होने पर स्वीकारात्मक अस्वीकारात्मक, विशेष कारण या पूर्व न्याय सम्बन्धी उत्तर देना; उत्तर देने के लिये समय की याचना, उत्तर न देना, अपने आचरण के लिये प्रतिभू प्रस्तुत करना, प्रमाण के लिये मुक्ति, लेख अथवा साक्ष्य प्रस्तुत करना, वाद की परीक्षा अथवा क्रियापद, जटिल विषयों के निर्णय के लिये शपथ एवं परीक्षा की व्यवस्था करना, निर्णय लेने के लिये लोक प्रचलित नियमों, स्थानीय परम्पराओं, तर्क और व्यावसायिक संस्थाओं का आधार उन्हें स्वीकार्य है। अपराध तथा अवस्थाविशेष के अनुरूप ही दण्ड विधान उन्हें मान्य है। कौटिल्य भी लगभग इन्हीं विभागों में अपने धर्माधिकारण के कार्यों को विभक्त करते हैं। वस्तुस्थिति के ज्ञान मार्ग में चरों का महत्व कौटिल्य की विशेषता है। मनु तथा शुक्र भी बार्हस्पत्य मत का समर्थन करते हैं।

व्यवहार पद अथवा न्याय प्रक्रिया—बृहस्पति व्यवहार पद चार मानते हैं। पूर्वपक्ष पाद, द्वितीय उत्तर, तृतीय क्रियापाद, तथा चतुर्थ निर्णय कहलाता है[2]। चार अंगों में विभक्त करके वे समस्त न्याय प्रक्रिया का वर्णन करते हैं। प्रथम अंग पाद, के अन्तर्गत विवाद न्यायालय में प्रस्तुत होता और वादी अपने कष्ट को व्यक्त करता था। द्वितीय अंग, उत्तर के अन्तर्गत न्यायालय के आह्वान पर उपस्थित प्रतिवादी अपना लिखित उत्तर प्रस्तुत करता था जिसके पश्चात् क्रियापाद प्रारम्भ होता था जिसमें समस्त कार्यवाही प्रमाण साक्ष्य एवं परीक्षा के रूप में होती थी और चतुर्थ अंग, के अन्तर्गत भली-भाँति परीक्षा करके निर्णय दिया जाता था। शुक्र ने भी इस मत का समर्थन किया है[3]।

---

१. वही व्य०का० १।८४–९०। २. वही व्य०का० १।१७। ३. शुक्र ४।६७२।

पूर्वपक्ष और वाद—पूर्वपक्ष के प्रारम्भ होने के कारणों के अध्ययन के लिये वाद का भी वर्णन अनिवार्य है। बृहस्पति उसे ही व्यवहार का मूल मानते हैं[१]। वाद शब्द की व्युत्पत्ति न करके बृहस्पति उन परिस्थितियों का वर्णन करते हैं जो वाद को जन्म देती हैं। उनका मत है कि, वाद के दो स्थान हैं : धन और हिंसा। या तो कोई देयवस्तु नहीं देता अथवा कोई हिंसा करता है[२]। समस्त (झगड़े) कलह का मूल, वे, लोभ एवं द्वेष को मानते हैं[३], जिसको समाप्त करने के लिये व्यवहार का प्रवर्तन हुआ था[४]। कात्यायन भी विभिन्न प्रकारों के संदेहों के हरण के प्रयत्नों को व्यवहार कहते हैं[५]। शुक्र सत् और असत् में अन्तर स्थापित करने के प्रयत्नों को व्यवहार मानते हैं जिसके द्वारा दोनों पक्षों और राजा के गुणों की वृद्धि होती है और उसका यश फैलता है[६]।

बृहस्पति व्यवहार के अठारह पद मानते हैं जो धन एवं हिंसा जन्य होते हैं[७]। धन से प्रारम्भ होने वाले विवादों को वे चौदह प्रकारों में विभक्त करते हैं। वे प्रकार हैं—कुसीद, निधि, देय, संभूयोत्थान, भृत्यदान, अशुश्रूषा, भूवाद, अस्वामि-विक्रय, क्रय-विक्रयानुशय, समयातिक्रम, स्त्रीपुंसयोग, स्तेय, दायभाग, तथा अक्षदेवन[८]। उनका स्पष्ट मत है कि धन से प्रारम्भ होने वाले ये चौदह पद क्रिया भेद से अनेक प्रभेदों में हो जाते हैं[९]। हिंसा से प्रारंभ होने वाले चार

---

१. बृ० स्मृ० व्य० का० १।१६। मूलं सर्वविवादानाम्।

२. वही व्य० का० १।९,३। द्विपदो व्यवहारः स्यात् धनहिंसासमुद्भवः।
हिंसां वा कुरुते कश्चिद्देयं वा न प्रयच्छति।

३. वही व्य० का० १।१। ४. वही व्य० का० १।१।

५. धर्मकोश खण्ड १, पृ० ५।

६. शुक्र ४।५२७। स्वप्रज्ञा धर्मसंस्थानं सदसत्प्रविचारतः।
जायते चार्थसंसिद्धिर्व्यवहारस्तु येन सः॥

७. बृ० स्मृ० व्य० का० १।१०, १६।
द्विसप्तकोऽर्थमूलस्तु हिंसामूलश्चतुर्विधः।
पदान्यष्टादशैतानि धर्मशास्त्रोदितानि तु।

८. वही व्य० का० १।११–१२।
कुसीदनिधिदेयाद्यं संभूयोत्थानमेव च।
भृत्यदानमशुश्रूषा भूवादोऽस्वामिविक्रयः॥
क्रयविक्रयानुशयः समयातिक्रमस्तथा।
स्त्रीपुंसयोगः स्तेयं च दायभागोऽक्षदेवनम्॥

९. वही व्य० का० १।१३।

व्यवहार पद हैं : दो प्रकार का पारुष्य, वध और परस्त्री संग्रह[1]। हीन, मध्यम तथा उत्तम के अनुसार इनके भी अनेक विभेद हो जाते हैं[2]। बृहस्पति के इन व्यवहार पदों को समस्त रूप में तो कौटिल्य तथा मनु आदि ने स्वीकार किया है किन्तु उनकी भाँति का बृहत् वर्गीकरण उन्होंने नहीं किया है। कौटिल्य ने न्याय व्यवस्था को धर्मस्थीय तथा कण्टकशोधन दो विभागों में विभक्त किया है। प्रथम के अन्तर्गत वे जनता के पारस्परिक विवादों का अध्ययन करते हैं, और, द्वितीय के अन्तर्गत व्यवसायियों तथा राजकर्मचारियों के उत्पीड़न से जनता को बचाने की व्यवस्था करते हैं[3]। बृहस्पति भी कण्टकोद्धरण[4] शब्द का व्यवहार न्याय प्रशासन के संदर्भ में करते हैं, किन्तु कहना कठिन है कि, बार्हस्पत्य तथा कौटिलीय समानार्थी हैं अथवा नहीं अष्टाध्यायी भी इस विषय पर विशेष प्रकाश नहीं डालती। उसमें दायाद, अंशक तथा लुण्टक, परिपन्थी, ऐकागारिक, साहसिक एवं स्तेय[5] आदि व्यवहार विषयक वर्णन उपलब्ध होते हैं जिनके आधार पर कोई मत स्थिर करना सम्भव नहीं।

उचित वाद—विवाद ग्रस्त विषय को न्यायालय में प्रस्तुत करने की प्रक्रिया बताते हुए बृहस्पति वाद प्रस्तुत करने के ढंग को महत्व प्रदान करते हैं। उनका कथन है कि, वाद दोष रहित, उचित, प्रमाणयुक्त, सतर्क और संक्षिप्त हो और वाद के ज्ञाताओं द्वारा प्रमाणित हो[6]। वाद की विशेषता बताते हुए उनका कथन है कि वाद संक्षिप्त, सारगर्भित, स्पष्ट, कुतर्क विहीन तथा प्रतिवादी पक्ष के तर्कों के खण्डन में समर्थ हो[7]। वाद को प्रस्तुत करने का ढंग और उसका महत्व ही प्रक्रिया को प्रारम्भ करने में सहायक होता था क्योंकि शिथिल वाद होने पर पूर्ण प्रक्रिया की आवश्यकता नहीं पड़ती थी और प्रथम पाद में ही वह समाप्त हो जाता था। असम्भव वस्तु की माँग सामान्य अपराध, या अल्प धन सम्बन्धी वाद अर्थ रहित माने जाते थे[8]। ऐसे वाद जिनमें न कोई अभियोग

एतान्यर्थसमुत्थानि पदानि तु चतुर्दश।
पुनरेव प्रभिन्नानि क्रियाभेदादनेकधा॥

१. वही व्य० का० १।१०। पारुष्ये द्वे वधश्चैव परस्त्रीसंग्रहस्तथा।

२. वही व्य० का० १।१५। हीनमध्योत्तमत्वेन प्रभिन्नानि पृथक्-पृथक्।

३. अर्थ ३, पृ० १४७–२००; ४। पृ० २००–२३७।

४. बृ० स्मृ० व्य० का० ।१।३८। कण्टकोद्धरणे नित्यमातिष्ठेद्बलमुत्तमम्।

५. पाणिनि कालीन भारतवर्ष पृ० ४१३।

६. वही व्य० का० २।५। ७. वही व्य० का० २।६।

८. वही व्य० का० २।८।

होता और न कोई माँग होती, उद्देश्य रहित माने जाते थे[1]। ऐसे वाद भी अर्थ रहित होते थे जो व्यवहार के अठारह अंशों में परिगणित नहीं होते थे[2]। नगर (अर्थात् राजधानी) और राज्य के हित में यदि किसी वाद को न उठाना आवश्यक होता था तो वह देशकाल विरुद्ध माना जाता था[3]। अतः वाद का उचित होना आवश्यक था। बृहस्पति न्याय की भावना से आवश्यक मानते हैं कि यदि वादी अपने वाद को प्रस्तुत करने के लिये समय माँगे तो निष्पक्ष एवं सुलभ न्याय के लिये उसे उसकी शक्तिहीनता आदि दृष्टिगत करके परिस्थिति के अनुरूप समय प्रदान किया जाय[4]।

न्यायालय में वाद के स्वीकृत होने के बाद बृहस्पति राजाज्ञा द्वारा अथवा स्वपूरुष द्वारा प्रतिवादी के आह्वान को मान्यता प्रदान करते हैं। स्वपूरुष के लिये वे आवश्यक मानते हैं कि, वह राजमुद्रा युक्त पत्र लेकर आह्वान करे[5]। विशेष परिस्थितियों को छोड़ कर शेष सभी अवस्थाओं में प्रतिवादी का न्यायालय में उपस्थित होना, वे, अनिवार्य मानते हैं[6]। वे असमर्थ लोगों को अपना प्रतिनिधि भेजने की सुविधा प्रदान करते हैं[7]। आह्वान के अवसर पर न्यायालय में उपस्थिति अनिवार्य बताते हुए, वे, उन लोगों को अभियोग के अनुरूप दण्ड देने की आज्ञा देते हैं जो अपने महत्त्व अथवा किसी अन्य कारण से न्यायालय में उपस्थित नहीं होते थे[8]।

उत्तर पाद—न्यायालय में वाद की स्थापना के पश्चात् बृहस्पति उत्तर पाद अर्थात् प्रतिवादी के न्यायालय में उपस्थित होने तथा लिखित उत्तर देने से सम्बन्धित न्याय प्रक्रिया का प्रारम्भ मानते हैं। इसके अन्तर्गत आह्वान, आसेध, न्यायालय में उपस्थिति तथा उत्तर आदि की गणना होती थी।

बार्हस्पत्य मतानुसार न्यायालय में वाद की स्थापना के पश्चात् राजाज्ञा द्वारा अथवा स्वपूरुष नामक अधिकारी द्वारा प्रतिवादी का आह्वान आवश्यक था[9]। इस मत का समर्थन करते हुए शुक्र का कथन है कि जिस व्यक्ति के विरुद्ध वाद हो अथवा जिस पर संदेह किया जाय, राजा स्वपूरुष अथवा स्वमुद्रांकित पत्र द्वारा उसका आह्वान करे[10]।

---

१. वही व्य० का० २।९।
२. वही व्य० का० २।२६।
३. वही व्य० का० १।१२-१३।
४. वही व्य० का० २।३४।
५. वही व्य० का० १।१४७।
६. वही व्य० का० १।१४७।
७. वही व्य० का० १।१६४।
८. वही व्य० का० १।१४७।
९. वही व्य० का० १।१४७।
१०. शुक्र ४।६१९।

नियुक्त अथवा प्रतिनिधि—बृहस्पति वाद के प्रस्तुत होने के पश्चात् प्रतिवादी के आह्वान को मान्यता प्रदान करते हैं[१]। उन्हें ऐसे अवसरों का भी ज्ञान है जबकि प्रतिवादी न्यायिक ज्ञान के अभाव (अप्रगल्भता), मूर्खता (जड़ता), उन्मत्तता के कारण न्यायालय में उपस्थित होने में असमर्थ होता था। वृद्धों, स्त्रियों, बालकों तथा रोगियों आदि के लिये नियुक्त अथवा प्रतिनिधि भेजने को वे मान्यता प्रदान करते हैं[२]। उनका मत है कि पुरोहित तथा ऋत्विक् वाद में नियुक्त समान माने गये हैं[३]। शुक्र भी नियोगी को मान्यता प्रदान करते हैं[४]।

आसेध—प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था की अन्य विशेषता आसेध थी। आसेध शब्द का कोश सम्मत अर्थ है बलात् रोक रखना[५]। बृहस्पति वादी को अधिकार प्रदान करते हैं कि वह न्यायालय में वाद प्रस्तुत होने के समय तक प्रतिवादी को बलपूर्वक रोक सकता है[६]। प्राचीन भारतीय ही नहीं वरन् प्राचीन संस्कृत विश्व के विधान वादी को आसेध का अधिकार प्रदान करते थे[७]। बृहस्पति आसेध के चार प्रकार मानते हैं : प्रथम, स्थानासेध, द्वितीय, काल, तृतीय प्रवास तथा चतुर्थ कर्मासेध[८]। उनके इस मन्तव्य से प्रकट है कि वादी न केवल प्रतिवादी को उस स्थान पर रोक ही रख सकता था वरन् वह उसे कुछ समय

१. बृ० स्मृ० व्य० का० १।१४१। २. वही व्य० का० १।१४२।
३. वही व्य० का० १।१४७। ४. शुक्र ४।६२९-३०।
५. Sanskrit English Dictionary—Sir M.M. Williams, p. 160.
६. बृ० स्मृ० व्य० का० १।१५८।

वक्तव्येऽर्थे न तिष्ठन्तमुत्क्रामन्तं च तद्वचः।
आसेधयेद्विवादार्थी यावदाह्वानदर्शनम् ॥

७. Hindu Judicial System. p. 195.

Speaking of the Babylonian and Assyrian laws, Mr. John says generally both parties seem to have agreed to submit their case to a judge and gone to him, there is little evidence of an unwillingness to submit. Occasionally a party is said to have brought the other before the judge or caused him to come. The judges sometimes had to summon a party before them.

Babylonian and Assyrian Laws pp. 87-88.

Historical Introduction to the study of Roman Law p. 404.

"In the older system, it was the business of the plaintiff to get the defendant before the magistrate."

८. बृ० स्मृ० व्य० का० १।१५९।

को बाहर जाने से रोक सकता था एवं अपना काम करने से रोक सकता था। आसेध से निकल भागना भी दण्डनीय था[१]। किन्तु बृहस्पति, इस अधिकार के दुरुपयोग के बारे में भी चिन्तित थे। उनका कथन है कि, नदी पार करते समय, दुर्भिक्ष के समय, आसेध उचित नहीं है[२]। ऐसे अवसर पर आसेध से भागने वाला नहीं वरन् आसेध करने वाला दण्ड्य है[३]।

प्रतिवादी को समय प्रदान करना—बृहस्पति दोषारोपण से ही किसी को अपराधी न मानकर प्रतिवादी को भी उत्तर देने के लिये पर्याप्त समय प्रदान करते हैं। प्रतिवादी के स्मृति-क्षय आदि का ध्यान रखकर, वे उसे एक दिन से लेकर एक वर्ष तक का समय प्रदान करने का अनुमोदन करते हैं[४]। कुछ हीन एवं पतित लोगों को, वे निरुत्तर मानते हैं जिन्हें समय देने के पक्ष में नहीं हैं[५]।

उत्तर—बार्हस्पत्य परम्परा के अन्तर्गत न्यायालय में उपस्थित प्रतिवादी को वाद की स्थापना के बाद लिखित उत्तर देना पड़ता था। बृहस्पति चार प्रकार के उत्तर मानते हैं: मिथ्या (अस्वीकरण), सम्प्रतिपत्ति (स्वीकरण), प्रत्यवस्कन्दन (विशेष कारण बताना) तथा प्राङ्न्याय (पूर्व निर्णय)[६]। नारद भी इन्हीं प्रकारों को मान्यता प्रदान करते हैं[७]।

यदि वाद सामान्य और सीधा होता तो उसका निर्णय तत्काल कर दिया जाता था। महत्वपूर्ण प्रमाणों और व्यवहार का प्रश्न उपस्थित होने पर दोनों पक्षों को अपना वाद तथा उत्तर देने का अवसर प्रदान किया जाता था। गौतम का कथन है कि, यदि (प्रतिवादी) तात्कालिक उत्तर देने में असमर्थ हो तो (प्राड्विवाक) एक वर्ष तक प्रतीक्षा करे। पशुओं—कृषक बैलों, स्त्री-पुत्रों से सम्बन्धित वाद में प्रतिवादी तत्काल (उत्तर दे), इसी प्रकार उस वाद में भी तत्काल उत्तर दे, जिसकी अधिक समय के कारण हानि की आशंका हो[८]। नारद भी तात्कालिक कार्यों और पातकों के अतिरिक्त वादों के लिये समय देने के पक्षपाती हैं[९]। नारद उस विशेष परिस्थिति का भी वर्णन करते हैं जहां

१. वही व्य० का० १।१६२। २. वही व्य० का० १।१६३।
३. वही व्य० १।१६७। ४. वही व्य० ३।३४।
५. वही व्य० ३।१०। ६. वही व्य० का० २।२।
७. नारद स्मृति—शब्दशः व्य० का० २।२२ (धर्मकोश पृ० १६६)।
८. गौतम धर्मसूत्र १३।२८–२९। संवत्सरं प्रतीक्षेताप्रतिभायाम्। धेन्वनडुत्स्त्रीप्रजननसंयुक्ते च शीघ्रम्॥
९. नारद स्मृति, २।२। प्रत्यर्थी लभते कालं त्र्यहं सप्ताहमेव वा। (धर्म कोश—व्य० का० पृ० १६१)।

प्रतिवादी अभियोग को अस्वीकार कर देता था। ऐसे अवसरों पर वादी को प्रमाणों द्वारा अपने आक्षेप या मांग को सिद्ध करना पड़ता था[१]। ऐसे अवसर भी उपस्थित होते थे जब प्रत्यवस्कन्द द्वारा प्रतिवादी वाद को उलट देता तो ऐसी स्थिति में उसकी स्थिति मांग करने वाले की होती थी। और प्रमाणों द्वारा अपने पक्ष को पुष्ट करना पड़ता था[२]। नारद का स्पष्ट आदेश है कि, जिस व्यक्ति पर कोई अभियोग लगा हो वह न्यायालय में वाद तब तक नहीं लावे जब तक उसे (पूर्व आक्षेप को) वह असत्य न सिद्ध कर दे[३]। कुछ सामाजिक और व्यावसायिक मामलों में कौटिल्य श्रेणियों के व्यापारियों के पारस्परिक कलह में प्रतिवादी को वाद प्रस्तुत करने की अनुमति प्रदान करते हैं[४]।

हार के सामान्य कारण—बृहस्पति उभय पक्ष की हार के सामान्य कारणों का वर्णन करते हुए कहते हैं कि जो सभ्यों में, भय, भेद या न्याय मार्ग में बाधाएं प्रस्तुत करने के प्रयत्न करते हैं, उन्हें पराजित मानना चाहिये[५]। जो आह्वान पर उपस्थित नहीं होते, चुप रहते हैं, साक्षियों द्वारा अपराधी ठहराये जाते हैं, स्वयं अपराध स्वीकार कर लेते हैं पराजित माने जाते हैं[६]। उपस्थित न होने पर तीन पक्ष बाद, चुप रहने पर एक सप्ताह बाद, साक्षियों द्वारा अपराधी घोषित होने पर और अपराध स्वीकार करने पर तुरन्त पराजित माना जाता है[७]। साक्षियों को लाने का वादा करके न लाने पर एक मास या तीन पक्ष बाद वादी हार जाता है[८]। ऐसी अवस्था में भी पूरी प्रक्रिया की आवश्यकता नहीं पड़ती।

प्रतिभू—प्राचीन भारतीय न्याय व्यवस्था की एक विशेषता प्रतिभू लेने की विधि थी। उपलब्ध बार्हस्पत्य अंशों में इस शब्द की व्याख्या नहीं मिलती। प्रतिभू शब्द की व्याख्या करते हुए शुक्र का कथन है कि, जिस व्यक्ति के लिये प्रतिभू लिया जाता था, न्यायालय में उसकी उपस्थिति अथवा ऋण का धन देने के लिए (प्रतिभू लेने वाला) उत्तरदायी ठहराया जाता था[९]। इस कथन

१. वही (धर्मकोश व्य० का० पृ० १६४)।

२. वही (वही पृ० १६१)। अर्थिना लिखितो योऽर्थः प्रत्यर्थी यदि त तथा।
प्रपद्य कारणं ब्रूयात् प्रत्यवस्कन्दनं स्मृतम्॥

३. वही पृ० १६४)। यथार्थमुत्तरं दद्याददद् दापयेन्नृपः।

४. अर्थ ३।१, पृ० १४९।

५. बृ० स्मृ० व्य० का० ३।२६।

६. वही व्य० का० ३।३४।

७. वही व्य० का० ३।३५।

८. वही व्य० का० ३।३३।

९. शुक्र ४।४१–४२।

का यह अर्थ है कि, प्रतिभू लेने वाला व्यक्ति प्रतिवादी को न्यायालय में उपस्थित करने का दायित्व लेता था। और प्रतिवादी के न्यायालय में उपस्थित होने अथवा उसके उपस्थित न होने पर वह उसके ऋण को चुकाने के लिये उत्तरदायी होता था। पाणिनि[१] कौटिल्य,[२] तथा मनु[३] आदि ने भी प्रतिभू शब्द का शब्दावली में व्यवहार किया है। प्रतिभू का महत्व स्पष्ट करते हुए मनु का कथन है कि, यदि वादी प्रतिवादी अथवा साक्षी की उपस्थिति संदिग्ध मानता है तो (प्रतिवादी पक्ष से न्यायालय) प्रतिभू मांग सकता है[४]। बृहस्पति चार प्रकार के प्रतिभू मानते हैं—एक प्रकार का प्रतिभू दर्शन (अर्थात् प्रतिवादी को न्यायालय में प्रस्तुत करने का दायित्व लेता था), द्वितीय उसे साधु (या सज्जन) घोषित करता था, तृतीय कहता था कि, सम्बन्धित धन (द्रविण) मैं दूंगा तथा चतुर्थ कहता था मैं दे रहा हूँ[५]। प्रतिभू सम्बन्धी अपने मान्यताएं बताते हुए बृहस्पति का कथन है कि, जो प्रतिभू (प्रतिवादी को) न्यायालय में प्रस्तुत करने का वादा करे, वह ठीक समय पर उसे प्रस्तुत करे और यदि वह (प्रतिवादी) भाग गया हो तो प्रतिभू को देश, मार्ग आदि का ध्यान रखकर एक पक्ष, एक माह अथवा डेढ़ माह का समय दिया जाय (ताकि वह उसे पकड़ कर उपस्थित कर सके)। उसे उपस्थित न कर सकने पर ऋणदाता को अपने पास से ऋण चुकावे[६]। बृहस्पति को ज्ञात है कि ऐसे अवसर भी संभव हैं जब प्रतिभू प्रतिवादी को उपस्थित न कर सके तो लोग निरर्थक पीड़ा पहुँचा सकते हैं। अतः उनका कथन है कि, प्रतिभू को (ऋण चुकाने के लिये) अधिक पीड़ा न पहुँचायी जाय और शनैः शनैः कई अंशों (–किश्तों) में रुपया चुकाने की छूट दी जाय[७]। प्रतिभू की आवश्यकता बताते हुए शुक्र का कथन है कि, यदि राजा देखे कि पुरुष द्वारा लाया गया व्यक्ति अन्य कार्यों में व्यस्त है और (न्यायालय में) उसकी उपस्थिति संदिग्ध है तो राजा उससे प्रतिभू ले[८]। प्रतिभू के आवश्यक गुणों का वर्णन करते हुए शुक्र का मत है कि, वह आलस्य विहीन, वक्ता, विश्वसनीय, प्रसिद्ध धनी तथा वाद के सत्यान्वेषण में समर्थ हो। प्रतिभू दोनों ही पक्षों में लिया जाय[९]। कौटिल्य बालक प्रतिभू को मान्यता नहीं प्रदान करते[१०]।

---

१. पाणिनि कालीन भारतवर्ष पृ० ४१२; अष्टाध्यायी २।३।३९। भुवः संज्ञान्तरयोः। २. अर्थ ३।११, पृ० १७४। ३. मनु ८।१५८।
४. वही ८।१५८। ५. बृ० स्मृ० व्य० का० १०।७३–७४।
६. वही व्य० का० १०।७५–७६, ७७। ७. वही व्य० का० १०।८४।
८. शुक्र ४।६४१। ९. वही ४।६४४। १०. वही व्य० का० ४।६४५।

क्रियापाद—न्याय प्रक्रिया का तीसरा भाग क्रिया पाद कहलाता था। विवादग्रस्त वादों के निर्णय के लिये इसकी आवश्यकता पड़ती थी, जिनमें प्रमाण तथा युक्ति सम्बन्धी कठिनाइयां उठ खड़ी होतीं थीं। बृहस्पति का मत है कि पूर्वपाद के अक्षरशः लिख देने के पश्चात् तृतीय पाद में क्रिया पाद का प्रतिपादन करे[1]। क्रियापाद का यह अर्थ होगा कि उभय पक्ष के प्रमाणों के बलाबल का अध्ययन करके वस्तुस्थिति की परीक्षा ली जाये।

बृहस्पति मानुषी तथा दैविकी क्रिया का वर्णन करते हुए कहते हैं कि तत्ववेदियों ने इन्हीं के अनेक प्रभेद माने हैं[2]। वे साक्षी, लेख तथा भुक्ति इन तीन प्रकारों में मानुषी क्रिया का वर्णन करते हैं[3]। शुक्र मानुष प्रमाणों में लेख्य को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं[4]। बृहस्पति का भी मत है कि, लेख्य प्रमाण होने पर दिव्य क्रिया तथा साक्ष्य की आवश्यकता नहीं होती[5]। द्यूत तथा समाह्वय के विवादों में साक्षी ही उचित साधन है[6]। उचित लाभ सम्बन्धी कार्यों के निर्णय के लिये साक्षी तथा दिव्य दोनों ही प्रयोजनीय हैं[7]। ऋण सम्बन्धी कार्यों के लिये लेख्य, साक्षी या दिव्य का प्रयोग करे[8]। प्रजा हित की कामना से दैविकी क्रिया भी प्रयुक्त की जा सकती है[9]। नृप द्रोह, साहस, कूट, हृत, पाशक, हारक, हिंसक, अत्यंगना सेवी की शपथ द्वारा परीक्षा ले[10]। महापातकों से अभिशप्त, निक्षेप का हरण करने वाले की साक्षियों के रहते हुए भी दिव्य परीक्षा ले[11]। भूवाद में दैविकी क्रिया निषिद्ध है[12]। लिखित, साक्षिवाद के संदिग्ध होने पर तथा अनुमान के भ्रम युक्त होने पर दिव्य परीक्षा द्वारा परिशुद्धि की जाय[13]। बहुत पहिले किये गये कार्यों और साक्षियों के नष्ट हुए बहुत दिन हो चुकने पर, अनुमान के भ्रमपूर्ण हो जाने पर दिव्य परीक्षा द्वारा कार्य की विशुद्धि की जाय[14]। मनु तथा शुक्र ने भी इन प्रमाणों एवं परीक्षाओं को महत्व प्रदान किया है[15]।

---

१. वही बृ० स्मृ० व्य० का० ४।४। २. वही व्य० का० ४।६।
३. वही व्य० का० ४।७–९। ४. शुक्र ४।६८१।
५. बृ० स्मृ० व्य० का० ४।१२। ६. वही व्य० का० ४।१८।
७. वही व्य० का० ४।१९। ८. वही व्य० का० ४।२०।
९. वही व्य० का० ४।२०। १०. वही व्य०का० ४।१४-१५।
११. वही व्य० का० ४।१६। १२. वही व्य० का० ४।१३।
१३. वही व्य० का० ४।१७। १४. वही व्य० का० ४।२१।
१५. मनु ८।१०९, शुक्र ४।७८४।

साक्ष्य प्रमाण—साक्षियों के गुण बताते हुए साक्षी शब्द की परिभाषा बताते हुए शुक्र का कथन है कि, अपने सम्बन्ध से परे (विषयों) का ज्ञान रखने वाला साक्षी कहलाता है[१]। विवाद में उभय पक्ष की साक्ष्य का महत्व स्वीकार करते हुए बृहस्पति अवसर के अनुरूप साक्षियों का वर्गीकरण करते हैं। वे बारह प्रकार के साक्षी मानते हैं—लिखित, लेखित, गूढ़, स्मारित, कुल्य, दूतक, यादृच्छिक, उत्तर साक्षी, कार्यमध्यगत, भूभृत, अध्यक्ष तथा ग्राम[२]। शुक्र भी साक्षियों के अनेक भेद मानते हैं। घटना का प्रत्यक्ष दर्शक दृष्टार्थ तथा उसका ज्ञान रखने वाला श्रुतार्थ कहलाता था। उनके मुख्य दो भेद थे कृतार्थ (अर्थात् विशेष रूप से बनाया गया साक्षी) तथा अकृतार्थ (अर्थात् अपने आप बना साक्षी[३])।

बृहस्पति का कथन है कि, श्रौत तथा स्मार्त क्रियाओं वाले, लोभ-द्वेष विहीन, कुलीन, तप, दान तथा दयान्वित साक्षी अनिन्द्य हैं[४]। कौन लोग साक्षी नहीं हो सकते हैं—बताते हुए बृहस्पति का कथन है कि माता, पिता, पितृव्य, भार्या के भाई और मां, भाई, मित्र तथा जामाता सभी वादों में साक्षी नहीं हो सकते[५]। परस्त्री, मदिरा-पान में आसक्त, कितव, पूर्व दूषित, उन्मत्त, आर्त, साहसिक, नास्तिक साक्षी नहीं हो सकते[६]। तथा कौटिल्य[७] मनु[८] शुक्र[९] ने भी साक्षियों की योग्यता एवं असाक्ष्य सम्बन्धी अपने मन्तव्य प्रकट किये हैं। बृहस्पति का विचार है कि, साक्षी को शपथ दिलायी जाय कि, जन्म से लेकर मृत्यु पर्यन्त तुम्हारे अर्जित पुण्य नष्ट हो जायँ यदि तुम सत्य को छिपा दो[१०]। कौटिल्य का भी कथन है कि साक्षी से कहा जाय कि सत्य साक्ष्य न दोगे तो राजा का समस्त पाप तुम्हें लगेगा[११]।

साक्षियों की संख्या क्या हो इस विषय पर कोई विशेष मत प्रकट न करके बृहस्पति का कथन है कि नौ, सात, पाँच, चार, तीन या दो श्रोत्रिय (विद्वान साक्षी हों), एक साक्षी से कभी नहीं पूछे[१२]। संभवतः बृहस्पति का उद्देश्य रहा होगा कि अनेक साक्षियों से प्रश्न पूछने से सत्य का उद्घाटन सरलता से होगा तथा उनमें सरलता से मतैक्य नहीं हो सकेगा। शुक्र अनुभवी, सत्यवादी को अकेला ही साक्ष्य के लिये पर्याप्त मानते हैं[१३]।

---

१. शुक्र ४।६९९।
२. बृ० स्मृ० व्य० का०५।४–५।
३. शुक्र ४।६९९।
४. बृ० स्मृ० व्य० का० ५।३८।
५. वही० व्य० का० ५।३८।
६. वही व्य० का० ५।५०।
७. अर्थ ३।११, पृ० १७५-७६।
८. मनु ८।६४-६८।
९. शुक्र ४।७०५,७११।
१०. बृ० स्मृ० व्य० का० ५।३२-३३।
११. अर्थ ३।११, पृ० १७६।
१२. बृ० स्मृ० व्य० का० ५।१।
१३. शुक्र ४।७०२।

लेख्य प्रमाण—बृहस्पति का कथन है कि ऋण आदि के अनुबंध में भ्रान्ति उत्पन्न हो जाती है। अतः ब्रह्मा ने पत्रारूढ़ अक्षरों की सृष्टि की थी[१]। इस कथन से प्रतीत होता है कि अनुबंध आदि पत्रों का लेखन प्रमाण के निमित्त प्राचीन काल से चला आ रहा था, जिसकी प्राचीनता उसकी ब्रह्मा द्वारा सृष्टि की जाने के कथन से ज्ञात होती है क्योंकि ब्रह्मा ही समस्त सृष्टि के जनक माने गये हैं। लेख्य की परिभाषा करते हुए बृहस्पति का कथन है कि देश में प्रयुक्त वर्णों में लिखा गया, ऋणी, साक्षी के हस्तांक से युक्त (तथा) वर्ष पक्ष मास के अनुसार वृद्धि होने वाला (पत्र) लेख्य कहलाता था[२]। लेखों के तीन मुख्य प्रकार हैं राजलेख्य, स्थानकृत तथा स्वहस्त लिखित, जो बहुत प्रकार के हो जाते हैं[३]। त्याग, दान, क्रय, आधि, संवित्, दास, ऋण, आदि सात प्रकार के लौकिक लेख्य हैं[४]। और तीन प्रकार के राज शासन हैं—दान शासन, प्रसाद लिखित तथा जयपत्र[५]। लेख्य प्रमाणों की खराबी बताते हुए बृहस्पति का कथन है कि, मुमूर्षु, हीन, लुब्ध, आर्त, उन्मत्त, व्यसनी तथा आतुर लोगों के लेख (तथा) विषय, उपाधि तथा बलात्कार द्वारा लिखवाया गया लेख सिद्ध नहीं होता[६]। जहाँ साक्षी दूषित, गर्हित होता है ऐसी अवस्था में लिखा गया लेख्य कूट लेख्य माना जाता है[७]।

भुक्ति—बृहस्पति भुक्ति अथवा किसी विशेष सुविधा के उपभोग को भी वाद में प्रमाण मानते हैं जिसे, शुक्ल, शबल और कृष्ण आदि प्रकारों में विभक्त करते हैं[८]। इनके अन्य प्रकार बताते हुए बृहस्पति पित्र्य, लब्ध, क्रय, आधान, रिक्थ, शौर्य, प्रवेदन आदि सात प्रकारों के भोग स्वीकार करते हैं[९]।

बृहस्पति की ही भाँति कौटिल्य भी भोग को स्वामित्व के लिये प्रामाण्य मानते हैं। उनके अनुसार दस वर्ष पर्यन्त यदि अन्य व्यक्ति किसी वस्तु का उपभोग करता रहे और स्वामी मौन रहे तो वास्तविक स्वामी का उस वस्तु पर अधिकार नहीं रह जाता[१०]। विशेष परिस्थिति में उदाहरणार्थ राज्य विप्लव आदि में ऐसी अवस्था होने पर दस वर्ष का स्वामित्व पर्याप्त नहीं होगा[११]। बीस वर्ष तक अन्य व्यक्ति प्रयुक्त वस्तु पर से पूर्व स्वामी का अधिकार समाप्त हो

---

१. बृ० स्मृ० व्य० का० ६।२।
२. वही व्य० का० ६।३।
३. वही व्य० का० ६।४।
४. वही व्य० का० ६।५।
५. वही व्य० का० ६।३०, २४—२६।
६. वही व्य० का० ६।३०।
७. वही व्य० का० ६।३१।
८. वही व्य० का० ७।२।
९. वही व्य० का० ७।२४।
१०. अर्थ ३।१६, पृ० १९०।
११. वही ३।१६, पृ० १९०।

जाता है[1]। मनु भी कौटिलीय मत का महत्व स्वीकार करते हैं[2]। शुक्र स्वामी के अज्ञान में वस्तु पर अन्य व्यक्ति के आधिपत्य तथा उसकी जानकारी में उस वस्तु को दबा लेने के लिये पृथक् विधान देते हैं। प्रथम अवस्था में सौ वर्षों तक के भोग के पश्चात् भी वास्तविक अधिकारी का पता लगने पर आहरण कर्ता चोर की भाँति दण्डनीय था। द्वितीय परिस्थिति में अपने अधिकार के प्रति उदासीन व्यक्ति की भूमि पर साठ वर्षों तक उपभोग करके व्यक्ति उसका अधिकारी हो जाता था[3]।

शपथ—विवाद ग्रस्त विषयों के निर्णय के लिये बृहस्पति, शपथ तथा दिव्य परीक्षा की आवश्यकता स्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि सत्य, वाहन, अस्त्र, जौ, बीज, स्वर्ण, देवता तथा ब्राह्मण की शपथ द्वारा झगड़े शान्त करा दिये जायं।[4] अन्यत्र भी उनका कथन है कि सज्जनों के अल्पार्थ के लिये वाहन, शस्त्र, गो, बीज, कनक, देव, ब्राह्मण तथा पुत्र और दार (पत्नी) के सिर की शपथ तथा साहस के अपराधों के लिए दिव्य परीक्षाएँ बतायी गयी हैं। ब्राह्मण से कहा जाय कहो, पार्थिव अथवा क्षत्रिय से कहा जाय सत्य कहो, वैश्य से जौ, बीज एवं कांचन के लिये कहा जाय और शूद्र को समस्त पातकों के निमित्त कहा जाय। विप्र को सत्य की शपथ दिलायी जाय, क्षत्रिय को वाहन और आयुध की। जो विप्र गोरक्षक, वणिक् कारु कुशीलव वार्धूषिकी के द्वारा भेजे गये हों उनके साथ शूद्र का व्यवहार करे। परपण्योपजीवी और द्विजत्व के आकांक्षी के साथ भी शूद्र का सा व्यवहार करे।[5] यह शपथ विधि संभवतः अन्य के नियोगी साक्षी के लिये वर्णानुक्रम में रही होगी। विभिन्न जातियों के लिये पृथक् पृथक् शपथ तालिका प्रस्तुत करते हुए उनका मत है कि ब्राह्मण को हिरण्य स्पर्श करके शपथ लेनी चाहिये। इसके अतिरिक्त कोई शपथ प्रकार नहीं है।[6] क्षत्रिय के लिये शस्त्र, रत्न, वाहन और पल्याण स्पर्श,[7] तथा वैश्यों को शुद्धि के लिये कान, धान की बाली, काँकिणी तथा स्वर्ण शुद्धि की शपथ हैं।[8] शूद्र को दुग्ध, अन्न तथा वल्मीक स्पर्श से शुद्धि की शपथ दिलवाये।[9] शिल्पियों का शुद्धि प्रकार बताते हुए बृहस्पति का कथन है कि जो जिस कर्म के द्वारा जीविकोपार्जन

---

१. वही ३।१६, पृ० १९०।
२. मनु ८।१४७।
३. शुक्र ४।७३७-३९।
४. बृ० स्मृ० व्य० का० ९।३३–३४।
५. वही व्य० का० ९।३५–३८।
६. नीति पृ० ३०५।
७. वही पृ० ३०५।
८. वही पृ० ३०५।
९. वही पृ० ३०६।

करता है उसे उसकी शपथ दिलवायी जाय।[१] व्रतियों एवं अन्य लोगों की इष्ट देवता के स्पर्श और दिव्य के द्वारा शुद्धि होती है।[२] पुलिंदों के लिये अपने धनुष स्पर्श और समस्त अन्त्यजों की शुद्धि गीले चर्म पर खड़े होने से होती है।[३] शपथ का महत्व स्पष्ट करते हुए मनु का कथन है कि, ऋषियों और देवताओं ने भी शपथें ली थीं। वशिष्ठ ने भी सुदास राजा के सम्मुख शपथ ली थी। अल्प अर्थ के लिये वृथा शपथ लेने से लोक परलोक दोनों नष्ट हो जाते हैं।[४] अतः शपथ विधान का क्षेत्र न्यायालय के दण्ड क्षेत्र से कहीं अधिक व्यापक था।

दिव्या प्रमाण—बृहस्पति का कथन है कि प्रमाणहीन वाद के लिये दैविकी क्रिया निर्दोष होती है। दुष्टों और अनुमानित दुष्टों का विशोधन दिव्य द्वारा किया जाय।[५] बृहस्पति दिव्य के नौ प्रकार मानते हैं—धट विधि, अग्नि विधि, तोय विधि, विष विधि, कोश विधि, तण्डुल विधि, तप्तमाष विधि, फाल विधि, तथा धर्मक विधि।[६] उनका मत है कि, ब्राह्मण को धट दिया जाय, क्षत्रिय को अग्नि दी जाय, वैश्य को सलिल दिया जाय एवं शूद्रों को विष दिया जाय। सामान्य लोगों के लिये कोश विधि बतायी गयी है।[७]

शपथ और दिव्य परीक्षा के अवसर बताते हुए उनका कथन है कि, जाली हीरा बनाने वालों, मोती या मूंगा बनाने वालों, न्यास न वापस करने वालों, दुष्टों, और वस्तुओं में मेल करने वालों को शपथ दिलायी जाय या परीक्षा ली जाय।[८] दिव्य परीक्षा के लिये उपयुक्त परिस्थितियों का वर्णन करते हुए उनका कथन है कि बड़े अपराधों, न्यास पुनः वापस न करने वालों के वाद का निर्णय

---

१. वही पृ० ३०६। कर्तव्यः शपथः शुद्धेः विवादे निजशुद्धये।
यो येन कर्मणा जीवेत् करुस्तस्य तदुद्भवन्॥
कर्मोपकरणं किंचित् तत्स्पर्शाच्छुद्ध्यते हि सः।

२. वही पृ० ३०६। व्रतिनोऽन्ये च ये लोकास्तेषां शुद्धिः प्रकीर्तिता।
इष्टदेवस्य संस्पर्शात् दिव्यैर्वा शास्त्रकीर्तितैः।

३. वही पृ० ३०७। अन्त्यजानां तु सर्वेषामार्द्रचर्मावरोहणम्।
शपथः शुद्धिः प्रोक्तो यथान्येषां च वैदिकः।

४. मनु ८।१०९–१०। असाक्षिकेषु त्वर्थेषु मिथो विवदमानयोः।
अविन्दंस्तत्त्वतः सत्यं शपथेनापि लम्भयेत्।
महर्षिभिश्च देवैश्च कार्यार्थं शपथाः कृताः।
वशिष्ठश्चापि शपथं शेपे पेजवने नृपे।

५. बृ० स्मृ० व्य० का० ८।१। ६. वही व्य० का० ८।२–४।
७. वही व्य० का० ८।१२–१३। ८. वही व्य० का० ४।१५।

राजा दिव्य परीक्षा द्वारा करे, चाहे साक्षी उपस्थित हो ।[1] जब घटना हुए बहुत समय बीत चुका हो या घटना एकान्त में हुई हो या साक्षी बहुत पहिले लुप्त हो गया हो या असत्य बोल रहा हो तो क्रियापद दैवी परीक्षा से प्रारंभ हो ।[2] यदि वादी प्रतिवादी किसी धन राशि के प्रश्न पर कलह कर रहे हों तो उस धन राशि के अनुरूप परीक्षा ली जाय ।[3] जहाँ एक सहस्र पणों की चोरी का वाद हो तो विष दिया जाय, चार सौ पचास पणों का वाद हो तो अग्नि दी जाय, पांच सौ पणों के प्रश्न पर घट, चार सौ पणों के वाद पर स्वर्ण का तप्त अंश दिया जाय, तीन सौ का प्रश्न हो तो तण्डुल दिया जाय, उससे आधे के लिये पवित्र जल, सौ चुराये हों और झूठे तौर पर अस्वीकार किया जा रहा हो तो शुद्धि के लिये धर्मक दिया जाय ।[4] गौ चोरों के लिये हल का फाल दिया जाय ।[5] सामान्य लोगों के लिये यह परीक्षा का माध्यम हो, मध्यम कोटि के व्यक्तियों के लिये दुगुना और उत्तम कोटि के लोगों के लिये चौगुना हो ।[6]

दिव्य परीक्षा का महत्त्व—दिव्य का महत्व स्वीकार करते हुए, बृहस्पति का कथन है कि स्नेह, क्रोध अथवा डाह के कारण साक्ष्य झूठ हो जाती है किन्तु उचित ढंग पर ली गयी परीक्षा कभी अशुद्ध नहीं होती[7] । लिखित और मौखिक प्रमाणों के प्रश्न पर शंका होने पर, अनुमान उचित न होने पर परीक्षा ही ठीक उपाय है[8] । परीक्षा के ज्ञाता ही परीक्षा लें[9] । यदि परीक्षा नियम विरुद्ध होती है तो विषय सिद्धि के प्रयत्न असफल हो जाते हैं[10] ।

परीक्षा विधि—घटविधि (तुला परीक्षा) के अनुसार व्यक्ति दो बार तौला जाता है । यदि एक स्तर रहता है तो एक बार पुनः तौला जाता है । उसका पलड़ा भारी होने पर वह विजयी माना जाता है । यदि तुला की डंडी टूट जाय, या लोहे के टुकड़े निकल जायं, डोरियां टूट जायं तो वह अपराधी ठहराया जाता है[11]। जल परीक्षा में उसे पानी में बैठा कर तीन बाण छोड़े जाते हैं । बाण न लगने पर वह विजयी माना जाता है[12] । विष परीक्षा में विष पचा

---

१. वही व्य० का० ४।१४ ।
२. वही व्य० का० ४।२१ ।
३. वही व्य० का० ४।२० ।
४. वही व्य० का० ८।२८–३१ ।
५. वही व्य० का० ८।३१ ।
६. वही व्य० का० ८।१४ ।
७. वही व्य० का० ८।११ ।
८. वही व्य० का० ८। २ ।
९. वही व्य० का० ८।१७ ।
१०. वही व्य० का० ८।१५ । यथोक्तविधिना देयं दिव्यं दिव्यविशारदः ।
अयथोक्तं प्रदत्तं चेन्न दत्तं साध्यसाधने ॥
११. वही व्य० का० ८।४९, ५२ ।
१२. वही व्य० का० ८।६२ ।
१३ बा० व्य०

लेने पर वह निर्दोष माना जाता है। विष प्रभाव से मुक्त होने वाली दवा लेने पर वह दण्डनीय माना जाता है और विवाद में पड़ा हुआ धन देना पड़ता है[१]। जो जिस देवता का भक्त हो उसे उसके जल के तीन चुल्लू पीने को दे। एक सप्ताह या एक पखवारे में (यदि उस पर) कोई आपदा नहीं आती, उसके बच्चों और पत्नी अथवा पत्नियों तथा धन को कुछ नहीं होता, वह निस्संदेह निरपराध होता है[२]। तण्डुल विधि बताते हुए उनका कथन है कि उपवास द्वारा पवित्रीकृत अभियुक्त सूर्योदय के पहले तण्डुल चबाये। यदि उसे थूकने पर ठीक (तण्डुल ही गिरते हैं) तो वह निरपराध होता है और खून गिरने पर वह अपराधी घोषित होता है[३]। पितामह का कथन है कि, खूब गर्म तेल और मक्खन से तप्त स्वर्ण का टुकड़ा उठाये। यदि उसकी उंगलियां नहीं कांपतीं और छाले नहीं पड़ते तो वह इस विधि के अनुसार दोष मुक्त होता है[४]। फाल विधि का वर्णन करते हुए बृहस्पति का कथन है कि बारह पल लोहे का फाल बनाया जाय, वह आठ अंगुल लंबा और चार अंगुल चौड़ा हो। एक दम लाल (गर्म) किये जाने के बाद अभियुक्त उसे चाटे, यदि वह नहीं जलता तो मुक्त हो जाता है वरना वह पराजित होता है[५]। धर्मक विधि का वर्णन करते हुए उनका कथन है कि, दो पत्तों पर धर्म और अधर्म की आकृतियां बनायी जायं। एक सफेद और एक काली हो। जीवनी शक्ति प्रदान करने वाले मंत्रों से उनका आह्वान किया जाय। गायत्री से प्रसन्न, उनकी उपासना सुगंधि और श्वेत तथा काले फूलों से की जाय। उनपर पंचगव्य छिड़क कर उन्हें मिट्टी के बने गोलों में बंद कर दिया जाय। दोनों एक ही अनुपात के हों। विना किसी की जानकारी में उन्हें एक भाँड में डाल दिया जाय और तब प्राड्विवाक के कथन पर वह व्यक्ति एक गोले को उठा ले। धर्मक ग्रहण करने पर वह शुद्ध होता है और परीक्षकों द्वारा मान्य होता है। अधर्म को उठाने पर वह दण्डच अथवा निर्वासित किये जाने योग्य होता है[६]। ह्वेन सांग ने भी परीक्षाओं का वर्णन किया है। उसका कथन है कि, जब जल परीक्षा होती है, व्यक्ति को प्रस्तर भाण्ड से सम्बद्ध करके गहरे जल में डाल दिया जाता है। तब वे (परीक्षक) इस प्रकार उसकी पवित्रता अथवा पाप का पता लगाते हैं—यदि व्यक्ति डूब जाता है और पत्थर तैरता है तो वह अपराधी होता है, किन्तु पत्थर डूबने और व्यक्ति के ऊपर तैरते रहने पर उसे शुद्ध माना जाता है। दूसरी

---

१. वही व्य० का० ८।६४–६५। २. वही व्य० का० ८।६५।
३. वही व्य० का० ८।६९–७१। ४. वही व्य० का० ८।७७–७८।
५. वही व्य० का० ८।७९–८१। ६. वही व्य० का० ८।८२–८५।

प्रकार की अग्नि (परीक्षा होती है) वे (अर्थात् परीक्षक) लोहे का एक बड़ा पत्तुर गर्म करते हैं और अभियुक्त को उस पर बैठाते हैं। उसके पैर भी उस पर रख देते हैं और हाथ की गदोली भी। अपनी जीभ से उसे (उस पत्तुर को) चाटना पड़ता है, यदि छाले नहीं पड़ते, तो वह निरपराध माना जाता है। यदि छाले पड़ते हैं तो वह अपराधी प्रमाणित हो जाता है। (अग्नि परीक्षा के लिये) दुर्बलों के लिये एक कली आग में डाल देते हैं, यदि वह खिल जाती है तो वह निरपराध होता है। (और) यदि वह जल जाती है। (तो) वह अपराधी होता है। तुला विधि यह है (कि), एक व्यक्ति और एक पत्थर बराबरी पर तुला में रखा जाता है। तब वे हल्केपन या भारीपन के अनुसार परीक्षा लेते हैं। यदि अभियुक्त निर्दोष होता है तब (उसका) पलड़ा भारी होता है और पत्थर ऊपर उठता है। यदि वह अपराधी होता है, तो व्यक्ति (का पलड़ा) ऊपर उठता है और पत्थर नीचे की ओर जाता है। विष परीक्षा यह है (कि) वे एक मेष (भेड़ा) ले लेते हैं और उसकी जांघ में विष का शल्य लगा देते हैं। यदि व्यक्ति अपराधी होता है तो विष पशु पर प्रभाव डालता है और वह मर जाता है। इन चार प्रकारों की छानबीन द्वारा अपराध रोके जाते हैं[१]। ह्वेन सांग के इस वर्णन में तथा बार्हस्पत्य विष परीक्षा में अन्तर है। बृहस्पति व्यक्ति को विष देने के पक्षपाती थे, पशु को नहीं। स्पष्ट है कि ह्वेन सांग के समय तक आते-आते विष परीक्षा सांकेतिक मात्र रह गयी थी।

युक्ति एवं न्याय—बृहस्पति, निर्णय के लिये कई बातों का ध्यान रखना आवश्यक मानते हैं। उनका स्पष्ट मत है कि, केवल स्मृति के ही आधार पर निर्णय न किया जाय क्योंकि युक्ति हीन अथवा तर्क हीन निर्णय से धर्म हानि होती है[२]। इस स्थल पर धर्म शब्द का प्रयोग निश्चित तथा विशिष्ट अर्थों में हुआ है। धर्म शब्द का अर्थ न्याय ही नहीं वरन् न्याय की आधार शिला सत् तथा असत् में अन्तर स्थापित करने एवं सत् का परित्याग करके असत् पर अग्रसर होने वालों को दण्ड देना था। यह कार्य तर्क विहीन निर्णय से निश्चय ही मध्य मार्ग में ही रह जाता और अपराधी अदण्डित रह जाता और निरपराध दंडित होता। वे माण्डव्य ऋषि का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं जो युक्ति विहीन निर्णय के कारण चोर घोषित किये गये थे[3]। अन्याय एवं न्याय, प्रणाली की जटिलता तथा वाद को प्रस्तुत करने के ढंग से वास्तविक स्वरूप से अन्तरित भी हो सकता था।

---

१. Buddhist Records of the Western World, Beal, Bk II p. 84–85.

२. बृ० स्मृ० व्य० का० १।११४। ३. वही व्य० का० १।११६।

(वाद के प्रथम दर्शन में) छली साधु और साधु छली प्रतीत होते हैं। और भ्रम हो जाता है। अतः अवसर आदि को दृष्टिगत करके निर्णय करना आवश्यक होता है, क्योंकि युक्ति के अभाव में चोर साहूकार और साहूकार अपराधी घोषित हो सकता है[१]। इसी प्रकार देश के नियम तथा स्थानीय परम्पराएं भी न्याय मार्ग को कण्टकाकीर्ण कर देती हैं। उदाहरणार्थ, आहार, भोजन, विवाह तथा पारस्परिक सम्बन्धों के बारे में किसी भी राष्ट्रीय स्तर के नियम को घोषित करके और उनके विपरीत होने वाले कार्यों को अपराध या न्याय विरुद्ध घोषित करने के बृहस्पति पक्षपाती नहीं हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि, देश, जाति, कुल में जो नियम प्रचलित हैं, उनका उसी प्रकार पालन होना चाहिये अन्यथा प्रजा क्षुब्ध हो जाती है। प्रजा शत्रु पक्ष की ओर चली जाती है। बल तथा कोश नष्ट हो जाते हैं[२]।

निर्णय—बृहस्पति निर्णय के चार प्रकार मानते हैं : धर्म (स्मृति पर आधारित), व्यवहाराश्रित, चारित्र्य (स्थानीय परम्पराओं) पर आधारित तथा नृपाज्ञा (अर्थात् राजकीय अध्यादेश)[3]। उनका कथन है कि, क्रियाभेद के कारण प्रत्येक दो प्रकार का होता है[४]। उचित प्रकार से किया गया निर्णय युक्ति के अनुरूप माना गया। शपथ द्वारा परीक्षित निर्णय धर्मानुकूल माना गया है। प्रमाण द्वारा निश्चित वाद व्यवहार कहलाता है[५]। अनुमान द्वारा निर्णय जिसमें परम्पराओं, अवसर, तथा स्थान को दृष्टिगत करके निर्णय किया जाता है, देश-स्थिति का ध्यान रखा जाता है, तीसरे प्रकार का निर्णय (चारित्र्य पर आधारित) माना जाता है। जहाँ दोनों पक्षों के प्रमाण सबल एवं समान हों, वहां राजाज्ञा द्वारा निर्णय प्रामाणिक माना जाता है। शास्त्र तथा सभ्य के मत से अविरूद्ध चतुर्थ प्रकार का निर्णय माना जाता है। जहाँ धर्मशास्त्र के विरुद्ध निर्णय किया जाता है वह युक्ति युक्त निर्णय माना जाता है[६]। निर्णय के सूक्ष्म भेदों का वर्णन करते हुए बृहस्पति का कथन है कि, धर्मशास्त्र पर आधारित निर्णय नैतिक विधि पर आधारित होता है। जब प्रतिवादी परीक्षा द्वारा अपराधी या निरपराध घोषित किया जाता है, तो नैतिक विधि पर आधारित द्वितीय प्रकार का निर्णय होता है। साक्ष्य पर आधारित

१. वही व्य० का० १।११७। २. वही व्य० का० १।१२६–१२७।
३. वही व्य० का० ९।१। ४. वही व्य० का० ९।२।
५. वही व्य० का० ९।३–५। ६. वही व्य० का० ९।६।
७. वही व्य० का० ९।७–८। प्रमाणसमतायां तु राजाज्ञा निर्णयः स्मृतः।
शास्त्रसभ्याविरोधेन चतुर्थः परिकीर्तितः॥
धर्मशास्त्रविरोधे तु युक्तियुक्तो विधिः स्मृतः।

निर्णय व्यवहाराश्रित होता है। परम्पराओं पर आधारित निर्णय परिस्थितियों पर आधारित होता है। स्थानीय परम्पराओं पर आधारित निर्णय दूसरे प्रकार का होता है। जब निर्णय धर्म पर आधारित होता है तो नैतिक विधि का उल्लंघन होता है। जब निर्णय साक्ष्य पर आधारित होता है तो सिद्धान्त समाप्त हो जाता है। जब परम्पराओं का उल्लंघन करके राजा अपना निर्णय देता है तो वह राजाज्ञा कहलाता है और उससे स्थानीय परम्पराओं का उल्लंघन होता है।[१] दो स्मृतियों में परस्पर विरोध होने पर बृहस्पति स्थानीय परम्पराओं के आधार पर निर्णय करने के पक्षपाती हैं[२]। मनु शाश्वत धर्म के अविरुद्ध निर्णय के समर्थक हैं[३]। जबकि याज्ञवल्वय, धर्मशास्त्रानुमोदित निर्णय के समर्थक होने के साथ-साथ दो स्मृतियों में परस्पर विरोध होने पर न्याय (व्यवहार) को अधिक शक्तिशाली मानते हैं[४]। उनके इस कथन से बृहस्पति के युक्तियुक्त न्याय को बल प्राप्त होता है। नारद का भी कथन है कि, व्यवहार (धर्म) से बलवान् होता है उससे धर्महानि होती है[५]। कृत्यकल्पतरु में कात्यायन ने युक्तियुक्त शब्द का अर्थ प्रमाण युक्त माना है[६]। व्यास कहीं अधिक विस्तारवादी के रूप में प्रमाण, हेतु, चरित, शपथ, नृपाज्ञा, वादी, सम्प्रतिपत्ति आदि निर्णय के आठ प्रकार मानते हैं। लिखित, साक्षी, भुक्ति, तीन प्रकार के प्रमाण माने जाने हैं[७]।

---

१. वही व्य० का० ९।१-७।

२. वही व्य० का० ८।८। धर्मशास्त्रविरोधे तु युक्तियुक्तो विधिः स्मृतः।

३. मनु १।११८।

४. याज्ञवल्क्य व्यवहाराध्याय (राजधर्म) २१।
स्मृत्योर्विरोधे न्यायस्तु बलवान् व्यवहारतः।

५. नारद १।३० (धर्मकोश वाल्यूम १ पृ० ९१)।
धर्मशास्त्रविरोधे तु युक्तियुक्तो विधिः स्मृतः।
व्यवहारो हि बलवान् धर्मस्तेनावहीयते।

६. कृत्य कल्पतरु १२।५०—कात्यायान ३९।
युक्तियुक्तं तु कार्यं स्याद्दिव्यं यत्र विवर्जितम्।
धर्मस्तु व्यवहारेण बाध्येते तत्र नान्यथा।

७. धर्मकोश व्य० का० पृ० १०६।
प्रमाणैर्हेतुचरितैः शपथेन नृपाज्ञया।
वादिसम्प्रतिपत्त्या वा निर्णयोऽष्टविधः स्मृतः।
लिखितं साक्षिणो भुक्तिः प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम्।

जयपत्र—विवाद ग्रस्त विषय के निर्णय के पश्चात् विजयी पक्ष को जय पत्र देने का बृहस्पति समर्थन करते हैं। उनका मत है कि, जिस व्यक्ति को सभ्य तथा प्राड्विवाक निर्दोष माने उसे जय पत्र दिया जाय। (जयपत्र में) वाद, उत्तर, क्रियापद आदि का संक्षिप्त विवरण हो। साथ ही साथ विवाद में उसकी विजय भी वर्णित हो[१]। निर्णय के विरुद्ध पुनरावेदन करने की मान्यता बृहस्पति स्वीकार करते हैं[२]। मनु तथा शुक्र भी व्यवहार के पुनश्चिन्तन को मान्यता प्रदान करते हैं। शुक्र का तो मत है कि एक, दो, तीन या चार बार तक पुनश्चिन्तन हो सकता है[३]। मनु भी मिथ्या साक्ष्य पर किये गये निर्णय को मान्यता नहीं प्रदान करते और मिथ्या निर्णय करने वालों को एक सहस्र दण्ड देने की आयोजना करते हैं[४]।

समझौता—बृहस्पति को उन अवसरों का भी ज्ञान है जब समान प्रबल साक्ष्य होने पर दोनों पक्षों का समझौता ही अन्तिम मार्ग होता था। बृहस्पति का कथन है कि, क्रिया (अर्थात् न्याय प्रक्रिया) के पश्चात् लोहे के दो तप्त अंशों की भाँति उन दोनों पक्षों को संयुक्त कर दिया जाय[५]। जब सामान्य प्रबल साक्ष्य हो, निर्णयकों में संदेह और विवाद हो, स्मृति एवं शिष्टाचार में विरोध हो तो समझौता ही उचित माध्यम है[६]।

दण्ड सम्बन्धी बार्हस्पत्य सिद्धान्त—आधुनिक दण्ड-विधान दण्ड के तीन सिद्धान्तों को विशेष महत्व प्रदान करता है; प्रथम, प्रतिशोध की भावना से दिया गया दण्ड; द्वितीय, अपराध के अनुपात में दिया गया दण्ड; और तृतोय, सुधार की भावना से दिया गया दण्ड। इन सिद्धान्तों में प्रथम का महत्व प्राचोन विश्व में विशेष रूप से स्वीकार किया गया था। प्राचीन यूरोपीय कबीलों में दण्ड घोषित किये जाने के बाद उसका कार्यान्वीकरण किसी राजनीतिक दल अथवा सामान्य प्रजा शक्ति के अधीन नहीं था वरन्, यह बहुत कुछ विजयी व्यक्ति और उसके मित्रों पर छोड़ दिया जाता था[७]। एथेन्स मे सामाजिक विवादों के न्याय का कार्यान्वीकरण विजयी पक्ष पर छोड़ दिया जाता था। वह उसे बंदी नहीं बना सकता था किन्तु उसकी सम्पत्ति छीन सकता था[८]। रोमन न्याय की

---

१. बृ० स्मृ० व्य० का० ६।२६–२८।

२. वही व्य० का० १।९३–९६। ३. शुक्र ४।७९१–७९५।

४. मनु ९।२३४। ५. बृ स्मृ० व्य० का० ३।४६।

६. वही व्य० का० ३।४४-४५।

७. Out Iines of Historical Jurisprudence : Vol. I, Vinogradoff pp. 354–55. ८. Ibid p. 179.

प्रारम्भिक अवस्था में ऋणदाता को ऋणी के शरीर पर भी पूर्ण अधिकार होता था[1]। बार्हस्पत्य न्याय व्यवस्था इस प्रकार के प्रतिशोध पूर्ण न्याय को मान्यता नहीं प्रदान करती। न्याय का आदर्श है सत्य स्थिति का पता लगाना और वास्तविक अपराधी को दण्ड देना[2]। हाँ, इतना अवश्य है कि न्यायालय में वाद प्रस्तुत होने तथा न्यायालय से प्रतिवादी के आह्वान के समय तक वादी प्रतिवादी का आसेध कर सकता (अर्थात् उसे बलात् रोके रख सकता) था[3]। किन्तु इस कार्य में और एथेनियन या रोमन न्याय में अन्तर है। आउट लाइन्स आफ हिस्टोरिकल जूरिसप्रूडेंस के लेखक का मत है कि, प्राचीन न्यायालय की कार्यवाही दोनों पक्षों के बीच होने वाला विधिवत् झगड़ा था जिसमें न्यायाधीश मध्यस्थ अथवा शान्ति रक्षक का न्यायपूर्ण कार्य करता था न कि छानबीन करता था[4]। बृहस्पति कार्यवाही प्रारंभ होने से लेकर निर्णय और उसे कार्यान्वित

---

१. Hindu Judicial System p. 205.

As between creditors and debtors, the position in the early stages of the Roman Law was that the lender had the right to seize the person of the debtor.

२. बृ० स्मृ० व्य० का० १।७७–७८।

अदण्ड्यान् दण्डयन् राजा दण्ड्यांश्चैवाप्यदण्डयन्।
अयशो महदाप्नोति नरकं चैव गच्छति।
अपि भ्राता सुतोऽर्घ्यो वा श्वशुरो मातुलोऽपि वा।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोऽस्ति धर्माद्विचलितः स्वकात्।

३. वही व्य० का० १।१५८।

वक्तव्येऽर्थे न तिष्ठन्तमुत्क्रामन्तं च तद्वचः।
आसेधयेद्विवादार्थी यावदाह्वानदर्शनम्।

४. Hindu Judicial system p. 121.

Two views have been taken in different ages, and by different systems of law as to the functions of a Judge. According to one, he is to use all appropriate methods for the discovery of the truth, and according to the other, he merely stands as an umpire between the parties to see that the rules of the game are observed Mediaeval English procedure strongly inclined to the second view (P. & M.,11,670) Vinogradoff makes this general assertion. An ancient trial was not much more than a formula-

करने के समस्त अधिकार न्यायालय के अधीन करते हैं, विजयी पक्ष के अधीन नहीं। इस विषय में भारतीय न्याय सिद्धान्त प्रतीच्य बंधुओं से कहीं अधिक प्रगतिशील था। पुनः न्याय का आदर्श था—सत्यान्वेषण, अपराधी को दण्ड देना एवं अपराध निरोध द्वारा दुःखी व्यक्ति के दुःख समाप्त करना[1]। भारतीय इतिहास प्रतिशोधपूर्ण न्याय की अवस्था अपने अज्ञात युग में ही पार कर चुका था।

बार्हस्पत्य न्याय व्यवस्था की अन्य विशेषता अपराध के अनुरूप दण्ड देने की आयोजना थी। वे दण्ड के कई प्रकार मानते हैं तथा अपराधी को उसके अपराध के अनुपात में ही दण्ड देने की मान्यता देते हैं[2]। संभवतः, उनका विश्वास रहा होगा कि सुशासन के अन्तर्गत बर्बरता एवं अत्याचारी कठोर शासनशक्ति के नग्न प्रदर्शन की आवश्यकता नहीं होती। उनके दण्ड का एक ही उद्देश्य है कि, स्वधर्म का त्याग करके लोग अन्य मार्ग पर चल कर शेष प्रजा को भी उस मार्ग पर चलने को बाध्य न कर दें। यह बात अवश्य है कि, बृहस्पति वर्णाश्रमधर्म के अनुरूप दण्ड व्यवस्था में भी अन्तर स्थापित करते हैं। संभवतः इस अन्तर का उद्देश्य था सामाजिक महत्व एवं प्रतिष्ठा को दृष्टिगत करते हुए अपराधी को दण्ड देना[3]। कौटिल्य भी व्यक्ति के महत्व के अनुरूप दण्ड घटाने-बढ़ाने के समर्थक हैं[4]। बार्हस्पत्य एवं शेष भारतीय दण्ड विधानों की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि कोई भी अपराधी अपनी महत्वपूर्ण स्थिति के कारण अदण्ड्य नहीं है[5]। अपराध के अनुरूप दण्ड का बार्हस्पत्य आदर्श अपनी विशिष्ट भावना रखता है जिसके अनुसार वर्णों के अनुरूप अपराधों के लिये दण्ड निश्चित किया जाता है[6]। उदाहरणार्थ, ब्राह्मण महापातकी को प्राणदण्ड नहीं दिया जा सकता। उनके लिये कठोरतम दण्ड होगा—सिर मुड़ा

---

ted struggle between the parties in which the judges had to act more as umpires and wardens of order and fair play than as investigators of Truth.

—Outlines of Historical Jurisprudence pp. 348-49.

१. बृ० स्मृ० व्य० का० १।७७—७८। २. वही व्य० का० २०।१९।

३. वही व्य० का० २०।१९।

एष दण्डः समाख्यातः पुरुषापेक्षया मया।
समन्यूनाधिकत्वेन कल्पनीयो मनीषिभिः॥
वही व्य० का० १।७—९।

४. अर्थ ४।८, पृ० २२०—२२२।

५. बृ० स्मृ० व्य० का० १।७—८। ६. बृ० स्मृ० व्य० का० २०।१९।

कर देश से निर्वासित कर देना[१]। प्राचीन युग में इस प्रकार के दण्ड की महिमा थी और उद्धत राजकुमारों तक को निर्वासित कर दिया जाता था[२]। आधुनिक अन्तरराष्ट्रीय विधान इस प्रकार के निष्कासन को मान्यता नहीं देता क्योंकि प्रत्येक देश और राज्य किसी न किसी की प्रभुसत्ता में होता है।

बार्हस्पत्य दण्ड विधान के अन्तर्गत सामाजिक शान्ति और व्यवस्था की मंगलमय भावना को आदर्श माना गया था और उसे भंग करने वालों को दण्ड देने का सिद्धान्त, निश्चय ही प्रश्न के द्वितीय पक्ष (अर्थात् सुधार की भावना से दण्ड देने के सिद्धान्त) की ओर इंगित करता है।, बृहस्पति दण्ड के चार प्रकार मानते हैं "वाग्दण्ड, धिग्दण्ड, धनदण्ड तथा वध दण्ड"।[३] वास्तव में दण्ड के ये चारों प्रकार अपराध की गुरुता और अपराध की पुनरावृत्ति के अनुसार अधिक होते जाते थे।

अपराध एवं दण्ड—अपराध के स्वरूप के अनुसार दण्ड देने का विधान स्पष्ट रूप से प्रथम दो प्रकारों के दण्ड को सुधारवादी मानने के लिये बाध्य करता है। वाग्दण्ड का यह अर्थ माना जा सकता है कि अपराधी को शाब्दिक चेतावनी दी जाती थी, अर्थात् उससे कहा जाता था कि तुमने यह बड़ा ही अशोभनीय कार्य किया है। धिग्दण्ड के अन्तर्गत कठोर वचनों में उससे कहा जाता था, कि तुम पातकी हो। तुम्हें धिक्कार है। वाग्दण्ड एवं धिग्दण्ड में प्रभाव का अन्तर था न कि प्रकार का। इस प्रकार व्यक्ति को उसके महत्व, कर्तव्यनिष्ठा और अपनी स्थिति के विपरीत कार्य करने का स्मरण दिला कर उसे फिर से कार्य-निष्ठ बनाया जा सकता था। ये दोनों प्रकार के दण्ड ब्राह्मण (—प्राड्विवाक) के अधीन थे।[४]

उच्चस्तरीय एवं कठिन दण्ड विधान में अन्तिम दोनों (अर्थात् धन दण्ड एवं वध दण्ड) की गणना होती थी। ये दोनों ही प्रकार राजाधीन थे।[५] धन दण्ड भी दो प्रकार का होता था। प्रथम प्रकार के अन्तर्गत अपराध अथवा

---

१. वही व्य० का० ९।१०--११।

महापातकयुक्तोऽपि न विप्रो वधमर्हति।
निर्वासनांकने मौण्ड्यं तस्य कुर्यान्नराधिपः।

२. Early History of Ceylon, pp. 6–7.

३. बृ० स्मृ० व्य० का० १।९१।

वाग्दण्डश्चैव धिग्दण्डो विप्राधीनौ तु तावुभौ।
अर्थदण्डवधावुक्तौ राजायत्तावुभावपि॥

४. वही व्य० का० १।९१। ५. वही व्य० का० १।९१।

सम्बन्धित धनराशि के अनुरूप दण्ड होता था।[१] द्वितीय के अन्तर्गत व्यक्ति के महत्व के अनुरूप धन दण्ड हीनाधिक होता था।[२] दण्ड के चतुर्थ प्रकार—वध दण्ड की गरिमा सबसे अधिक होती थी, प्राचीन भारत में वध शब्द का प्रयोग प्राणदण्ड के लिये न होकर शरीर पीड़न, ताड़न, बन्धन और विडन्नक आदि सभी प्रकारों के लिये हुआ हैं। इस प्रकार के दण्ड की आयोजना बृहस्पति शूद्रों के लिये करते हैं।[३] बन्धन के अर्थ सामान्य रूप से स्वतंत्र व्यवहार से रोक रखने, उसे हथकड़ी तथा बेड़ी पहिनाने और कारागार में डाल देने, सभी कार्यों के लिये होता है। ताड़न में सामान्य पिटाई से लेकर बेंत तथा कशाघात सभी की गणना होती थी। विडन्नक का अर्थ होता था अपराधी को विरूप अथवा कुरूप कर देना। जघन्य अपराधों के लिये वध के अन्तिम प्रकार प्राण वध (प्राण दण्ड) की आयोजना करनी पड़ती थी। इस प्रकार के दण्ड के अवसर उस समय उपस्थित होते थे जब अन्य सभी प्रयोग निष्प्रयोजन तथा गुरुताहीन हो जाते थे। बृहस्पति का स्पष्ट मत है कि यदि एक को प्राणदण्ड देने से बहुतों का कल्याण होता है तो उसे प्राण दण्ड दे दिया जाय।[४]

अपराधियों के प्रकार—बृहस्पति विभिन्न प्रकारों के अपराधियों की तालिका प्रस्तुत करते हैं। वे चोरी के कई प्रकार मानते हैं। जिनमें प्रकाश तस्कर तथा सामान्य चोरों की पृथक् श्रेणियाँ होती थीं।[५] दूसरे प्रकार के अपराधी कृत्रिम वस्तु का निर्माण करके व्यापार करते थे।[६] अपराधियों का तीसरा प्रकार पारुष्य और साहस के कार्य करने वालों का होता था।[७] चौथे प्रकार के सामाजिक

---

१. वही व्य० का० ९।१९, २५। वधार्हकः स्वर्णशतं दमं दाप्यस्तु पूरुषः।
अपराधानुरूपो च दण्डोऽत्र परिकल्पितः।

२. वही व्य० का० २०।८।

समानयोः समो दण्डो न्यूनस्य द्विगुणस्तु सः।
उत्तमस्याधिकः प्रोक्तः वाक्पारुष्ये परस्परम्।

वही व्य० का० २०।१२। विप्रे शतार्धदण्डस्तु क्षत्रियस्याभिशंसने।
विशस्तथाऽर्धपंचाशच्छूद्रस्त्वर्धत्रयोदश।

३. वही व्य० का०, ९।२०, १२–१३।

४. वही व्य० का० २२।७। एकस्मिन् यत्र निधनं प्रापिते पापचारिणि।
बहूनां भवति क्षेमः तस्य पुण्यप्रदो वधः।

५. वही व्य० का० २२।२–३।

६. वही व्य० का० २२।४। ७. वही व्य० का० २०।१। २३।१।

मान्यताओं का उल्लंघन करने वाले महापातकी होते थे।[१] अपराधियों का अन्तिम प्रकार राजद्रोहियों का होता था।[२] निगम के सदस्य, वैद्य, कितव, उत्कोचग्राही सभ्य, झूठे साक्षी, तथा कुहकजीवी आदि प्रकाश तस्कर माने जाते थे।[३] संधि भंग करनेवाले, पशुओं की चोरी करनेवाले, तथा सस्य चुरा लेने वाले प्रच्छन्न तस्कर माने जाते थे।[४] चोर, भिषग्, ग्लह, कूटदेविन्, क्षुद्र, वंचक तथा कम मूल्य की वस्तु अधिक मूल्य पर बेचने वाले भी चोर माने जाते थे।[५] स्त्री बालकों को धोखा देने वाले, कृत्रिम–हेम, मुक्ता, प्रवाल बनाने वाले, भ्रमित करने वाले, दूसरे प्रकार के अपराधी माने जाते थे।[६] मारपीट करने वाले, गाली-गलौज करने वाले, राज-भार्या का हरण करने वाले परस्त्री के साथ बलात्कार करने वाले, छद्मवध करने वाले, तीसरे प्रकार के अपराधी माने जाते थे।[७] महापातकियों में अनुचित शरीर सम्बन्ध रखने वालों की गणना की जाती थी।[८]

दण्ड विधान—इन अपराधियों के लिए बृहस्पति अपराध के अनुपात में दण्ड निर्धारित करते हैं। अर्थ दण्ड से लेकर पेड़ में उलटा लटकाना, अंग-भंग तथा वध सभी को वे अवसर के अनुरूप मान्यता प्रदान करते हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि एक दुष्टचारी के वध से बहुतों का क्षेम-कल्याण होता है तो उसका वध कर देना पुण्यकारी है। जुआ खेलनेवाले, अन्यायवादी, उत्कोचजीवी सभ्य, वंचक ये सभी निर्वासित कर दिये जायं। छिपे ढंग पर मनुष्य हत्या करने वालों को प्राण दण्ड दिया जाय। मनुष्यों की चोरी करने वाले को जलती कड़ाही में जला दे। गौ चुराने वाले की नासिका काट ली जाय (या) उसे जल में डुबा दिया जाय[९]।

विशेषताएं—बार्हस्पत्य नीति की कुछ विशेषताएं द्रष्टव्य हैं—प्रथम–वर्णाश्रमधर्म के अनुकूल अपराधी को दण्ड देने का विधान और ब्राह्मण की निर्वध्यता अपना विशेष महत्व रखती हैं। वे स्पष्ट रूप से कहते हैं कि, वध के अतिरिक्त ब्राह्मण को अन्य दण्ड दिया जा सकता है। उनके विधान के अनुसार महापातक युक्त ब्राह्मण को पाप सूचक चिह्न से अंकित करके सिर मुड़ाकर निर्वासित करने के अतिरिक्त अन्य कोई विधान नहीं। स्वल्प अपराध के लिये वाग्दण्ड, पूर्व साहस

---

१. वही व्य० का० ९।११। २. वही व्य० का० ९।१२–१३।
३. वही व्य० का० २२।२३। ४. वही व्य० का० २२।४।
५. वही व्य० का० २२।११।१६। ६. वही व्य० का० २२।१७-१८।
७. वही व्य० का० ९।२५। अपराधानुरूपश्च दण्डोऽत्रपरिकल्पितः।
८. वही व्य० का० २।२।७; ९।११–१४, २२।
९. वही व्य० का० २२।९, ११–१४, २२।

के लिये धिग्दण्ड, मध्यम उत्तम साहस के लिये अर्थ दण्ड तथा राजद्रोह के लिये बन्धनागार) में डाल देना (ही ब्राह्मण के लिये पर्याप्त दण्ड था)। उनका दृढ़ मत है कि विप्र महापातकी हो तब भी उसे वध दण्ड न दिया जाय[१]। निश्चय ही बार्हस्पत्य परम्परा ब्राह्मणों द्वारा निर्धारित वर्णव्यवस्था तथा उसमें ब्राह्मणों की श्रेष्ठता के आदर्श से प्रभावित हुई होगी। द्वितीय, शूद्र के लिये वे ताड़न, बंधन, विडम्बक आदि को मान्यता प्रदान करते हैं, अर्थ दण्ड को नहीं[२]। संभवतः शूद्रों की अधिकतर अर्थ विषयक पराधीनता इस मत के लिये पृष्ठभूमि प्रस्तुत करती रही होगी। एक स्थल पर वध तथा शरीर दण्ड के लिये अर्थ दण्ड देने का विधान बड़ा ही विचित्र प्रतीत होता है। उनका कथन है कि वध दण्ड का अपराधी सौ स्वर्ण दे (कर बच सकता है), जिसको अंगच्छेद का दण्ड (मिला हो) (वह) उसका आधा (अर्थात् पचास स्वर्ण) दे तथा (जिसे) संदंश (दण्ड दिया गया हो) उसका आधा (पच्चीस स्वर्ण) दे[३]। इस कथन की सार्थकता सिद्ध करना कठिन है क्योंकि जो व्यक्ति एक स्थल पर अधर्म द्वारा कोशवृद्धि का विरोधी है, वही अन्य स्थल पर किस कारणवश वध तक के अपराधी को केवल अर्थ दण्ड देने पर मुक्ति दे देने का अनुमोदन कर सकता है। इसे सिद्धान्त न मानकर कोश भरने का साधन मानना ही अधिक संगत होगा। बृहस्पति ऐसे धर्मशास्त्र-पारग इस प्रकार का मत कैसे प्रतिपादित कर सकते थे समझना और समझाना कठिन ही नहीं असंभव है। प्रो० रंगस्वामी आयंगर द्वारा संकलित बृहस्पति स्मृति में उपलब्ध श्लोक को इस बृहस्पति के नाम से किसी अन्य लेखक द्वारा रचित मानना ही अधिक युक्ति संगत होगा, क्योंकि एक न्यायाभाषी. अपराधी को ही दण्ड दिलाने का पक्षपाती, राज्य-चिन्तक कोश वृद्धि के लिये न्याय-अन्याय के अन्तर को समाप्त कर देगा, नहीं माना जा सकता।

---

१. वही व्य० का० ९।१।१२। २. वही व्य० का० ९।२०।

३. वही व्य० का० ९।१८।

परिशिष्ट

राज्य और न्याय : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

भारतीय संस्कृति के प्रारम्भिक युग से ही हमें राजत्व सम्बन्धी विचार परम्परा के दर्शन होने लगते हैं। बृहस्पति से कम से कम एक सहस्र वर्ष पूर्व भारतीय न्याय प्रशासन के इतिहास का सूत्रपात हो चुका था। ऋग्वेदिक राजा जन का रक्षक (गोपा जनस्य) कहलाता था। इस रूप में उसे दो प्रकार के कर्तव्यों का पालन करना पड़ता था। राज्य में शान्ति स्थापना तथा अनार्यों के आक्रमण से राज्य की रक्षा। वस्तुत: प्रथम कर्तव्य के पालन पर ही राजा अपने द्वितीय कर्तव्य के पालन की क्षमता ग्रहण कर सकता था। अत: राजा एक सामरिक नेता होने के साथ-साथ कार्यकारिणी एवं न्याय प्रशासन का भी सर्वोच्च एवं महत्वपूर्ण अधिकारी होता था। इस कथन का यह तात्पर्य कदापि नहीं कि राजा न्याय-स्रोत था क्योंकि ऋग्वेद में धर्म का अधिष्ठाता देवता वरुण था। वही ऋत का संचालक एवं नियामक था। समस्त ब्रह्माण्ड एवं मानवीय जगत् के समस्त व्यापारों का वही द्रष्टा था, पता लगाता आदित्य एवं मनुष्य कोई भी उसके अधिकार क्षेत्र के बाहर नहीं था[1]। इस प्रकार ऋग्वेद राजकीय शक्ति एवं दैवी शक्ति दोनों का ही मानवीय जगत् पर समान प्रभाव ही नहीं मानता वरन् धर्म अथवा न्याय को राजा के आधीन न करके स्वतंत्र महत्व प्रदान करता है, जिसका देवता वरुण था। संभवत: राज्य के अपराधियों को दण्ड देने के लिये राजा भी वरुण से साहाय्य के लिये प्रार्थना करता रहा होगा। ऐसा प्रतीत होता है कि धर्म एवं राजा की पृथक् सत्ता की भावना भी इसी परम्परा से उपजी होगी।

ब्राह्मण युग तक आते-आते ऐतिहासिक प्रगति के साथ-साथ राजत्व सम्बन्धी वैधानिक विकासक्रम भी पूर्ण हो गया। शतपथ ब्राह्मण स्पष्ट रूप से राजा को सुसंचालन, दृढ़ता, कृषि, क्षेम, सौख्य तथा विकास के लिये राज्य प्रदान करता है[2]। यह शतपथीय मत स्पष्ट रूप से राजा तथा प्रजा के बीच हुए अनुबंध की द्योतना करता है। इसी के कुशल पालन तक ही वह (—राजा) राजत्व का

---

१. ऋग्वेद २।२८।१, ४—७; २।२९।१, ५—७; ३।४३, ५; दि वेदिक एज, पृ० ३४२—४३, ३६५—६६।

२. शतपथ ब्राह्मण ५।२।१।२५

अधिकारी था, अन्यथा नहीं। अपने इन कर्तव्यों के पालन के निमित्त उसे विभिन्न आकाशीय, अन्तरिक्ष स्थानीय, पृथिवी तथा जल स्थानीय देवताओं से उनके अधिकार क्षेत्र पर शासन करने की अनुमति ही नहीं, शक्ति भी माँगनी पड़ती थी। इन देवताओं में वरुण अत्यन्त महत्वपूर्ण था क्योंकि राजकीय कर्तव्यों के पालन में विघ्न उपस्थित करने वालों, और स्वधर्म विमुख तथा अन्य व्यक्ति के धर्म पालन में विघ्न डालने वालों को दण्ड देना अनिवार्य था।[१] इस क्षेत्र में धर्मपति वरुण का ही एकाधिकार था। अतः अपराधियों को दण्ड देने तथा दण्ड देकर भी स्वयं अदण्ड्य बने रहने की मान्यता उसे प्राप्त करनी पड़ती थी। इस विशेषाधिकार के बारे में शतपथ ब्राह्मण का कथन है कि वह यव बोता है जिसके द्वारा धर्मपति वरुण उसे धर्म का अधिकारी (पति) बना देते हैं। जो व्यक्ति यह पद (—राजत्व) प्राप्त कर लेता है लोग अपने विवादों के निर्णय के लिये उसके पास आते हैं[२]। ऐन्द्रमहाभिषेक के पश्चात् सिंहासनासीन राजा को पीठ पर ब्राह्मण पुरोहित धीरे से डंडे मारता था। इससे यह द्योतित होता था कि यदि राजा ठीक से दण्ड नहीं धारण करता है तो वह भी दण्ड्य है। वह धर्म से ऊपर नहीं है[३]। इस प्रकार राजा वरुण के प्रतिनिधि के रूप में अपराधियों को दण्ड देने का अधिकारी बन गया किन्तु अधिकार का दुरुपयोग उसे भी दण्ड्य बना देता था। अतः राजा एवं धर्म के पारस्परिक सम्बन्धों का निरूपण किया गया तथा राजा से अधिक धर्म का महत्व स्थापित किया गया।

धर्म सूत्रों ने न्याय करना राजा का परम कर्तव्य माना। उन्होंने यह स्पष्ट घोषणा की कि, प्रजा में शान्ति एवं सुरक्षा तथा आक्रमणों से राज्य की रक्षा करने के कर्तव्य के प्रतिरूप में राजा को षड्भाग मिलता था[४]। इस प्रकार अर्थशास्त्रीय परम्परा के जन्म के समय तक न्याय करना राजा का कर्तव्य ही नहीं

---

१. वाजसनेयी संहिता १०—९ में प्रथमतः देवताओं को राजा के सिंहासनारोहण के बारे में सूचना दी जाती थी; और उनसे शक्ति माँगी जाती थी (९।४० : १०।१७–१८)।

२. वही ५।३।३।९।

अथ वरुणाय धर्मपतये। वारुणं यवमयं चरुं निर्वपति
तदेनं वरुण एव धर्मपतिर्धर्मस्य पतिं करोति परमता वै सा यो धर्मस्य पतिरसद्यो हि परमतां गच्छति तं[ँ]हि धर्मऽउपयन्ति तस्माद्वरुणाय धर्मपतये।

३. वही ५।४।७ अथैनं पृष्ठतूष्णीमेव दण्डैर्घ्नन्ति। तं दण्डैर्घ्नन्तो दण्डवधमतिनयन्ति तस्माद्राजा दण्ड्यो यदेनं दण्डवधमति नयन्ति।

४. गौतम २।२।९-११, बौधायन १।१०।१, आपस्तंब २।१०।२५-११।

माना जाने लगा वरन् अपने इस कर्तव्य की उपेक्षा उसे वेतन पाने के अधिकार का परित्याग करने को बाध्य करती तथा राजा और प्रजा का वह शाश्वत अनुबंध भंग हो जाता था, जिसके कारण वह राजत्व प्राप्त करता था।

इस सिद्धान्त पक्ष के साथ-साथ राजत्व एवं धर्म न्याय का व्यवहार पक्ष भी विकसित हुआ था। ऋग्वेद में न्याय-व्यवस्था के कुछ संकेत उपलब्ध होते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि, निरपराध व्यक्तियों को भी न्याय अथवा धर्म सभा में उपस्थित होना पड़ता था जहाँ न्याय प्रक्रिया द्वारा निरपराध सिद्ध होने पर वे मुक्त कर दिये जाते थे[1]। स्पष्ट है कि, इस युग में ही न्याय सभा, आह्वान, अपराधी की खोज, प्रमाण, साक्ष्य एवं निर्णय आदि की व्यवस्था अपना स्वरूप ग्रहण कर रही थी। अथर्ववेद न्यायालय को सभा कहता है[2]। पारस्कर गृह्यसूत्र के टीकाकार जयराम का मत है कि, धर्म (अर्थात् न्याय) द्वारा शोभित अथवा सज्जनों से शोभित होने के कारण सभा (सभा) कहलाती थी[3]। प्रथम अर्थ में शुक्ल यजुर्वेद में इसका वर्णन उपलब्ध होता है[4]। पारस्कर गृह्यसूत्र सभा शब्द के दो पर्यायवाची प्रस्तुत करता है नादि और त्विषि[5]। इनकी व्याख्या करते हुए जयराम का मत है कि (सभा) धर्म निरूपण (अर्थात् न्यायकरण की सूचक घंटाध्वनि से) नदन शील और शपथ के लिये रखी गयी अग्नि से (प्र-) दीप्त रहती थी[6]। इस प्रकार वैदिक आर्यों ने न केवल न्याय व्यवस्था को जन्म ही दिया वरन् अभियोग, अपराध तथा सत्यान्वेषण और दण्ड के वैज्ञानिक आधार भी प्रस्तुत कर दिये थे।

व्रात्य परम्पराओं ने भी जिस न्याय व्यवस्था को जन्म दिया था वह न्याय एवं सत्यान्वेषण में कितना श्रम करती थी, इसका परिचय हमें महापरिब्बान सुत्तन्त की अट्ठकथा टीका के उद्धरणों में प्राप्त होता है। इस अट्ठकथा से ज्ञात होता है कि वज्जियों में जब किसी व्यक्ति पर दोषारोपण किया जाता था तो उसे अभियोग मात्र से अपराधी ठहरा कर दण्ड नहीं दे दिया जाता था। इसके विपरीत, वह व्यक्ति आरोप एवं अपराध की परीक्षा के लिये विनिश्चय

---

१. ऋग्वेद १०।७१।१०।

सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः।
किल्बिनषस्पृत्पितुषणिर्ह्येषामरं हितो भवति वाजिनाय॥

२. अथर्ववेद ७।१२। विद्मते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि।

३. पारस्कर गृह्यसूत्र ३।१३ टीका। यह धर्मेण सद्भिर्वा भातीति सभा।

४. वाजसनेयी संहिता ३०।६। धर्माय सभाचरम्।

५. पारस्कर गृह्यसूत्र ३।१३। नादिर्नामासि त्विषिर्नामासि।

६. वही टीका। नदन शीला दीप्ता धर्म निरूपणात्।

महामात्र के सुपुर्द कर दिया जाता था, जो दोषारोपण के सत्यासत्य का अन्वेषण करता था। यदि वह उसे अपराधी पाता तो उसे व्यावहारिक महामात्र के सुपुर्द कर देता था किन्तु उसे निर्दोष पाकर मुक्त कर सकता था। इसी प्रकार (दोषी ठहराये गये) व्यक्ति को व्यावहारिक महामात्र भी निर्दोष पाकर मुक्त कर देता था। और अपराधी पाकर उसे सूत्रधर नामक अधिकारी को सौंप देता था। वह भी उसे मुक्त कर देता था या अष्टकुलका नामक संस्था को सौंप देता था। इसी क्रम में दोषी माना जाने पर वह सेनापति, उपराजा के पास से होता हुआ राजा तक पहुँचता था। इनमें से कोई भी उसे निरपराध पाकर मुक्त कर सकता था। राजा (भी) उसे, अपराधी पाकर 'पोराना पकती' एवं 'पवेणी पोत्थक' अर्थात् प्राचीन नियम एवं परम्परा पुस्तक के आधार पर निर्धारित दण्ड देता था[१]। मुक्त करने का अधिकार विनिश्चय महामात्र से लेकर उपराजा तक सभी न्याय अधिकारियों को प्राप्त था किन्तु अपराधी को दण्ड केवल राजा ही दे सकता था। पुनः राजा को भी स्वेच्छा से दण्ड देने का अधिकार नहीं था। उसे अपराध के सानुपात दण्ड देना पड़ता था। जिसका निश्चय वह स्वयं नहीं करता था, वरन् वह निश्चित परम्परा पुस्तक (पवेणी पोत्थक) में वर्णित अपराध के दण्ड विधान के अनुरूप दण्ड देता था। यह भी स्पष्ट है कि, इस परम्परा पुस्तक के नियमों एवं दण्ड विधान में परिवर्तन करने का अधिकार उसे नहीं था। न्याय के क्षेत्र में परम्पराओं और नियमों का महत्व बौद्ध साहित्य की ही भाँति वैयाकरण पाणिनि ने भी स्वीकार किया है। अष्टाध्यायी में उन्होंने न्याय शब्द का अर्थ अभ्रेष (३।६।३७) लिखा है—अर्थात् जो परम्परा प्राप्त आचार या विधि है उसका अस्खलन या अनिराकरण ही न्याय के अनुकूल कर्म या आचार न्याय्य कहलाता था (न्यायादनपेतं न्याय्यम् ४।४।९२)[२]।

आर्य तथा व्रात्य चिन्तनों ने समान रूप से बार्हपत्य राज्य चिन्तन को प्रभावित किया। न्याय के क्षेत्र में दोषारोपण, आह्वान, प्रक्रिया, प्रमाण, परीक्षा तथा निर्णय के नियमों ने बृहस्पति के न्याय व्यवस्था एवं प्रक्रिया सम्बन्धी सिद्धान्तों के लिये पृष्ठभूमि प्रदान की जिसपर उन्होंने अपने न्याय सौध का निर्माण किया। बृहस्पति की मौलिकता व्यवहार के प्रकारों के निरूपण, न्याय प्रक्रिया तथा निर्णय सम्बन्धी निर्देशों से प्रकट होती है।

●

---

१. Kshatriya Clans in Buddhist India, pp. 120–21.

२. पाणिनि कालीन भारतवर्ष पृ० ४१२।

एकादश अध्याय

अन्तर-राज्य सम्बन्ध

आधुनिक दृष्टिकोण के अनुसार प्राचीन भारत में अन्तर-राज्य-सम्बन्ध तथा विदेश नीति के महत्व को सिद्ध करने के प्रयत्न अधिक फलप्रद नहीं होंगे, फिर भी, जैसा प्रो० नीलकण्ठ शास्त्री का मत है, अन्तर-राज्य सम्बन्ध के अनेकों ऐसे पक्ष होते थे जो व्यवहार में सुनिश्चित मर्यादाओं द्वारा मर्यादित होते थे।[1] राजनीतिक भूगोल और पारस्परिक महत्व के कारण शक्तिशाली राज्यों का महत्व स्वीकार किया जाता था।

अन्तर-राज्य सम्बन्धों की जनयित्री परिस्थितियाँ—बार्हस्पत्य अन्तर-राज्य सम्बन्ध के अध्ययन के पूर्व उन परिस्थितियों का वर्णन अप्रासंगिक न होगा, जिन्हें इन सम्बन्धों की जनयित्री माना जा सकता है। भौगोलिक सीमाएँ दो राज्यों को मिलाती थीं। सीमा सम्बन्धी विवाद पारस्परिक शत्रुता एवं मित्रता को जन्म देते थे। बार्हस्पत्य राज्य-व्यवस्था के अनुसार सीमावर्ती राज्य शत्रु होता था परन्तु उसकी (शत्रु) सीमा पर स्थित राज्य मित्र होता था। इसी सिद्धान्त के आधार पर शत्रु, मित्र, मध्यस्थ, एवं उदासीन राज्यों के साथ प्रयोजनीय सम्बन्धों का निर्धारण होता था।[2]

मनोवैज्ञानिक, आर्थिक, धार्मिक तथा राजनीतिक तत्व अन्तर-राज्य सम्बन्धों के निर्धारण में महत्वपूर्ण योग प्रदान करते थे। प्राचीन भारतीय चिन्तकों ने राज्य की एकाकी स्थिति की कल्पना नहीं की थी। राज्यों में पारस्परिक सम्बन्ध अवश्यंभावी माना जाता था। फलतः विजिगीषु और उसके निकटवर्ती अथवा

1–Inter National Law and Inter State Relations in Ancient India—Extract from Prof. K.A. Nilakanta Sastri's Foreword.

Though International Law as we understand it in the modern world can not in the strict sense, be said to have prevailed in ancient India, there were many aspects of inter-state relations which were in practice regulated by well understood conventions and rules.

२. बृ० स्मृ० व्य० का० १।२३–२४, कामन्दकीय ८।२०, ८।२६; अर्थ ६।१, पृ० २५७; मनु ७।१५५-५६।

सुदूरवर्ती राज्यों में शत्रु, मित्र, मध्यस्थ एवं उदासीन सम्बन्ध स्थापना होती थी। सामाजिक तत्वों में, भ्रातृत्व भावना (अर्थात् आर्य भावना), सांस्कृतिक आदान-प्रदान, शिक्षा एवं विवाह सम्बन्ध अन्तर-राज्य सम्बन्धों के जन्म एवं निर्वाह में सहायक होते थे। व्यापारिक वस्तुओं के आवागमन, विक्रय, नियंत्रण आदि के लिए भी इन सम्बन्धों का प्रारम्भ होता था। धर्म प्रचार के प्रयत्न, विदेशों में अपने धर्म के संरक्षण के निमित्त भी अन्तर-राज्य सम्बन्ध स्थापित होते थे। राजनीतिक तत्वों मे राजनीतिक मैत्री, सीमातिक्रमण, साम्राज्य लिप्सा आदि दो राज्यों के बीच मैत्री अथवा शत्रुतापूर्ण सम्बन्धों को जन्म देते थे।

युद्ध सम्बन्धी दृष्टिकोण—ऋग्वैदिक आर्यों के साथ जिस राजनीतिक परम्परा का जन्म हुआ, उसने ऐतरेय ब्राह्मण के युग तक राज्य विस्तार एवं साम्राज्यवाद को राजनीतिक एवं धार्मिक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार कर लिया था[१]। एक राजा राजसूय के अनन्तर विजिगीषु के रूप में विजय योजना करता था। तदनन्तर अश्वमेध और वाजपेय यज्ञ द्वारा सम्राट् पद प्राप्ति का आदर्श अर्ध-धार्मिक एवं अर्ध-राजनीतिक कर्तव्य का स्वरूप प्रस्तुत करता था।[२] फलतः युद्ध राजनीतिक ही नहीं धार्मिक कर्तव्य भी बन जाते थे। क्षत्रिय के लिये राज्य रक्षा एवं राज्य विस्तार के निमित्त युद्धों का अनुमोदन किया गया था।[3] अवसर उपस्थित होने पर क्षत्रिय युद्ध विमुख नहीं हो सकता था क्योंकि युद्ध क्षात्रधर्म था।[४] इस कारण युद्धकाल प्रभावित न होकर अनादि एवं अनन्त हो जाता था। उसे अनिवार्य दुर्गुण मान कर यथासम्भव नियमित एवं वैज्ञानिक स्वरूप प्रदान करने के प्रयत्न किये गये थे। उनका संक्षेप था—धर्मयुद्ध, जिसका अर्थ था—अन्तर-राज्य राजनीति मे सर्वमान्य नियमों के आधार पर युद्ध करना।[५] धर्मयुद्ध की सैद्धान्तिकता एवं उसके दृष्टिकोण की आलोचना करते हुए संयुक्त

१. ऐतरेय ब्राह्मण ३९। १। १५।

२. Political History of Ancient India, pp. 164-71.

३. The Dharma Śāstra Text—Vol 1, Gautama, Chap. X, pp, 383-84.

श्रीमद्भगवद्गीता २।३१ स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥

४. वही २।३३। अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्तिं च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥

५. मनु ७।९०–९३।

राष्ट्रसंघ में ब्राजिल के स्थायी सदस्य जौर्ज अमेरिकानो ने युद्ध को अन्तर-राष्ट्रीय स्तर का अपराध माना है। उनको यह स्वीकार्य नहीं है कि अपराध की कोई नैतिक पृष्ठभूमि भी हो सकती है।[1]

नियमों की आवश्यकता—प्राचीन काल में संयुक्त राष्ट्र संघ जैसी संस्था का अभाव था, जो दो राष्ट्रों के पारस्परिक सम्बन्धों को नियमित एवं नियंत्रित कर सकती। फलतः अन्तर-राष्ट्रीय क्षेत्र में संतुलन की स्थापना के निमित्त एक निश्चित विधान की आवश्यकता होती थी। यह विधान केवल नैतिकता के आधार पर ही संभव था। अतः बृहस्पति एवं अन्य धर्मार्थशास्त्रियों ने अपने राज्य चिन्तन में राजनीतिक विस्तारवाद, अन्तर-राष्ट्रीय सम्बन्धों के भौगोलिक पक्ष तथा शत्रु, मित्र, मध्यस्थ एवं उदासीन राष्ट्रों के साथ प्रयोजनीय नीति को पर्याप्त महत्व प्रदान किया था।

बार्हस्पत्य अन्तर-राज्य राजनीति का स्वरूप—अन्तर-राज्य राजनीति के क्षेत्र में बृहस्पति शत्रु, मित्र, मध्यस्थ एवं उदासीन राज्यों के वृत्त के लिये अष्टादशक मण्डल[2] शब्द का प्रयोग करते हैं। कौटिल्य एवं अन्य धर्मार्थशास्त्रियों ने द्वादश राजमण्डल सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की थी।[3] कामन्दकीय का लेखक कौटिल्य का समर्थक है। उसका कथन है कि, अरि, मित्र, तथा दोनों के अरि तथा दोनों के सुहृत् के सम्मिलित होने पर बारह मूल राजा होते हैं किन्तु गुरु का मत है कि अट्ठारह राजाओं का मण्डल होना चाहिये।[4]

अष्टादशक मण्डल का स्वरूप—बृहस्पति के अष्टादशक मण्डल की ही भाँति कौटिलीय में भी अष्टादशक मण्डल का वर्णन किया गया है। विजिगीषु उसके मित्र तथा उसके मित्र को तीन प्रकृतियां माना गया है। अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश तथा दण्ड आदि प्रत्येक के साथ संलग्न पाँच प्रकृतियों से युक्त हो अष्टादशक मण्डल का निर्माण कौटिल्य को स्वीकार्य है।[5] कौटिलीय अष्टादशक मण्डल

---

१. The New foundations of International Law, p. 41.

२. कामन्दकीय ८।२६

३. अर्थ ६।२, पृ० २६१। द्वादशराजप्रकृतयः;
कामन्दकीय ८।२२। उशना प्राह द्वादशराजकम्।
वही ८।४१ इति प्रकारं बहुधा मण्डलं परिचक्षते।
सर्वलोकप्रतीतं तु स्फुटं द्वादशराजकम्॥

४. वही. ८।२६। संयुक्तस्त्वरिमित्राभ्यामुभयारिस्तथा सुहृत्।
मौला द्वादशराजान इत्यष्टादशकं गुरुः॥

५. अर्थ ६।२, पृ० २६१। विजिगीषुर्मित्रं मित्रमित्रं वास्य प्रकृतयस्तिस्रः।
ताः पंचभिरमात्य-जनपद-दुर्ग-कोश-दण्डप्रकृतिभिरेकैकशः संयुक्ता मण्डलमष्टादशकं भवति।

गुण सम्पन्न मित्र राष्ट्रों का संघ होगा। कामन्दकीय के अनुसार मूल राजाओं में ६ की वृद्धि से अष्टादश मण्डल बृहस्पति का अभिप्रेत था।[१] बृहस्पति का उद्देश्य अन्तर-राज्य राजनीति के सदस्यों की संख्या बताना था, मित्र संघ का वर्णन करना नहीं। अतः कामन्दकीय परिभाषा अधिक संगत प्रतीत होती है।

अन्तर-राज्य राजनीति के सदस्य राष्ट्रों में मूल राष्ट्र कितने हों एवं बृहत् मण्डल के सदस्यों की संख्या क्या हो, एक विवादास्पद विषय रहा है। एक स्थल पर बृहस्पति चार मूल प्रकृतियों को महत्व प्रदान करते हैं।[२] मय भी चार प्रकृतियों का महत्व स्वीकार करते थे।[३] मनु ने भी इन्हें स्वीकार किया था।[४] इन्द्र तथा पुलोमा ने संख्या वृद्धि करके ६ राज्यों का महत्व स्वीकार किया था।[५] कौटिल्य,[६] मनु[७] एवं उशनस्[८] ने बृहत् मण्डल की बारह प्रकृतियाँ मानी थीं किन्तु बृहस्पति अट्ठारह मूल प्रकृतियों से युक्त मण्डल का महत्व स्वीकार करते थे।[९] मनु ने वृहत् मण्डल की पुनः वृद्धि को स्वीकार करके बारह प्रकृतियों को अपनी ६ प्रकृतियों से युक्त होने पर बहत्तर प्रकृतियों से युक्त मण्डल की निर्मात्री माना था, जिनमें बारह मूल प्रकृतियाँ होती थीं, शेष साठ द्रव्य प्रकृतियाँ होती थीं।[१०] इस प्रकार अन्तर-राज्य राजनीति का क्षेत्र अधिक व्यापक हो जाता था।

प्राचीन भारतीयों की ही भाँति पाश्चात्य जगत् में ग्रीकों और रोमनों ने भी अन्तर-राज्य सम्बन्धों का विनिश्चय किया था। ग्रीक राज्य अन्य ग्रीकों को प्रबल शत्रु एवं बर्बरों को जन्मजात दास बनाने योग्य मानते थे।[११] उनसे कहीं अधिक विकसित ढंग पर रोमन लोग प्रजातंत्र के दिनों में संधियाँ करते थे। लातीनी संघ का जन्म समता के आधार पर हुआ था फिर भी बहुत शीघ्र हम देखते हैं कि रोमन के कैपिटोल में संघ के नाम पर छोटे मित्र राष्ट्रों के अज्ञान में या उनसे बिना पूछे निर्णय लिये जाने लगे थे।[१२] इस प्रकार प्राच्य एवं पाश्चात्य विधानों में मौलिक अन्तर था। प्राच्य अन्तर-राज्य वर्गीकरण (अरि, मित्र,

---

१. कामन्दकीय ८।२६। २. बृ० स्मृ० व्य० का० १।२३–२४।
३. कामन्दकीय ८।२०। ४. मनु ७।१५५।
५. कामन्दकीय ८।२१। ६. अर्थ ६।२, पृ० २६१।
७. मनु ७।१५५–५६।
८. कामन्दकीय ८।२२। उशना प्राह द्वादशराजकम्।
९. वही ८।२६। १०. मनु ७।१५५–५६।
११. The Evolution of Diplomatic Method—Diplomacy in Greece and Rome—p. 9. १२. Ibid, p. 16.

मध्यस्थ तथा उदासीन) समस्त देश को किसी न किसी मूल प्रकृति में विभक्त कर देते थे। इसके विपरीत ग्रीक लोग संस्कृत जगत् और प्राच्य जगत् को स्वदेशी और स्वधर्मी शत्रुओं; तथा विधर्मी और विदेशी शत्रुओं में विभक्त कर देते थे। वे शत्रुता के साथ-साथ समान अभिप्रेतों के कारण की गयी मौलिक मित्रता, मध्यस्थता तथा उदासीनता की भावनाओं का अन्तर-राष्ट्रीय जगत् में संचार न कर सके। उनके विपरीत लातीनी संघ के रोमन अपने मित्र सहायक राष्ट्रों के संगठन तक ही सीमित रहे, जिनमें शक्तिविहीन राज्य केवल मूक दर्शक और समर्थक थे और उनकी राय किसी निर्णय को प्रभावित करने में असमर्थ थी। यह मित्र संघ कौटिलीय अष्टादशक प्रकृति मण्डल के सन्निकट प्रतीत होता है। इस मौलिक अन्तर के कारण बार्हस्पत्य अन्तर-राज्य चिन्तन की पाश्चात्य चिन्तन के साथ तुलना के प्रयत्न निरर्थक होंगे।

अन्तर-राज्य राजनीति के अन्तर्गत राज्य का स्वरूप—बार्हस्पत्य राज्य-व्यवस्था के अन्तर्गत अन्तर-राज्य राजनीति में केवल सम्पूर्ण राज्य अथवा सर्व-शक्तिशाली राज्यों की गणना होती थी। राज्य की परिभाषा करते हुए बृहस्पति ने अमात्य, राष्ट्र, जन, दुर्ग, दण्ड तथा कोश को महत्वपूर्ण माना है जिनमें सुहृद् अथवा मित्र तथा पृथिवीपति का सम्मिलन राज्य की स्थिति उत्पन्न कर देता है।[1] इन सात प्रकृतियों मे प्रथम पांच विजिगीषु की प्रकृतियाँ मानी जाती थीं किन्तु सुहृद् (अथवा मित्र) एवं पृथिवीपति की उपस्थिति में राज्य को सम्पूर्ण माना जाता था। प्रथम पांच प्रकृतियां प्रत्येक शासन प्रणाली की अनिवार्य आवश्यकता थीं और अन्तिम दो अन्तर-राज्य क्षेत्रों में सद्भावना मैत्री एवं शासकीय सर्वोच्च शक्ति की प्रतीक होती थीं। पृथिवीपति राज्य के स्वतन्त्र अस्तित्व का द्योतक होता था क्योंकि पराधीन राज्यों का अन्तर-राज्य राजनीति में स्थान नहीं होता था। राष्ट्र शब्द राज्य की भौगोलिक एकता एवं सुनिर्धारित सीमा का द्योतक होता था, जबकि दण्ड (अर्थात् सेना) उसकी रक्षक तथा कोश शासन कार्य के सम्पादन में आर्थिक सहायता प्रदान करता था। राज्य की मौलिक एकता के निमित्त सीमा रक्षा अनिवार्य थी। यही कारण है कि, शक्तिशाली शत्रु द्वारा पीड़ित राज्य को, बृहस्पति मंत्रणा देते हैं कि यदि वह राजा भूमि माँगे तो भूमि न देकर उसका फल (अथवा राजस्व) दिया जाय।[2] राजस्व तो बंद किया जा सकता था किन्तु भूमि देने के बाद उसे बिना युद्ध के पुनः प्राप्त करना असंभव होता। कौटिल्य भी राज्य की स्थिति के लिये जनसंकुल-जनपद आवश्यक मानते हैं, जिसके अभाव में न तो वह राज्य होता और न जनपद।

१. कामन्दकीय ८।४–५। २. नीति ३३०।

जनपद की विशेषता एवं लक्षण बताते हुए कौटिल्य का कथन है कि भक्त और शुचि मनुष्य जनपद सम्पत् हैं[1] अर्थात् जो राज्यभक्त है और जो राज्य के आज्ञाकारी व्यक्ति हैं, उन्हीं से युक्त प्रदेश जनपद कहलाएगा। इस युग में भी राष्ट्र की कोई वैधानिक परिभाषा करना बहुत कठिन है। क्षेत्र, जनता, राष्ट्रीय चेतना के साथ-साथ जातीय, ऐतिहासिक, भाषा सम्बन्धी, धार्मिक एवं सांस्कृतिक ऐक्य और सर्वोच्च सत्ता या प्रभुसत्ता एक स्वतंत्र राष्ट्र के आवश्यक अंग माने जाते हैं। आधुनिक अन्तर-राष्ट्रीय विधान के अन्तर्गत एक राज्य के रूप में संगठित राष्ट्र सर्वोच्च शक्ति होता है। अन्तर-राष्ट्रीयता के क्षेत्र में प्रभु शक्ति या सर्वोच्च सत्ता का अर्थ है आत्म-निर्णय (की क्षमता)। केवल एक राष्ट्र-राज्य सर्वोच्च शक्ति सम्पन्न होता है—राष्ट्रीय गतिविधि की ही भाँति अन्तर-राष्ट्रीयता के क्षेत्र में भी उसकी कार्यक्षमता होती है।[2] प्राचीन काल से लेकर इस युग तक अन्तर-राष्ट्रीय सम्बन्धों के अन्तर्गत प्रत्येक राष्ट्र का यह असीम अधिकार माना गया था कि वह अपने राष्ट्र के भविष्य का जिस प्रकार चाहे निर्माण करे। उस कार्य में बाह्य शक्तियों का हस्तक्षेप अप्रत्याशित होता था। यह अवस्था वास्तव में पूर्ण आत्मनिर्णय क्षमता की चरम सीमा थी। इसका परिणाम यह होता था कि, राजकीय संगठन के कार्य में राष्ट्र की असीमित स्वतंत्रता होती थी, चाहे वह कार्य राष्ट्र की जनता की इच्छा के विरुद्ध होता। अन्तर-राष्ट्रीय झगड़ों में आत्म-निर्णय का अधिकार और अन्य राष्ट्रों के विरुद्ध अपने निर्णयों के कार्यान्वित करने का अधिकार होता था। इस प्रकार की विचारधारा का यह प्रभाव हुआ कि, राष्ट्रीय एवं अन्तर-राष्ट्रीय दोनों ही क्षेत्रों का संतुलन अव्यवस्थित हो गया। अन्तर-राष्ट्रीयता पर इसका विशेष प्रभाव पड़ा क्योंकि शक्तिशाली राष्ट्र अपने उद्देश्यों की पूर्ति के लिये बाकी राष्ट्रों पर आक्रमण कर सकता था। बार्हस्पत्य विजिगीषु भावना की भी पृष्ठभूमि में यही विचारधारा रही होगी। राज्यों की भौगोलिक स्थिति, उनके सीमाविस्तार और क्षेत्रफल आदि का प्रभाव उन की अन्तर-राष्ट्रीय स्थिति पर पड़ता था।

सैद्धान्तिक के साथ-साथ व्यावहारिक रूप में भी प्राचीन भारत में, समशक्ति राज्यों की भावना स्वीकृत न हो सकी। बृहस्पति भी बलिन्,[3] सम[4] तथा हीन[5] आदि राज्यों की कल्पना करते थे। तीनों ही प्रकारों के राज्यों के

---

१. अर्थ ६।१, पृ० २५८।

२. The new foundations of International Law. p. 15.

३. नीति पृ० ३३०, ३२७। ४. वही पृ० ३२३।

५. वही पृ० ३२७।

साथ सम्बन्धों की रूपरेखा पृथक् होती थी। जहां बलिन् के साथ अपनी आत्म-रक्षा के निमित्त शान्तिपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने, उसके विरुद्ध शक्तिशाली मित्र के पास संश्रय लेने की नीति का बृहस्पति अनुमोदन करते हैं,[१] वहीं समशक्ति के साथ समान हानि और लाभ की स्थिति के कारण शान्तिपूर्ण संबंध बनाये रखने[२] और हीन शक्ति शासक के साथ वे युद्ध सम्बन्धों की योजना करते हैं।[३] राज्यों की शक्ति अथवा उनके अर्थगुण तथा सहायगुण[४] के कारण बृहस्पति भिन्न नीतियों की योजना का अनुमोदन करते हैं। इसी प्रकार अर्थ-स्वतंत्र[५] और संश्रय ग्रहण करने वाले राज्यों[६] तथा शत्रु के विरुद्ध संगठित राज्यों[७] की भी स्थिति उन्हें स्वीकार्य है।

विजिगीषु तथा अन्य राज्यों के सम्बन्ध—अपने आन्तरिक प्रशासन में स्वतंत्र एवं अन्य राज्यों के साथ अपने सम्बन्धों के विनिश्चय में स्वतंत्र राज्यों की स्थिति, स्वाभाविक रूप से अन्तर-राज्य सम्बन्धों के निर्धारण की आवश्यकता प्रस्तुत करती थी। यही नहीं, भारत में आर्यों के प्रवेश के साथ-साथ प्रारंभ होने वाली विजय भावना एवं साम्राज्यवाद के बाद के आदर्श ने उत्तर वैदिक काल तक पहुँचते-पहुँचते धार्मिक कर्तव्य का स्वरूप ग्रहण कर लिया और समुद्र-पर्यन्त पृथिवी का शासक होने की भावना ने स्पष्टरूप से बार्हस्पत्य राज्य-चिन्तन को प्रभावित किया। राजा को विजिगीषु के रूप में प्रयत्न करने पड़ते थे। फलत: साम्राज्यवादिता के प्रयत्नों के कारण उसे अपने सीमावर्ती राज्यों से युद्ध करके सीमा विस्तार करना पड़ता था। अपने शक्तिशाली शत्रु के विरुद्ध मित्रता-पूर्ण सम्बन्धों द्वारा सहायक मित्र राष्ट्रों का निर्माण करना पड़ता था। यही कारण है कि, बृहस्पति तथा अन्य धर्मार्थशास्त्र मित्र[८] को राज्य की अन्य प्रकृतियों की भाँति अत्यन्त आवश्यक मान लेते हैं। शत्रु तथा मित्र के साथ-साथ विजिगीषु और शत्रु सीमा पर स्थित राज्य मध्यम माने जाते थे। आज मध्यम

१. वही पृ० ३२७। संश्रयीत।
२. वही ३२३। समेनापि न योद्धव्यं यद्युपायत्रयं भवेत्। अन्योन्याहतिर्यो संगो द्वाभ्यां संजायते यत:॥
३. वही पृ० ३२६। यदि स्यादधिक: शत्रोर्विजिगीषुर्निजैर्बलै:। क्षोभेन रहितै: कार्य: शत्रुणा सह विग्रह:॥
४. बृ० सू० २।२। विद्यागुणोऽर्थगुण: सहायगुणाश्च।
५. नीति पृ० ३२१। ६. वही पृ० ३२७।
७. वही पृ० ३२१।
८. कामन्दकीय ८।५; अर्थ ६।१, पृ० २५७; मनु ९।२९४; शुक्र १।६१।

की यह परिभाषा मान्य नहीं है किन्तु इस मत की विशेषता यह है कि, मध्यम समान रूप से दोनों राज्यों पर अनुग्रह और प्रतिग्रह करने में समर्थ होता था,[1] जबकि आधुनिक अन्तर-राष्ट्रीय विधान इस प्रकार के किसी मत को नहीं स्वीकार करता। इसी भाँति उदासीन राज्य की भी स्थिति होती थी। आधुनिक अन्तर-राष्ट्रीय विधान इस प्रकार के राष्ट्रों को मान्यता प्रदान करता है किन्तु प्राचीन व्यवस्था से इसमें इतना अधिक अन्तर है कि आधुनिक तटस्थ राष्ट्रों के लिये यह आवश्यक नहीं है कि शक्तिशाली हों हो जबकि उस युग में उदासीन राज्य की परिभापा थी कि राजनीतिक वातावरण से दूर आत्मरक्षा में समर्थ उदासीन राष्ट्र होता है। बृहस्पति इन्हीं चार पृथिवीपालों (—राजाओं) को मान्यता प्रदान करते हैं जो अपने-अपने पृथक् मित्रों से युक्त होते थे और अमात्य आदि के सम्मिलन द्वारा अक्षर संहिता का निर्माण करते थे।[2] वे अन्तःशत्रु, अन्तः-मित्र तथा अन्तरुदासीन[3] राज्यों की स्थिति स्वीकार करते हैं। कौटिल्य ने कहीं अधिक व्यापक स्तर पर प्रकृति, सहज तथा कृत्रिम आदि प्रकारों के अन्तर्गत राज्यों का वर्गीकरण किया है। उनके मतानुसार, जिस राज्य से सीमा मिलती थी वह शत्रु और उसकी सीमा पर स्थित मित्र राज्य होता था। यही शत्रुता, मित्रता, प्रकृति शत्रुता-मित्रता होती थी।[4] वंश परम्परा में शत्रुता-मित्रता सहज[5] तथा लौकिक हितों पर आधारित शत्रुता-मित्रता कृत्रिमों संबंधों[6] की जनयित्री होती थी। युद्ध एवं शान्तिपूर्ण सम्बन्धों की योजना इन राज्यों के साथ अलग-अलग आधारों पर की जाती थी। बृहस्पति इन राज्यों में युद्ध के अतिरिक्त युद्ध के पहले और बाद मैत्री संबंधों की स्थिति स्वीकार करते हैं।

शत्रु के साथ विजिगीषु के सम्बन्धों की भूमिका—बार्हस्पत्य राज्य-व्यवस्था के अन्तर्गत अरि या शत्रु राष्ट्रों के साथ विजिगीषु के सम्बन्धों का विनिश्चय विशेष महत्व रखता है। वास्तव में नीति का महत्व शत्रु की समाप्ति एवं विजि-गीषु की समृद्धि कारक पारिणामों के लिये था।√ बृहस्पति ने शत्रु राष्ट्रों के साथ प्रयोजनीय नीति का बड़ा विशद वर्णन किया है। वे तत्कालीन कूटनीति को अपनी अविश्वास की नीति प्रदान करने के लिये विशेष महत्वपूर्ण हैं। एक ओर वे मण्डल-योनि राजनीति के अनुसार अपने पड़ोसी राज्यों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने की आज्ञा देते हैं किन्तु इन सम्बन्धों की भूमिका में वे अपनी

१. अर्थ ६।२, पृ० २६१।
२. बृ० स्मृ० व्य० का०, १।२४। पृथिवीपालाः।
३. बृ० सू० ३।२४।
४. अर्थ ६।२, पृ० २६०-६१।
५. वही ६।२, पृ० २६०।
६. वही ६।२, पृ०।२६०।

विश्वास की नीति प्रस्तुत करते हैं। उनका स्पष्ट आदेश है, कि न किसी का विश्वास करे, न अत्यधिक अविश्वास करे, विश्वास करता हुआ-सा अपने को प्रदर्शित करता हुआ अविश्वास करे।[1] मत्स्यपुराण में बृहस्पति की इस अविश्वासिनी नीति के प्रमाण मिलते हैं।[2] बृहस्पति किसी सामान्य सिद्धान्त का प्रतिपादन न करके शत्रु के महत्व को दृष्टिगत करके उसके साथ प्रयोजनीय नीति का औचित्य स्वीकार करते हैं। शत्रु की स्थिति के अनुरूप वे साम, दाम, दण्ड तथा भेद की नीति का प्रयोग उचित मानते हैं। शत्रु के लिये यदि अन्य तीन उपायों के प्रयोग की आवश्यकता हो तो उन माया, उपेक्षा एवं वध आदि सभी साधनों के प्रयोग को मान्यता प्रदान करते हैं। उनका स्पष्ट सिद्धान्त है कि, वीरों के साथ साम अथवा मैत्री प्रयोग, शंकितों के साथ साम एव भेद, लोभी लोगों के साथ साम, दान एवं भेद आदि तीनों उपायों की योजना करनी चाहिये। कष्टदायकों के साथ, साम, भेद, दान, माया, उपेक्षा एवं वध आदि सभी उपायों का प्रयोग हो सकता है।[3] इसका अभिप्राय यह है कि, वीरों के साथ मैत्रीपूर्ण, ढुलमुल लोगों के साथ दण्ड के अतिरिक्त तीनों उपायों एवं जिनकी स्थिति ही कष्टदायक हो उनके साथ साम से लेकर वध तक सभी उपायों का प्रयोग उचित होगा। इस प्रकार अन्तर राज्य सम्बन्ध इन्हीं तीन स्तरों पर निर्भर करते थे। समयानुकूल उपाय का प्रयोग फलप्रद हो सकता था। युद्ध की अवश्यंभाविता स्वीकार करते हुए शान्ति की कामना करते हुए, बृहस्पति का मत है कि सर्व

---

१. बृ० सू० १।८५।

न विश्वसेच्च। १।८५।
न चात्यर्थम् अविश्वसेत्।
विश्वसन्निव अविश्वसेत्।
बृहस्पतेरविश्वासाः इति शास्त्रार्थनिश्चयः। कामन्दक ५।८९।

अविश्वास का स्वरूप

शान्तिपर्व ५८।११
अविश्वासः स्वयं चैव परस्याश्वासनं तथा।
बृहस्पतेरविश्वासो। २।४० पंचतंत्र।
अविश्वासी तथा च स्याद्यथा च व्यवहारवान्। कामन्दक ५।२९।
विश्वासयेदविश्वस्तान् विश्वस्तान्नातिविश्वसेत्।
यस्मिन्विश्वासमायाति विभूतेः पात्रमेव सः। कामन्दक–५।८०।

२. मत्स्यपुराण ४७।१७९–२०४। ३. बृ० सू० ५।१–७।

प्रथम साम का प्रयोग करना चाहिये।[१] ऐसा प्रतीत होता है कि, बृहस्पति, अत्यन्त कष्टदायक शत्रु को सर्वप्रथम नीति द्वारा, उसकी असफलता पर धन, दण्ड, भेद नीति द्वारा तथा इनकी असफलता पर माया (—छल) व्यवहार, उपेक्षा की नीति (उसकी गतिविधि के निरीक्षण-उप-ईक्षण), के प्रयोग द्वारा शान्त (अथवा समाप्त) कर देने को संगत मानते थे। इन सबकी असफलता पर राज्य के हित में वे शत्रु के वध करा देने को भी मान्यता प्रदान करते थे। बृहस्पति शत्रु की शक्ति एवं उसके व्यक्तित्व को नष्ट कर देने के पक्षपाती हैं किन्तु युद्ध के माध्यम द्वारा नहीं।[२] वे उसे विभवहीन कर देना अधिक उचित समझते हैं।[३] यही नहीं (जो शत्रु) बना हुआ मित्र हो उसे युद्धभूमि में नष्ट करने के लिये भी वे पृथक् मार्ग का निर्देश करते हैं। उनका कथन है कि उसे (—शत्रु को) अपने मित्र के रूप में अपने दूसरे शत्रु के विरुद्ध रख कर नष्ट कर दें।[४] ताकि इस प्रकार की नीति का अभिप्राय यह होगा कि अपनी सेना के मुख भाग पर मित्र रूप में स्थित शत्रु पहले नष्ट हो जाय तब अपनी सेना नष्ट हो। इस प्रकार मित्र बना हुआ शत्रु मित्र के रूप में अन्य शत्रु द्वारा मार डाला जाय। बृहस्पति शुभशील सम्पन्न (धर्म विजयी एवं न्यायी) शत्रु को भी मित्र के समान मानते हैं।[५] यही नहीं उनका स्पष्ट मत है कि, नीति ज्ञान से रहित शत्रु भी पुत्र के समान है।[६] बृहस्पति युद्ध के तनिक भी पक्षपाती नहीं। वे उसे उसी अवस्था में मान्यता प्रदान करते हैं जब शत्रु की पराजय पूर्व निश्चित सी हो।[७] उनका स्पष्ट मत है कि युद्ध द्वारा अपने शत्रु को नष्ट करने के प्रयत्न नहीं करने चाहिये। क्षमाहीन तथा क्रोध से उत्तेजित बालक झगड़ते हैं।[८] शत्रु को नष्ट करने की

---

१. वही ५।८। सामं पूर्वप्रयोक्तव्यम्।

२. शान्ति १०४।७।

न जातु कलहेनेच्छेन्नियन्तुमपकारिणः।
बालसंसेविते ह्येतद्यदमर्षो यदक्षमा॥

बृहस्पति का स्पष्ट निर्देश है कि शत्रुता और अक्षमा की भावनाओं के प्रदर्शन के लिये कलह का मार्ग बालकों का मार्ग है, नीतिज्ञों का नहीं, अर्थात् उन्हें अन्य कूटनीतिक उपायों का प्रयोग करना चाहिये।

३. नीति पृ० ३२१। तं कुर्याद्विभवहीनम्।

४. वही पृ० ३२१।

शत्रुर्मित्रत्वमापन्नो यदि नो चिन्तयेच्छिवं—युद्धे वा तं नियोजयेत्।

५. बृ० सू० १।१०७। अरिः शुभशीलो मित्रम्।

६. वही २।५०। नीतिवियुक्तः पुत्र इव शत्रुः।

७. नीति पृ० ३२६।

८. शान्तिपर्व १०४।७। बालसंसेवितं ह्येतद्यदमर्षो यदक्षमा।

कामना वाले व्यक्ति को शत्रु को अपनी सुरक्षा के लिये सुचेत नहीं कर देना चाहिये। इसके ठीक विपरीत, उसे अपने क्रोधावेश एवं हर्ष का भी प्रदर्शन नहीं करना चाहिये।[1]

शत्रु के साथ प्रयोजकीय नीति का वर्णन करते हुए बृहस्पति का मत है कि राजा को अपने मनोभावों को गुप्त रखना चाहिये। वास्तविकता में विश्वास न करते हुए भी शत्रु के साथ पूर्ण विश्वस्त-सा व्यवहार करे। उसके साथ सदैव अच्छे वचन बोले, और कभी भी (शत्रुपक्ष में) असंतोष उत्पन्न करने वाले कार्य नहीं करे। उसे व्यर्थ के उत्तेजक कार्य तथा कटु वचनों को बचाना चाहिये।[2] एक व्याध की भाँति व्यवहार करने की मंत्रणा देते हुए उनका कथन है कि, जिस प्रकार व्याध पक्षियों की बोली बोलता है जिन्हें (वह) पकड़ना चाहता है (और) अपनी पकड़ में ले लेता है, उसी भाँति राजा को भी करना चाहिये। (जब) शत्रु अधीन हो जाय तो उसे चाहे मार दें। शत्रु के आदि, मध्य एवं अन्त (अर्थात् सभी आवश्यक सूचनाओं) का ज्ञान प्राप्त करके राजा को गुप्तरूप से उसके प्रति विरोधी भावनाएं रखनी चाहिये। अपने शत्रु की सेनाओं की स्थिति के बारे में पूर्ण ज्ञान प्राप्त करके भेद, दान तथा विष के प्रयोगों द्वारा उसे दूषित कर देना चाहिये। शत्रु को अपने साथ नहीं रखना चाहिये। दीर्घ प्रतीक्षा के बाद (समयानुकूल परिस्थिति देखकर) जब शत्रु निश्चिन्त हो और सोच भी न सके कि आक्रमण होगा,[3] उस पर अभियान करना चाहिये। बड़ी संख्या में सेना को नहीं नष्ट करना चाहिये। केवल उतने ही लोगों को मारा जाय जिन (की हत्या) से विजय निश्चित हो जाय। शत्रु को कभी भी चोट नहीं पहुँचानी चाहिये जिसे वह हृदय की चोट मान बैठे। यदि अवसर मिले तो बिना चूके उस पर आक्रमण किया जाय। विद्वानों द्वारा अनुमोदित कार्य करने चाहिये और बिना (उचित) अवसर के कभी भी अपने उद्देश्यों की सिद्धि के प्रयत्न न करें। यदि लाभ का अवसर निकट हो तो शत्रु पर आक्रमण नहीं करना चाहिये। लोभ, क्रोध, अहंकार आदि का त्याग करके जागरूक होकर शत्रु की विपरीत अवस्था की प्रतीक्षा करे।[4] बृहस्पति शक्तिशाली शत्रु के साथ विजिगीषु के सम्बन्धों की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि, अवसर पड़ने पर शक्तिशाली शत्रु के सम्मुख आत्म-समर्पण कर दे।

---

१. शान्तिपर्व १०४।७।

न शत्रुर्विवृत्तः कार्यो वधमस्याभिकांक्षता।

२. वही १०४।८—९।

३. वही १०४।१०, १५—११७। ४. वही १०४।१७-१९,२१-२२।

यह भी अपेक्षित है कि, (विजिगीषु) सावधान होकर विजयी शत्रु के नाश के प्रयत्न करे जो (अपने विजयोन्माद में) असावधान हो। समर्पण के द्वारा, मान के द्वारा, मृदुवाणी के द्वारा, शक्तिशाली शत्रु के सम्मुख विनम्र हो जाना चाहिये। उसे (शत्रु को) संदेह हो जाय ऐसे कार्य कभी न करे। शक्तिहीन दुर्बल शासक को शत्रु के (हृदय में) संदेह उत्पन्न हो जाने की अवस्था बचानी चाहिये।[१] शत्रु को परास्त करने के बाद विजयी शासक को सुख-पूर्वक नहीं सोना चाहिये अर्थात् शत्रु पर विश्वास नहीं करना चाहिये क्योंकि पराजित शत्रु सदैव जागरूक रहता है। दुष्ट शत्रु असावधानी से बुझायी गयी आग की भांति फिर सिर उठा लेता है।[२] नीतिज्ञ बुद्धिमान लोगों से मंत्रणा लेने के बाद उपेक्षा करने वाले हृदय से अविजित शत्रु, पर अवसर से लाभ उठा कर उसके विचलित पद होने अर्थात् उस समय जब वह गलत कदम उठाता है, प्रहार कर दे। विश्वासपात्र चरों की योजना करके वह (—शत्रु) सेना में असावधानी और भेद उत्पन्न करा दे।[३] शत्रु के प्रति सामान्य नीति के प्रयोगों का वर्णन करते हुए बृहस्पति का कथन है कि, एक ही अवसर पर अनेक शत्रुओं पर आक्रमण नहीं करना चाहिये। भेद, साम तथा दान के प्रयोगों द्वारा उन्हें एक-एक करके नष्ट कर देना चाहिये। जो बच रहें (यदि उनकी संख्या कम हो तो) विजिगीषु चाहे तो उनके साथ शान्तिपूर्ण व्यवहार करें।[४]

शत्रु के साथ प्रयोजनीय नीति के विनिश्चय में अमात्य शक्ति के महत्व को दृष्टिगत करते हुए बृहस्पति का कथन है कि, जब एक मंत्री राजा के गोपनीय कार्यों को करने की सामर्थ्य रखता हो तो (ऐसे विषयों पर) एक ही मंत्री से मंत्रणा ले। बहुतों से मंत्रणा लेने पर वे एक दूसरे के कन्धे पर जिम्मेदारी थोपने के प्रयत्न करते हैं और उस कार्य को प्रकट कर देते हैं, जिसे वह गुप्त रखना चाहता है। यदि एक की मंत्रणा पर्याप्त न हो तभी राजा को कई लोगों से मंत्रणा लेनी चाहिये।[५] उनका कथन है कि, बुद्धिमान् शासक को एक साथ सभी शत्रुओं से युद्ध नहीं करना चाहिये, चाहे वह सबको नष्ट करने में समर्थ हो।[६] जब राजा के पास विशाल षडंग सेना हो जिसमें अश्व, हस्ति, रथ

---

१. शान्तिपर्व १०४।२८–३०। २. वही १०४।११–१४।
३. वही १०४।१३–१४। ४. वही १०४।१५–१७।
५. वही १०४।२५।

यदैवैकेन शक्येत गुह्यं कर्तुं तदाचरेत्।
यच्छन्ति सचिवा गुह्यं मिथो विद्रावयन्त्यपि ॥

६. वही १०४।३५–३६।

एवं पदाति तथा यंत्र हों। सभी उसमें अनुरक्त हों और जब वह शत्रु से अपने को अधिक देखे तो निःसंकोच युद्ध छेड़ दे। दूसरी ओर, गुप्त उपायों द्वारा शत्रु को नष्ट करने का प्रयत्न करे। न तो शत्रु के साथ मृदु व्यवहार ही करना चाहिये और न लगातार अभियान। राजा को ऐसे अवसरों पर छल के विभिन्न प्रकारों द्वारा शत्रु में भेद करा देना चाहिये और उन्हें एक दूसरे के विरुद्ध कर देना तथा विभिन्न प्रकार के छलपूर्ण व्यवहार करने चाहिये। उसे विश्वस्त गुप्तचर छोड़कर शत्रु के नगरों और प्रदेशों के बारे में सूचनाएं प्राप्त करनी चाहिये।[1] शत्रु से बचाव के लिये मंत्रणा देते हुए बृहस्पति का मत है कि उपज का नाश, कुओं तथा तालाबों का विषाक्त होने, प्रशासन के अंगों के संदिग्ध होने की अवस्था बचानी चाहिये।[2]

प्रयोजनीय नीति—शत्रु की पराजय के पश्चात् विजेता के कार्यों की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए बृहस्पति का कथन है कि, शत्रु का पीछा करते हुए राजा को शत्रु के नगरों में प्रवेश करके बहुमूल्य वस्तुओं पर अधिकार कर लेना चाहिये। अपने राज्य एवं नगर के लिये प्रबंध करना चाहिये।[3] व्यक्तिगत-रूप से उन्हें (—शत्रुओं को) धन दे किन्तु बाह्य रूप में उनकी सम्पत्ति छीन लें। उन्हें आर्थिक दृष्टि से हानि न पहुँचाता हुआ प्रसिद्ध करे कि ये दुष्ट लोग हैं और अपने कुकर्मों का फल भोग रहे हैं।[4] राजा को शत्रुओं के प्रान्तों और नगरों में गुप्तचर भेजने चाहिये (और) अपने नगरों में शास्त्रज्ञ विद्वानों की सहायता से स्मृति ज्ञाताओं द्वारा मंत्रोच्चारण एवं शत्रुनाशक विधान करवाने चाहियें।[5] कौटिल्य ने भी बृहस्पति की ही भांति अन्तर-राज्य सम्बन्ध, विशेष कर शत्रु एवं विजिगीषु के सम्बन्धों के विवेचन की आवश्यकता स्वीकार की है। उनका मत है कि, राजा को शान्तिपूर्ण प्रयत्नों द्वारा अपनी प्रगति करनी चाहिये। यदि वह समझे कि अपने लाभप्रद कार्यों द्वारा वह शत्रु को हानि पहुँचा सकता है। या संधि से प्राप्य विश्वास का लाभ लेकर गूढ़ पुरुषों और गूढ़ कार्यों द्वारा शत्रु के निर्माण कार्यों को हानि पहुँचाए। यह शत्रु के कुशल कर्मचारियों को

---

१. शान्तिपर्व ४।३७–४०।

२. वही १०४।३९।

न सस्यघातो न संकरक्रिया न चापि भूयः प्रकृतेर्विचारणा।

३. वही १०४।४१।

४. वही १०४।४२।

५. वही १०४।४३।

धन और भविष्य के लाभ का लालच देकर मिला लेगा। या अत्यधिक शक्तिशाली शत्रु से मैत्री करके शत्रु को अपने निर्माण कार्य को समाप्त करने पर बाध्य कर देगा। या जिस राजा के संघर्ष के कारण शत्रु ने मैत्री सम्बन्ध किया हो उसे दीर्घकालीन कर देगा। या शत्रु के राज्य मण्डल को पृथक् करके उसे अपनी ओर मिला लेगा या शत्रु एवं उसके मण्डल में तनातनी उत्पन्न करा देगा।[१] उत्थान के लिये, कौटिल्य, षडंग सेना की दृढ़ता पर ही आश्रय लेने का अनुमोदन करते हैं। शत्रु से युद्ध सम्बन्धी विचारधारा में बार्हस्पत्य मत के पक्षपाती के रूप में कौटिल्य भी शान्ति तथा युद्ध द्वारा समान परिणामों के अवसर पर शान्तिपूर्ण प्रयोगों के पक्षपाती हैं,[२] क्योंकि युद्ध में मनुष्य एवं धन दोनों का ही क्षय होता है पर राज्य में निवास एवं कष्ट।[३] कौटिल्य भी बृहस्पति की ही भांति विजिगीषु को सम एवं बलिन् के साथ शान्ति सम्बन्ध करने, तथा हीन एवं दुर्बल के साथ युद्ध करने की मंत्रणा देते हैं।[४] शक्तिशाली शत्रु के साथ विजिगीषु के सम्बन्धों का वर्णन करते हुए कौटिल्य ने शक्ति प्रदर्शन के (आत्म-संहारवादी) वैशालाक्ष मत का विरोध करते हुए बृहस्पति के मत को बल प्रदान करते हुए स्पष्ट कहा कि, विजिगीषु को संश्रय ले लेना चाहिये तथा मंत्र युद्ध या दांवपेंच से काम लेना चाहिये।[५] मनु भी भविष्य में सुख समृद्धि की संभावना एवं तत्काल कष्ट की संभावना होने पर शान्तिपूर्ण ढंग को ही अपनाना उचित समझते हैं और जब वह देखे कि उसकी प्रकृतियां ठीक हैं और स्वयं बहुत शक्तिशाली है तभी युद्ध छेड़े।[६] बाद के युग में कामन्दक शत्रु के और उसकी परिभाषा अन्य प्रकार से करते हैं। उनका स्पष्ट विचार है कि, एक ही कार्य में लगना अविलक्षण है। इस प्रकार लगा हुआ शत्रु दारुण, और विजिगीषु गुणान्वित कहलाता है।[७] कामन्दक के इस विचार से स्पष्ट है कि मैत्री एवं शत्रुता का प्रबल माप-दण्ड समुद्देश्यता है जिसके कारण परस्पर विरोध अनिवार्य है। बृहस्पति की ही भांति शत्रु राष्ट्रों

---

१. अर्थ० ७।१ पृ० २६५। २. वही ७।१, पृ० २६३—२६६।

३. वही ७।२, पृ० २६७।

विग्रहे हि क्षयव्ययप्रवासप्रत्यवाया भवन्ति।

४. नीति पृ० ३२३, ३२७।

५. अर्थ ७।१, पृ० २६३। गुणातिशययुक्तो यायात्।

६. मनु ७।१८, १—२००।

७. कामन्दकीय ८।१४।

एकार्थाभिनिवेशत्वमविलक्षणमुच्यते ।
दारुणस्तु स्मृतः शत्रुर्विजिगीषुर्गुणान्वितः ॥

की स्थिति स्वीकार करते हुए कामन्दक का मत है कि, शत्रु दो प्रकार के होते हैं सहज तथा कार्यज, अपने कुल में उत्पन्न सहज और शेष कार्यज माने जाते हैं[1]। शत्रु के साथ प्रयोजनीय नीति का वर्णन करते हुए उनका कथन है कि विद्याविद् उच्छेद, अपचय, शत्रु के कार्यों के चार प्रकार मानते हैं। पीडन और कर्षण। कोश, दण्ड को अलग करना, महामात्य का वध, और को आश्रय देना कर्षण और अन्य पीडन (माने जाते हैं)।[2] इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि शतियों पूर्व, शत्रु राष्ट्रों से प्रयोजनीय वृत्ति विपयक जिन नियमों को बृहस्पति ने जन्म दिया था वे कौटिल्य, मनु तथा कामन्दक के युग तक पहुँचते-पहुँचते पल्लवित ही नहीं वरन् फलप्रद भी माने जाने लगे थे।

मित्र-राष्ट्र—बार्हस्पत्य राज्य-व्यवस्था के अन्तर्गत राज्य की परराष्ट्र नीति के विनिश्चय में शत्रु एवं मित्र-राष्ट्रों को पृथक्-पृथक् महत्व प्रदान किया गया है। बृहस्पति मित्रों के प्रति प्रयोजनीय नीति का उतना विशद वर्णन नहीं करते जितना शत्रु के प्रति प्रयोजनीय नीति का। सम्भवतः उनका विश्वास था कि, मैत्री पूर्ण सम्बन्धों की जनयित्री विभिन्न परिस्थितियाँ होती हैं जिनके कारण शत्रु मित्रता का दावा करने लगता है। मध्यस्थ एवं उदासीन राज्य मित्र के रूप में संश्रय ग्रहण करते हैं तथा समान शत्रु के प्रति निश्चित लाभों की आकांक्षा में दो राष्ट्र समान से अग्रसर होते हैं। पुनः राजनीति की मण्डल योनि गति के अनुरूप शत्रु की सीमा से लगा हुआ स्वतः विजिगीषु का मित्र होता था, इसी प्रकार मित्र का मित्र एवं उसका भी मित्र राष्ट्र मित्र राष्ट्रों में परिगणित होता था।[3] अन्य प्रकार की मैत्री वह होती थी जिसके अनुरूप शत्रु विजिगीपु के प्रति मैत्री का दम भरने लगता था जबकि वास्तविकता में वह उसे नष्ट करने की कामना करता था। इस प्रकार के मित्र शासक के प्रति प्रयोजनीय नीति का वर्णन करते हुए बृहस्पति का कथन है कि, (ऐसे शत्रु की) शक्ति नष्ट कर देनी चाहिये अथवा (अन्य) शत्रु से युद्ध के अवसर पर (अपने मित्र के रूप में) उसे अग्रग्रामी सेना में रख कर (शत्रु से युद्ध कराकर) उसे नष्ट कर देना चाहिये।[4] शक्तिशाली शत्रु को परास्त करने के उद्देश्य से अन्य शक्तिशाली मित्र शासक के पास संश्रय लेने की नीति का औचित्य बृहस्पति स्वीकार करते हैं।[5] बाद के युग में कौटिल्य, मनु आदि सभी लेखकों ने बार्हस्पत्य मैत्री के इस पक्ष के महत्व को समान रूप से स्वीकार किया है।[6] बार्हस्पत्य मैत्री सम्बन्धों का अन्तिम रूप वह

१. कामन्दकीय ८।४०, ८।५६। २. वही ८।५७-५८।
३. अर्थ ६।२, पृ० २६०। ४. नीति पृ० ३२१।
५. वही पृ० ३२७। ६. अर्थ० ७।१, पृ० २६३, २६६। मनु ७।१६८।

था जिसके अन्तर्गत विजिगीषु को बाध्य होकर शक्तिशाली, सीमाधिप को अपना शासक स्वीकार करना पड़ता था। दोनों में मैत्री सम्बन्ध की स्थिति की शर्तों में प्रबल शासक सीमा पर स्थित भूमि की माँग को भी रख सकता था। बृहस्पति का स्पष्ट आदेश है कि ऐसे अवसरों पर भूमि न देकर उसका फल या उपज दे दी जाय।[1] बृहस्पति का यह मत इतिहास सिद्ध है। बुद्धयुगीन भारत में मागध शासक बिम्बिसार से अपनी बहन कोशल देवी का विवाह करके प्रसेनजित ने कोशल साम्राज्य में स्थित काशी की आय दी थी, काशी नहीं। जिसके बन्द कर देने पर प्रसेनजित एवं अजातशत्रु का युद्ध इतिहास प्रसिद्ध है।[2] इस सिद्धान्त का प्रबल व्यवहार पक्ष था। शक्तिशाली होने पर भेजी जाने वाली आय कभी भी रोकी जा सकती थी किन्तु भूमि का वापस मिलना सम्भव नहीं था। इस सत्य का महत्व न स्वीकार करके शुक्र, शक्तिशाली शासक के सम्मुख उपहार, कन्या, धन एवं पृथ्वी और सभी वस्तुएं प्रस्तुत करना श्रेयस्कर मानते हैं।[3] बृहस्पति का भूमि प्रदान न करने का आदेश स्पष्ट है।[4] यद्यपि बृहस्पति ऐसे मित्रों एवं मैत्री सम्बन्धों के लिये पृथक् पारिभाषिक शब्दों की आयोजना नहीं करते फिर भी यदि इन्हें उत्तम, मध्यम तथा हीन आदि तीन स्तरों में विभक्त किया जाय तो बार्हस्पत्य भाव की विकृति न होगी। बृहस्पति अन्तःमित्रों[5] की गणना करते हैं किन्तु उनके गुणों तथा लक्षणों के वर्णन के अभाव में विशेष मत का प्रतिपादन सम्भव नहीं। कौटिल्य शत्रु की ही भाँति मित्रों को भी प्रकृति, सहज तथा कृत्रिम आदि श्रेणियों में विभक्त करते हैं[6] किन्तु उपलब्ध बार्हस्पत्य अंशों में इस प्रकार का वर्गीकरण प्राप्य नहीं। अतः सामान्य वर्गीकरण के अतिरिक्त पारिभाषिकों के क्षेत्र में अनुमान अति होगा।

अन्य राष्ट्रों से सम्बन्ध—विशदता के साथ बृहस्पति ने शक्तिशाली एवं शक्तिहीन शत्रु-राष्ट्रों के साथ प्रयोजन नीति का वर्णन किया है। मित्र-राष्ट्रों के

---

१. नीति पृ० ३३०।

सीमाधिपो बलोपेतो यदा भूमिं प्रयाचते।
तदा तस्मै फलं देयं भूमेर्नैव धरां निजाम्।

२. Political History of Ancient India, pp. 206–207, 211.

३. शुक्र ३।१०७४। सेवां वापि च स्वीकुर्याद्द्यात्कन्यां भुवं धनम्।

४. नीति पृ० ३३०। फलं देयं—नैव धरां निजाम्।

५. बृ० सू० ३।२४। अन्तर्मित्रो।

६. अर्थ ६।२, पृ० २६१।

विजिगीषुर्मित्रं मित्रमित्रं वाऽस्य प्रकृतयस्तिस्रः।

साथ के सम्बन्धों के वर्णन में उसकी अल्पता और मध्यम तथा उदासीन राष्ट्रों के साथ स्थापित होने वाले सम्बन्धों के वर्णन का अभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। इस अभाव की रक्षा के निमित्त केवल यही तक उपस्थित किया जा सकता है कि साम्राज्यवादिता की दौड़ में शत्रु का व्यवहार ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण होता था। उसी के अनुरूप नीति का प्रयोग महत्वपूर्ण होता था। इस विषय को विशद विवेचना ही बृहस्पति की विशेषता एवं उनका लक्ष्य है। मध्यम राजा के साथ सम्बन्धों के निरूपण में विजिगीषु को उतना ही सावधान रहना पड़ता था जितना शत्रु के साथ क्योंकि वह विजिगीषु तथा उसके शत्रु पर समान रूप से अनुग्रह तथा प्रतिग्रह करने में समर्थ होता था। उदासीन शासक शक्तिशाली होता हुआ भी राजनीतिक रंगमंच से परे रहता था अतः उसका प्रश्न ही नहीं उठता।

षाड्गुण्य—समस्त बार्हस्पत्य अन्तर-राज्य सम्बन्धों की रूपरेखा का निर्माण एवं उनकी स्थिति प्राचीन परम्परा द्वारा मान्य षाड्गुण्य अथवा ६ गुणों-संधि, विग्रह, स्थान, यान, संश्रय एवं द्वैधीभाव—के कुशल प्रयोग पर निर्भर करती थी जिसके सम्यक् प्रयोग द्वारा निर्धारित लक्ष्य की प्राप्ति में बृहस्पति की अचल निष्ठा है।[१] बृहस्पति राजा ही नहीं मंत्रियों के लिये भी षाड्गुण्य प्रयोग का ज्ञान आवश्यक मानते थे।[२] सामान्यतया सभी आचार्य विदेश नीति सम्बन्धी इन्हीं ६ गुणों को मान्यता प्रदान करते हैं। कौटिल्य के पूर्ववर्तियों में वातव्याधि इनमें प्रथम दो गुणों[३] (अर्थात् संधि, विग्रह) को ही महत्व प्रदान करते थे किन्तु कौटिल्य को उनका मत ग्राह्य नहीं,[४] उनका मत है कि स्थिति भेद के कारण षाड्गुण्य (का प्रयोग) होता है।[५] शुक्र भी सभी गुणों को मान्यता प्रदान करते हैं।[६]

---

१. शान्तिपर्व ५७।१६।

षाड्गुण्यगुणदोषाश्च नित्यं बुद्धयावलोकयेत्।

२. बृ० स्मृ० Additional Texts पृष्ठ ४९३।

संधि-भेद-संधान-स्थानज्ञो दूतस्स्यात्।

३. अर्थ ७।१, पृ० २६३।

"संधि-विग्रहासनयानसंश्रयद्वैधीभावाः षाड्गुण्यम्" इत्याचार्याः।

"द्वैगुण्यं" इति वातव्याधिः, संधिविग्रहाभ्यां हि षाड्गुण्यं सम्पद्यते" इति।

४. वही ७।१ पृ० २६३। ५. वही ७।१, पृ० २६३।

षाड्गुण्यमेवैतदवस्थाभेदात् इति कौटिल्यः।

६. शुक्र ४।१०६५।

संधि, विग्रह, यान, आसन, समाश्रय, द्वैधीभाव।

पांचवीं शती तक ग्रीकों ने भी निश्चयात्मक रूप से अन्तर-राष्ट्रीय सम्बन्ध के सिद्धान्तों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उनकी अपनी एम्फिक्ट्योनिक काउंसिलें, संघ एवं संधि-सम्बन्ध होते थे जिनसे स्पष्ट है कि कम से कम सैद्धान्तिक रूप से वे संगठन अथवा संघ के महत्व को समझते थे। उन्होंने युद्ध, संधि, संधिभंग, मध्यस्थता, तटस्थता तथा दौत्य सम्बन्धों, काउंसिल के कार्यों एवं युद्ध के निश्चित नियमों को विकसित कर लिया था, जो सिद्धान्त रूप मे स्वीकार कर लिये गये थे। उन्होंने विदेशियों की स्थिति, तटस्थता, शरण देने के नियम, निर्वासन तथा शांति काल के कार्यों से सम्बन्धित नियमों का निर्माण किया था, जिनका व्यापक रूप से पालन होता था।[१]

संधिः—बृहस्पति संधि के कई प्रकार मानते हैं। उनके अनुसार शक्तिशाली सीमाधिप से हुई संधि,[२] शत्रु से आत्मरक्षा के लिये की गयी मित्र राष्ट्र से संधि,[३] युद्ध के पश्चात् शत्रु से हुई संधि[४] आदि संधि के विभिन्न प्रकार थे। इस प्रकार बृहस्पति शक्तिशाली, शक्तिहीन शत्रु तथा मित्र से हुई संधि को वैधता प्रदान करते हैं। संधि के लिये विजिगीषु तथा उससे संधि करने वाले शत्रु अथवा मित्र राष्ट्र के लिये आवश्यक था कि दोनों ही पारस्परिक शान्ति सम्बन्धों के इच्छुक हों। कौटिल्य का मत है कि पणबंध संधि है।[५] डा० राधा गोबिन्द बसाक इसकी टीका करते हुए कहते हैं कि संधि एक समय (शर्तनामा) है जिसके द्वारा दो राजा प्रदेशों के समर्पण या प्रतिरूप, धन और सैन्य के लिये तैयार हो जाते हैं।[६] कौटिल्य ने संधि की अवस्थाओं के बारे में अपने पूर्ववर्तियों की विचारधारा का उल्लेख किया है। उनके मतानुसार शक्तिशाली शत्रु से, युद्ध के समान प्रभाव होने की अवस्था में, दोनों के युद्ध में समान क्षय की संभावना होने पर तथा युद्ध में समान स्थिति या लाभ होने की संभावना होने पर संधि कर लेनी चाहिये।[७] बृहस्पति भी शक्तिशाली शत्रु तथा सम शक्ति शत्रु से संधि कर लेने के पक्षपाती हैं। उपाय-त्रय (साम, दान, तथा दण्ड) से सम्पन्न

---

१. The Evolution of Diplomatic Method Harold Nicolson pp, 8,9.

२. नीति पृ० ३३०—३१। ३. वही पृ० ३२७।

४. वही पृ० ३३०।३१। ५. अर्थ ७।१, पृ० २६३। पणबंधः संधिः।

६. Inter National Law and Inter State Relations in Ancient India. That is to say treaty is an agreement between two kings for mutual surrender or exchange of territories, money and army (Arthasastra Dr. R. G. Basak).

७. अर्थ ७।१, पृ० २६४। तुल्यकालफलोदये वा संधिमुपेयात्।

राजा को भी वे मंत्रणा देते हैं कि, समान से संधि कर लेनी चाहिये क्योंकि अन्योन्याहृति (दो घड़ों की भाँति आपस में टकराने) का अर्थ दोनों का नाश होता है।[१] किन्तु कौटिल्य इस प्रकार के किसी मत से सहमत नहीं हैं। उनका कथन है कि यह नीति पूर्ण नहीं है।[२] संधि को कौटिल्य अपने कार्यों के लाभ और अपने प्रयत्नों द्वारा शत्रु को हानि पहुँचाने का माध्यम मानते हैं।[३]

कौटिल्य आत्म रक्षा, शक्ति वृद्धि, शत्रु हानि और शत्रु नाश के आदर्श पर आधारित संधि के पक्षपाती हैं।[४] बृहस्पति ने भी शक्तिशाली राजा के साथ संधि, उससे रक्षा के लिये की गयी संधि (संश्रय), समान हानि से बचने के लिये की गयी संधि का उल्लेख किया है।[५] जो शत्रु अपने किसी गुप्त लाभ या अज्ञात कारण से विजिगीषु का मित्र बन जाता है और जो विजिगीषु के कल्याण की कामना नहीं करता उसके लिये बृहस्पति मैत्री संबंध या संधि सम्बन्ध बनाये रखते हुए उसे विभव हीन या शक्ति विहीन करने की नीति तथा अन्य परिस्थिति में अपने अन्य शत्रु के विरुद्ध मित्र शक्ति के रूप में युद्ध करने के लिये नियुक्त कर देने के समर्थक हैं।[६] शक्तिशाली शत्रु से संधि करना उन्हें स्वीकार्य है, किन्तु उनका स्पष्ट आदेश है कि जब शक्तिशाली सीमाधिप भूमि मांगे तो भूमि न देकर उसे फल अर्थात् उस प्रदेश का राजस्व दे दिया जाय।[७] बृहस्पति का यह आदेश राष्ट्रीय अक्षुण्णता का संदेश है क्योंकि भूमि देने से भौगोलिक एकता नष्ट होने का भय था। उपज भेजना विजिगीषु शक्तिवृद्धि पर बन्द भी कर सकता था किन्तु भूमि देने के बाद उसे पुनः बिना युद्ध के प्राप्त करना संभव नहीं था। एक अन्य स्थल पर प्रबल शासक के प्रति प्रयोज्य नीति का उल्लेख करते हुए बृहस्पति का कथन है कि शक्तिशाली शत्रु के सम्मुख प्रणिपात अर्थात् साष्टांग समपण कर देना चाहिये।[८] संधि के महत्व को प्रकट करते हुए उनका कथन है कि, प्रणिपात द्वारा दान द्वारा तथा मीठे वचन बोल कर शत्रु से व्यवहार करे और उसे शंकित न करदे।[९] शुक्र ने भी इसी व्यवहार को मान्यता प्रदान की है। उनका कथन है, कि बलिन् के साथ युद्ध करना निदर्शन नहीं है।[१०] भारद्वाज का भी

---

१. नीति पृ० ३२३, ३३०–३१।
२. अर्थ ७।१, पृ० २६४। नैतद्विभाषितम्। इति कौटिल्यः।
३. वही ७।१ पृ० २६५।
४. वही ७।१। पृ० २६५।
५. नीति पृ० ३२७।
६. वही पृ० ३२१।
७. वही पृ० ३३०।
८. शान्तिपर्व १०४।२८–३०।
९. वही १०४।२८–३०।
१०. शुक्र ४।१०७३।
बलिना सह योद्धव्यमिति नास्ति निदर्शनम्।

कथन है कि, जब शक्तिहीन शासक पर शक्तिशाली आक्रमण करे तो उसे वेत्र की भांति समर्पण कर देना चाहिये।[१] कौटिल्य भी शक्तिशाली शत्रु के साथ की गयी संधि का उल्लेख करते हैं और उसे हीन संधि नाम प्रदान करते हैं। कौटिल्य दण्डोपनत, कोशोपनत आदि विभेदों के अन्तर्गत उसे मान्यता प्रदान करते हैं।[२] कौटिलीय परिभाषा के अनुसार बार्हस्पत्य राज्य-व्यवस्था में वर्णित शक्तिशाली शत्रु के साथ की जाने वाली संधि कोशोपनत हीन संधि होगी, जिसमें राजा धन देना स्वीकार कर लेता था। बृहस्पति भूमि देने के विरुद्ध हैं। कौटिल्य सैन्य शक्ति अल्प करने की प्रतिज्ञा (दण्डोपनत), धन प्रदान करने की प्रतिज्ञा (कोशोपनत) तथा भूमि प्रदान करने की प्रतिज्ञा (देशोपनत) आदि सभी को मान्यता प्रदान करते हैं। इन सभी मतों के विरुद्ध विशालाक्ष का अपना मत है कि, शक्तिशाली आक्रमणकारी के सम्मुख दुर्बल शासक को अपनी पूरी शक्ति लगा देनी चाहिये। शक्ति का प्रयोग समस्त कठिनाइयों पर विजय प्राप्त करता है। युद्ध करना क्षात्र धर्म है चाहे उसमें विजय मिले या पराजय[३]। युद्ध तथा संधि के विषय में बार्हस्पत्य मत का समर्थन करते हुए कौटिल्य का कथन है कि जब विजिगीषु शक्ति में अपने को शत्रु से दुर्बल देखे तो संधि कर ले।[४]

आधुनिक अन्तर-राष्ट्रीय विधान के अन्तर्गत संधि की परिभाषा हार्वर्ड ड्राफ्ट कन्वेन्शन की पहली धारा में उपलब्ध होती है। जिसके अनुसार, समय (अथवा शर्त-नामों) (वह) औपचारिक कार्य जिसके द्वारा दो या दो से अधिक राज्य अन्तर-राष्ट्रीय विधान के अनुरूप सम्बन्ध स्थापित करते हैं अथवा स्थापित करना चाहते हैं।[५] शान्ति संधि की वैधता की समालोचना करते हुए श्री अमेरिकानो का कथन है कि, जब तक युद्ध को अन्तर-राष्ट्रीय स्तर पर हानिकारक कार्य न मानकर अन्तर-राष्ट्रीय

---

१. अर्थ १२।१, पृ० ३८२।

बलीयसाऽभियुक्तो दुर्बलस्य पुत्रानुप्रणतो वेतसधर्मा तिष्ठेत्।
"इन्द्रस्य हि स प्रणमति, यो बलीयसो नमति इति" इति भारद्वाजः।

२. वही ७।२ पृ० २६८, ७।२ पृ० २७८।

३. वही १२।१, पृ० ३८२।

"सर्वसन्दोहेन बलानां युध्येत, पराक्रमो हि व्यसनमपहन्ति, स्वधर्मश्चैव क्षत्रियस्य, युद्धे जयः पराजयो वा"। इति विशालाक्षः॥

४. वही ७।२, पृ० २६७।

सन्धिविग्रहयोस्तुल्यायां वृद्धौ सन्धिमुपेयात्।

S.[५]atow's Guide to Diplomatic Practice, page 326.

सम्बन्ध माना जाता था। शान्ति संधियों को सैद्धान्तिक मान्यता प्रदान की जा सकती थी। दो राष्ट्र युद्ध की घोषणा करके अपने सामान्य सम्बन्धों को समाप्त कर देते थे और दूसरे प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करते थे जो समान रूप से युद्ध धर्म द्वारा मर्यादित होते थे। उसके बाद वे पुनः शान्तिपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना करके सामान्य सम्बन्धों की स्थापना के निमित्त शान्ति संधि करते थे।[१] श्री अमेरिकानो ने शान्ति संधि का जो स्वरूप स्वीकार किया है उसके अन्तर्गत विजेता और विजित राज्यों के बीच होने वाले शान्ति सम्बन्धों का अध्ययन ही किया गया है। इसके विपरीत बृहस्पति तथा अन्य प्राचीन भारतीय अर्थ-शास्त्रियों ने सामान्य शान्तिपूर्ण संबन्धों के भविष्य में समाप्त करके युद्ध छेड़ने की तैयारी और अपनी विजय के लिये की जाने वाली संधि का उल्लेख किया है। बार्हस्पत्य अर्थशास्त्रीय परिभाषा के अनुरूप विजिगीषु और शत्रु राष्ट्रों के आदर्श यथार्थ सम्बन्धों की रूपरेखा का अंकन आवश्यक था जिसके पश्चात् विजिगीषु सम्राट् हो पाता। विजिगीषु भावना के कारण युद्ध राजनीतिक ही नहीं धार्मिक कर्तव्य भी हो जाता था। संधि तो भावी युद्ध एवं अपनी विजय की भूमिका होती थी। आधुनिक राजनीति साम्राज्यवादिता के अतिरिक्त अन्य किसी राजनीतिक अथवा धार्मिक कर्तव्य से प्रभावित नहीं होती अतः श्री अमेरिकानो के शब्दों में प्रत्येक शान्ति संधि अपने स्वरूप से ही भावी युद्ध की नींव डाल देती है। पराजित राष्ट्र उसे भंग करता है और अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित करने के लिये युद्ध छेड़ देता है, जो संधि के कारण समाप्त हो गयी थी। और क्षेत्रीय सत्ता-प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है जो दण्ड शक्ति द्वारा उल्लंघित हो चुकी थी। संधि भंग होते देख विजेता अपने क्षेत्रीय अधिकार की पुनः स्थापना के लिये युद्ध छेड़ देता है, जो उसे संधि द्वारा प्राप्त हुआ था।[२]

विग्रहः—षाड्गुण्य का अन्य महत्वपूर्ण अंग विग्रह है। विग्रह शब्द की व्युत्पत्ति तथा अर्थों के विषय में धर्मार्थशास्त्रियों में बड़ा मतभेद रहा है। संस्कृत में वि शब्द विशिष्ट तथा विकृत भावों के लिये ही नहीं प्रयुक्त होता वरन् विष्णु के वाहन गरुड़ के लिये भी प्रयुक्त होता है। संभवतः गरुड़ और सर्पों का युद्ध[१] तथा गरुड़ द्वारा सर्पों का संहार इस भावना की पृष्ठ भूमि रहा है। यदि इस भावना को स्वीकार किया जाय तो यह मानना होगा कि जिस प्रकार गरुड़ अपने क्रम अथवा पंजे से सर्पों का ग्रहण करता था उसी भांति विजिगीषु द्वारा

१. The New Foundations of International Law. p. 42–43.
२. Ibid. p. 42.
३. Select inscriptions, p. 300 and ff.
Junagarh Rock Inscription of skandagupta.

शत्रु राजा को घेरना, पीड़ित करना एवं नष्ट करना, सभी कार्य विग्रह होंगे। यही नहीं, इस प्रकार के विग्रह के लिये विजिगीषु का शक्ति सम्पन्न होना भी अनिवार्य है। बृहस्पति का भी स्पष्ट आदेश है कि, जब विजिगीषु बल (अर्थात् सैन्य शक्ति) में शत्रु से अधिक हो तो क्षोभ रहित होकर शत्रु के साथ विग्रह (नीति) का अवलम्बन करे।[१] सामान्य प्रयोगों में विग्रह शब्द युद्ध के लिये प्रयुक्त होता है किन्तु कौटिल्य एवं शुक्र इसे भी राजनीतिक चाल मानते हैं। शक्ति को महत्व प्रदान करते हुए कौटिल्य का कथन है कि एक दूसरे के उपकार में लग जाना विग्रह है। शत्रु के शक्तिशाली होने पर इसका आश्रय लेना चाहिये।[२] कामन्दक का स्पष्ट कथन है कि, अमर्ष द्वारा वशीभूत होकर तथा क्रोध से संतप्त होकर परस्पर अपकार में लग जाना विग्रह है।[३] शुक्र विशेष रूप से पीड़ित शत्रु को अपनी ओर लाने की प्रक्रिया को विग्रह मानते हैं।[४] अमरकोश के अनुसार शत्रु मण्डल को अपने स्थान से पृथक् होकर ग्रसित करना विग्रह है।[५] आधुनिक कूटनीति की भाषा में भी युद्ध तथा उससे सम्बन्धित अन्य कार्यों की प्रयुक्त परिभाषाएं बार्हस्पत्य राज्य-व्यवस्था में प्रयुक्त विग्रह शब्द के सन्निकट प्रतीत होती है। उदाहरणार्थ—स्टेट आफ वार, ऐट वार तथा ऐक्ट आफ वार[६]।

विग्रह कूटनीति दांव पेंच के अतिरिक्त युद्ध की घोषणा के लिये भी प्रयुक्त होता रहा होगा। यह इस कारण भी आवश्यक है क्योंकि युद्ध अर्थात् वास्तविक युद्ध के प्रारंभ और आक्रमण तथा यान या अभियान के पूर्व एक वैधानिक

स्कन्दगुप्त ने अपना विरुद भी विक्रमादित्य ग्रहण किया और जूनागढ़ अभिलेख में स्पष्ट रूप से गरुड़ और सर्पों के संदर्भ में स्कन्दगुप्त और शत्रु राजाओं के युद्धों का वर्णन मिलता है।

नरपति-भुजगानां मानदर्पोत्फणानां प्रतिकृतिगरुडाज्ञां निर्विषीध चावकर्ता।

१. नीति पृ० ३२६। यदि स्यादधिकः शत्रोर्विजिगीषुर्निजैर्बलैः।

क्षोभेन रहितैः कार्यः शत्रुणा सह विग्रहः॥

२. अर्थ ७।१, पृ० २६३। अपकारो विग्रहः।

३. कामन्दकीय १०।१। ४. शुक्र ४।१०६८।

५. अमरकोश पृ० २९४, श्लोक २२।

विस्तारो विग्रहो व्यासः स च शब्दस्य विस्तरः।
स्यान्मर्दनं संवाहनं विनाशः स्याददर्शनम्॥

६. The Relativity of War and Peace Grob, p.7

रूप से युद्ध की घोषणा भी अनिवार्य होती थी। यही घोषणा अन्तर-राष्ट्रीय विधान में ऐट वार कहलाती थी।[१]

स्थानः—कूटनीतिक क्षेत्रों में शान्तिपूर्ण व्यवहार की नीति के लिये बृहस्पति ने स्थान शब्द का व्यवहार किया है।[२] कौटिल्य आदि अन्य अर्थशास्त्री इस स्थिति की द्योतना के लिये आसन शब्द का प्रयोग करते हैं।[३] कौटिल्य स्थान शब्द को उपेक्षण शब्द की ही भांति आसन का पर्यायवाची स्वीकार करते हैं।[४] बृहस्पति चुप्पी साधे बैठे रहने की क्रिया "आसन" या शत्रु की उपेक्षा करने की नीति के स्थान पर "स्थान" को महत्व प्रदान करते हैं।[५] कौटिल्य स्थान शब्द की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि किसी विषय में चुप्पी साधे बैठे रहना और अन्य क्षेत्रों में उपाय करना स्थान है।[६] तटस्थता की परिभाषा करते हुए ओपेन हाइम का कथन है कि, तटस्थता एक प्रकार से पूर्व सम्बन्धों की स्थिति को (—शान्तिपूर्ण) बनाये रखना है।[७] बार्हस्पत्य स्थान जिसके अन्तर्गत विजिगीषु शत्रु से शान्तिपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखता हुआ अन्य क्षेत्रों में प्रयत्न करके अपनी स्थिति दृढ़ करता और शत्रु की हीन स्थिति उत्पन्न करने के प्रयत्न करता था, निश्चित रूप से ओपेन हाइम की तटस्थता की नीति से भिन्न है। कौटिल्य अन्तर राज्य स्तर पर शान्त रहने के ढंग के भी कई प्रभेद स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार एक पक्ष में शान्त रहना अन्यत्र प्रयत्नशील रहना स्थान है। अपने राजकोय क्षेत्रों में शक्ति ग्रहण करने के अभिप्राय से शान्त रहना आसन और उपायों का प्रयोग न करना उपेक्षण है।[८] शान्ति पूर्ण नीति के इन तीन प्रकारों में बृहस्पति ने प्रथम को मान्यता प्रदान की थी।

---

१. Ibid, p. 16–17.

२. बृ० स्मृ० Additional Texts पृष्ठ ४९३।

३. अर्थ ७।१, पृ० २६३। उपेक्षणमासनम्। ४. वही ७।४, पृ० २६२।

५. वही Additional Texts पृ० ४९३।

६. अर्थ ७।१, पृ० २६४। ह्रस्वतरं वृद्धयदयतरं वा स्थास्यामि विपरीतं परः। इति ज्ञात्वा स्थानमुपेक्षेत।

७. Internatisnal Law, Vol.ll

'neutrality is in a sense the continuation of previously existing state.

८. अर्थ ७।४, पृ० २६२। स्थानमासनमुपेक्षणं चेत्यासनपर्यायाः। विशेषस्तु गुणैकदेशे स्थानं, स्ववृद्धिप्राप्त्यर्थं आसनमासनम्, उपायानामप्रयोगः उपेक्षणमिति।

कौटिल्य आत्म-वृद्धि एवं किसी प्रकार की कूटनीति के प्रयोग न करने को नीति को मान्यता प्रदान करते हैं। कौटिल्य इस शान्ति पूर्ण नीति की वैधता बताते हुए कहते हैं कि जब यह प्रतीत हो कि न तो शत्रु और न ही विजिगीषु परस्पर एक दूसरे को समाप्त करने में समर्थ है तो आसन ग्रहण करें।[१] यह स्थिति तो दो ही स्थितियों में संभव थी। प्रथम जब दोनों शक्ति में समान होते तथा द्वितीय जब, लगातार युद्धों के कारण दोनों की शक्ति क्षीण होती। इस प्रकार की किसी स्थिति का स्वीकार करने के विपरीत बृहस्पति बाह्य रूप से शत्रु के साथ शान्तिपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखते हुए अन्य क्षेत्रों में प्रयत्नशील होकर शत्रु को समाप्त करने के पक्षपाती हैं। शान्तिपूर्ण सम्बन्ध बनाये रखने का अर्थ होगा दौत्य सम्बन्ध पूर्ववत् रखते हुए शत्रु की कमियों का ज्ञान प्राप्त करके कूटनीतिक चालों द्वारा उसका पतन लाना होगा। इसमें सन्देह नहीं कि, यह स्थान सम्बन्ध विजिगीषु और शत्रु राज्य के बीच होता था। डा० राधा गोविन्द बसाक द्वारा अनूदित अर्थशास्त्र की आलोचना करते हुए डा० हीरा लाल चटर्जी ने अपने मतभेद प्रकट किया है। विषय के सम्यक् विवेचन के लिये उनका विचार कम महत्वपूर्ण नहीं। उनका कथन है कि डा० बसाक के मतानुसार आसन शब्द एक निश्चित स्थिति द्योतित करता है—एक स्थिति जिसमें विजिगीषु और उसका शत्रु समशक्ति होता है। किन्तु हमारा यह विचार है कि "आसन" शब्द किसी प्रकार की तटस्थता अथवा निरपेक्षता की द्योतना करता है, जैसा कि टीकाकर कुल्लूक भट्ट ने इंगित किया है।—फिर भी यह ध्यान में रखना चाहिये कि तटस्थता एक मनोवृत्ति है—निरपेक्षता की मनोवृत्ति। और जब दो राज्यों अथवा राज्यों के दो दलों में किसी क्षेत्र में युद्ध चल रहा हो, यह पूर्णरूपेण ठीक है कि दूसरे राज्य उसके बारे में अपनी मनोवृत्ति निश्चित करें।[२] डा० बसाक के मत की आलोचना करते समय, संभवतः डा० चटर्जी को

---

१. वही ७।१, पृ० २६३। न मां परो नाहं परमुपहन्तुं शक्तः इत्यासीत।

२, International law & Inter State Relations in Ancient India, p. 130

In the opinion of Dr. Basak the word 'āsana' merely indicates a certain position a position in which the Vijigīshu and his enemy are equally matches. We, however, feel that the term 'āsana' connotes some form of neutrality or impartiality, as has been pointed out by commentator Kullūkabhatta. The word 'nairapekshya' used by him refers to the attitude of impartiality adopted by a King toward any conflict, and that is neutrality.

इस तथ्य का विस्मरण हो गया कि, कौटिलीय मत के अनुसार भी यदि देखा जाय तो शान्तिपूर्ण नीति एवं तटस्थता की नीति में अन्तर प्रकट होगा। शान्तिपूर्ण सम्बन्ध विजिगीषु और शत्रु राज्य में भी संभव थे किन्तु एक शत्रु के विपरीत कोई भी राज्य तटस्थ नहीं हो सकता था। तटस्थता की नीति, जैसा डा० चटर्जी ने स्वयं स्वीकार किया है, दोनों युद्धशील दलों से पृथक् दूरी पर स्थित उदासीन राज्य की ही हो सकती थी।[1] बृहस्पति तथा अन्य अर्थशास्त्रियों ने मंडल सिद्धान्त को मान्यता प्रदान की है। इन तथ्यों को दृष्टिगत करते हुए यदि स्थान, आसन और उपेक्षण की कौटिलीय परिभाषाएं देखी जायें तो स्वतः स्पष्ट हो जायगा कि यह आसन तटस्थता नहीं वरन् परस्पर युद्ध कर सकने की क्षमता का अभाव था। यह मनोवृत्ति नहीं वरन् क्षमता का प्रश्न था।

निर्गम (–यान), संश्रय एवं द्वैधी भावः—बृहस्पति विग्रह की स्थिति के पश्चात् अपनी शक्ति के महत्व को तौलने के बाद युद्ध के लिये अभियान करने की मंत्रणा देते हैं। वे इस अभियान के लिये निर्गम[2] शब्द का व्यवहार करते हैं किन्तु परवर्ती अर्थशास्त्रियों ने यान[3] शब्द का ही सामान्य प्रयोग किया है। कौटिल्य का कथन है कि, जब विजिगीषु राजा समझ ले कि शत्रु के कार्यों का नाश उस पर आक्रमण करके ही हो सकता है और अपने राज्य की रक्षा का समुचित प्रबन्ध है तो यान गुण का आश्रय ले।[4] शुक्र भी यान गुण का महत्व स्वीकार करते हुए उसके विगृह्य, संधाय, संभूय, प्रसंग तथा उपेक्ष्य आदि विभेदों को मान्यता प्रदान करते हैं।[5]

शक्तिशाली शत्रु से अपनी रक्षा के निमित्त बृहस्पति संश्रय ग्रहण करने की आज्ञा देते हैं।[6] कौटिल्य ने भी इसका महत्व स्वीकार किया है।[7] शुक्र इसे आश्रय[8] कहते हैं। उनका मत है कि, जिससे रक्षित होने पर दुर्बल भी बलवान् हो जाता है, वह आश्रय है।[9] संश्रय का महत्व स्पष्ट करते हुए कौटिल्य का

---

१. Ibid, page 130.

२. बृ० स्मृ० Additional Texts पृ० ४९३।

३. अर्थ ७।१, पृ० २६३।

४. वही ७।१, पृ० २६३। गुणातिशययुक्तो यायात्।

५. शुक्र ४।१०८७–१०९२।

६. नीति पृ० ३७७। स्थायदा शक्तिहीनस्तु विजिगीषुर्हि वैरिणः।
संश्रयीत तदा चान्यं बलाय व्यसनच्युतात्॥

७. अर्थ ७।१, पृ० २६३। शक्तिहीनस्संश्रयेत्।

८. शुक्र ४।१०६९।

९. वही ४।१०६९। यैर्गुप्तो बलवान् भूयाद्दुर्बलोपि स आश्रयः।

कथन है कि जब विजिगीषु को प्रतीत हो कि वह शत्रु के कार्यों को हानि नहीं पहुँचा सकेगा और अपने कार्यों को रक्षा नहीं कर सकता तब आश्रय लेकर अपने कार्यों को क्षणिक क्षय पहुँचा कर स्थान तथा स्थान के पश्चात् वृद्धि की कामना करे।[१] उनका कथन है कि, शत्रु से अधिक वलशाली राजा का आश्रय ले।[२] यदि राजा स्वयं बलवान् न हो तो भूमि आदि कुछ देकर शक्तिशाली शत्रु को ही संतुष्ट कर ले।[३] विशेष बलवान् राजा के साथ कौटिल्य संश्रय मैत्री के पक्षपाती नहीं। उसे वह अनिष्टकर मानते हैं, किन्तु यदि बलवान् शत्रु का अन्य शत्रु से युद्ध हो रहा हो तो उन्हें बलवान् के संश्रय में कोई हानि नहीं प्रतीत होती।[४]

षाड्गुण्य के अन्तिम अंग द्वैधीभाव का उल्लेख उपलब्ध बार्हस्पत्य अंशों में नहीं मिलता। कौटिल्य एवं शुक्र ने इसके महत्व को स्वीकार किया है। कौटिल्य उस परिस्थिति में द्वैधीभाव को मान्यता प्रदान करते हैं जब शासक को यह प्रतीत हो कि एक शत्रु से युद्ध करने के निमित्त अन्य से संधि करके शत्रु के कार्यों को नष्ट कर सकूँगा। यदि ऐसा प्रतीत हो तो द्वैधी भाव से अपनी वृद्धि करे।[५] शुक्र के मतानुसार द्वैधीभाव का अर्थ है शत्रु तथा मित्र सीमा पर समान रूप से अपनी सेना नियुक्त करना।[६]

अविश्वास की नीतिः—पंचतंत्र नीति के तीन स्वरूपों को मान्यता प्रदान करता है—विष्णुगुप्त (–कौटिल्य) की सुकृत्य की नीति, उशनस् की मित्र प्राप्ति की नीति एवं बृहस्पति की अविश्वास की नीति।[७] भोजदेव उशनस् एवं बृहस्पति की नीतियों के सामंजस्य को उत्तम मानते हैं।[८] कामन्दक भी बार्हस्पत्य शास्त्र

---

१. अर्थ ७।१, पृ० २६४। २. वही ७।२, पृ० २६७।

३. वही ७।१, पृ० २६७। ४. वही ७।२, पृ० २६७।

५. वही ७।१ पृ० २६३, ७।२ पृ० २६७। सहायसाध्यकार्यद्वैधीभावं गच्छेत्—यदि वा मन्येत—"संधिमेकतः स्वकर्माणि प्रवर्तयिष्यामि" इति द्वैधीभावेन वृद्धिमातिष्ठेत्॥

६. शुक्र ४।१०७०। द्वैधोभावः स्वसैन्यानां गुल्मगुल्मतः

७. पंचतंत्र, २।४१।

सुकृत्यं विष्णुगुप्तस्य मित्राप्तिर्भार्गवस्य च।
बृहस्पतेरविश्वासो नीतिसंधिस्त्रिधास्थितः॥

८. युक्ति कल्पतरु, पृ० २।

नीतिर्बृहस्पतिप्रोक्ता तथैवौशनसी परा।
उभयोरविरुद्ध्या निरूप्या नीतिरुत्तमा॥

का निश्चय अविश्वास की नीति स्वीकार करते हैं।[1] वास्तव में बार्हस्पत्य अविश्वास की नीति के कई पक्ष थे। एक पक्ष के अन्तर्गत किसी व्यक्ति पर विश्वास न करने की नीति की गणना होती थी। दूसरे के अन्तर्गत भाव था कि प्रकट ऐसा किया जाय कि व्यक्ति का विश्वास किया जा रहा है परन्तु वास्तव में विश्वास न करे।[2] अविश्वासी नीति का अन्तिम एवं सर्वाधिक महत्वपूर्ण छलपूर्ण नीति का पक्ष था। अन्तिम प्रकार की नीति के सफल प्रयोग का वर्णन मत्स्य-पुराण में मिलता है। ऐतिहासिक देवासुर संग्राम में स्वयं बृहस्पति ने इस नीति का प्रयोग किया था। घटना का वर्णन इस प्रकार है कि, एक बार जब देवों से वर पाने की अभिलाषा से दानवगुरु काव्य तपस्या करने के लिये अन्तर्ध्यान होकर चले गये तो ऐसे समय में अवसर से लाभ उठाकर बृहस्पति ने उनका रूप ग्रहण कर लिया और दीर्घ काल तक (शुक्र के रूप म) दानवों की नीति का निर्धारण करते रहे। तपस्या की समाप्ति पर लौटने पर काव्य ने दानवों को बताया कि बृहस्पति काव्य के रूप में दानवों की नीति का संचालन कर रहे हैं जबकि वास्तविक काव्य वे स्वयं हैं। बृहस्पति ने भी उसी प्रकार का प्रत्युत्तर किया। क्रुद्ध होकर दानवों ने काव्य को वहाँ से चले जाने को कहा और साथ ही साथ यह भी कहा कि, चाहे वह अंगिरा हो या शुक्र, वही उनका गुरु है जो उनकी नीति निर्दिष्ट करता रहा है। शुक्र ने क्रुद्ध होकर उन्हें शाप दे दिया। असुर शक्ति के विनष्ट होने का शाप सुनकर बृहस्पति ने अपना वास्तविक रूप ग्रहण कर लिया।[3] ऐतिहासिक युग में मागधसम्राट् अजातशत्रु ने भी सुनीध वर्षकार की योजना के अनुसार कृत्रिम रूप से उसे मगध से निकाल दिया था। वर्षकार ने अपनी योजना के अनुसार वज्जिगण को अपनी भेद की नीति द्वारा अजातशत्रु के सम्मुख शक्तिहीन बना दिया था। छल करके वर्षकार ने लिच्छवि राजधानी वैशाली में शरण ग्रहण करके अजातशत्रु को वहाँ की वास्तविक शक्ति का भेद दे दिया और लिच्छवियों में आपस में मतभेद इतना कटु करा दिया कि अजातशत्रु के आक्रमण को रोकने के विषय में वे एक मत नहीं हो पाये।[4] इस प्रकार के कार्यों को बृहस्पति सामान्य बुद्धि लोगों की सामर्थ्य के बाहर मानते हैं क्योंकि सामान्य असावधानी समस्त स्थिति को विपरीत दिशा प्रदान कर सकती थी।

---

१. कामन्दकीय ५।८७। बृहस्पतेरविश्वासा इति शास्त्रार्थनिश्चयः।

२. शान्ति ५७।१६। न विश्वसेच्च नृपतिन चात्यर्थं न विश्वसेत्।
बृ० सू० १।८४। न विश्वसेच्च।

३. मत्स्यपुराण २।४७, १७९, १८२–८५, १९३, १९५–९७, १९९–२००, २०२–४।

४. Age of Imperial Unity. pp 24–25.

उपाय:—षाड्गुण्य की ही भाँति नीति के विनिश्चय एवं उपायों का महत्व-पूर्ण स्थान होता था। यही नहीं, यदि हम कहें कि राष्ट्रीय तथा अन्तर-राष्ट्रीय क्षेत्रों में प्रयोज्य नीति की सफलता और असफलता नीति विनिश्चय के सहाय-गुणों से कहीं अधिक नीतिमार्गों उपायों पर निर्भर करती थी। बृहस्पति उपायों के प्रयोग का माहात्म्य राष्ट्रीय एवं अन्तर राष्ट्रीय दोनों क्षेत्रों में स्वीकार करते हैं। उपायों के प्रयोग की आवश्यकता विपन्नता की स्थिति में पड़ती थी। आन्तरिक आपदाओं को बृहस्पति अधिक भयंकर मानते हैं।[1] क्योंकि, दुष्ट व्यक्ति विद्यायुक्त होने पर भी गृहस्थित सर्प की भाँति (गृहाहि) होता था।[2] कौटिल्य ने न केवल उनके मत का समर्थन किया है वरन् उसकी व्याख्या करते हुए उनका कथन है कि गृहस्थित सर्प (बाह्य सर्प से) अधिक भयंकर होता है, इसी प्रकार अन्त: कोप बाह्य कोप से अधिक भयंकर होता है।[3] उपायों के प्रयोग के अवसरों की मीमांसा करते हुए वे बाह्योत्पत्ति-अभ्यन्तर प्रतिजाप, अभ्यन्तरोत्पत्ति बाह्य-प्रतिजाप तथा बाह्योत्पत्ति एवं बाह्य प्रतिजाप और अभ्यन्तरोत्पत्ति–अभ्यन्तर प्रतिजाप आदि चार प्रकार मानते हैं।[4]

बृहस्पति उपायों के दो स्तर मानते हैं: सामान्य एवं विशेष। सामान्य प्रयोग में वे प्रथम चार उपायों की ही गणना करते हैं,[5] जिनके साम, दान, भेद (एवं दण्ड) प्रभेद थे।[6] कौटिल्य ने भी इन्हें मान्यता प्रदान की है।[7] विशेष स्तर के पुन: तीन प्रकार बृहस्पति ने माने हैं।[8] मायोपेक्षा एवं वध।[9] कौटिल्य ने उपायों का प्रयोग अभ्यन्तर एवं बाह्य आपदाओं के निमित्त पृथक् माना है,[10] किन्तु बार्हस्पत्य प्रयोगों में इस प्रकार के वर्णन उपलब्ध नहीं होते।

साम:—साम शब्द की परिभाषा करते हुए कौटिल्य स्थान (अर्थात् महत्व-पूर्ण पद प्रदान करने) तथा मान (अर्थात् विशेष समादर) को महत्व प्रदान

---

१. बृ० सू० ५।१०–१२। २. वही ५।१८।
३. अर्थ ९।५, पृ० ३५३। ४. वही ९।५, पृ० ३५२।

कौटिलीय मत के अनुसार आपदाएं बाह्य एवं आभ्यन्तरिक होंगी। प्रथम के दो प्रकार होंगे। बाह्य आपदाओं को बुलाने वाले आभ्यन्तरिक एवं आभ्यन्तरिक को बुलाने वाले बाह्य, तथा दूसरे प्रकार के अन्तर्गत बाह्य को जन्म देने वाले बाह्य होंगे एवं आभ्यन्तरिक को जन्म देने वाले आभ्यन्तरिक होंगे। यही भावार्थ होगा उत्पत्ति एवं प्रतिजाप शब्दों के कौटिलीय प्रयोग का।

५. बृ० सू० ५।१। ६. वही ५।४–७।
७. अर्थ ९।५, पृ० ३५२–५३। ८. बृ० सू० ५।२।
९. वही ५।३। १०. अर्थ ९।५, पृ० ३५२–५३।

करते हैं।[1] साम के गुण वैशिष्ट्य में आस्था रखते हुए बृहस्पति सर्व प्रथम साम के प्रयोग की मंत्रणा देते हैं।[2] वे शूर लोगों के साथ,[3] शंकितों के साथ,[4] तथा लोभी[5] एवं कष्टदायक लोगों के साथ[6] मूल रूप से साम के प्रयोग के ही समर्थक हैं। आन्तरिक नीति में साम के समर्थक के रूप मे वे प्रीतिपूर्ण वाणी[7] बोलने तथा लोकाचार के विरुद्ध कार्य न करने की मंत्रणा देते है।[8] आन्तरिक नीति के क्षेत्र में उचित उपाय के समर्थक के रूप में कौटिल्य देखने में प्रसन्न किन्तु असन्तुष्ट तथा विरोधी को सामद्वारा सन्तुष्ट करने की मंत्रणा देते हैं।[9]

दान—दान की व्याख्या करते हुए कौटिल्य का कथन है कि अनुग्रह (करना) एवं अपने कार्य में लगाना दान है।[10] आभ्यन्तरिक प्रतिजापों के साथ वे साम एवं दान नीति का समर्थन करते हैं।[11] बृहस्पति द्वारा वर्णित लुब्ध लोग सम्भवत: आभ्यन्तरिक रहे होंगे जिनके साथ वे साम एवं दान दोनों के ही प्रयोग का औचित्य स्वीकार करते हैं।[12] कष्टदायक सम्भवतः बाह्य शत्रु रहते रहे होंगे, जिनके साथ वे साम, भेद, दान आदि सभी के प्रयोग को मान्यता प्रदान करते हैं।[13]

भेदः—भेद के निमित्त कौटिल्य सत्रि का प्रयोग विशेष महत्वपूर्ण मानते हैं।[14] बार्हस्पत्य अंशों में इस प्रकार के वर्णन उपलब्ध नहीं होते। बृहस्पति शंकितों,[15] लोभियों,[16] तथा कष्टदायक[17] शत्रुओं के साथ भेद नीति के प्रयोग के समर्थक हैं। प्रतिजापित एवं उपजापित शत्रुओं के साथ कौटिल्य भी भेद नीति के प्रयोग का समर्थन करते हैं।[18]

दण्डः—यद्यपि बृहस्पति उपायों के परम्परागत चार प्रभेद स्वीकार करते थे किन्तु दण्ड नीति के प्रयोग के समर्थक नहीं थे। सम्भवतः यही कारण है कि बार्हस्पत्य अंशों में दण्ड के वर्णन नहीं मिलते। कौटिल्य ने बाह्य प्रतिजापित एवं उपजापित शत्रुओं के लिये दण्ड का समर्थन किया था।[19]

---

१. वही ९।५, पृ० ३५२। २. बृ० सू० ५।८।
३. वही ५।४। ४. वही ५।५। ५. वही ५।६। ६. वही ५।७।
७. वही ५।९। ८. वही ५।१६। ९. अर्थ ९।५, पृ० ३५३।
१०. वही ९।५, पृ० ३५२। ११. वही ९।५, पृ० ३५३।
१२. बृ० सू० ५।६। १३. वही ५।७। १४. अर्थ ९।५, पृ० ३५२।
१५. बृ० सू० ५।५। १६. वही ५।६। १७. वही ५।७।
१८. अर्थ ९।५, पृ० ३५२–५३। १९. वही ९।५, पृ० ३५२-५३।

माया--उपेक्षा एवं वधः[१]—यद्यपि बृहस्पति इन तीनों ही उपायों के प्रयोग को मान्यता प्रदान करते हैं तथा प्रारम्भिक उपायों के प्रयोग में असफलता के पश्चात् कष्टदायक शत्रु के लिये इन तीनों का प्रयोग उचित मानते हैं। विस्तृत विवरण के अभाव में इन तीनों के प्रयोग चातुर्य्य एवं विशेषता का वर्णन सम्भव नहीं है।

शरण:—अन्तर-राष्ट्रीय विधान का अन्य महत्वपूर्ण अंग शरण देने का सिद्धान्त एवं अधिकार है। प्राचीन भारत में शरणागत को शरण देना प्रत्येक राज्य का कर्तव्य एवं अधिकार माना जाता था। देश से निर्वासन, राजा के कुपित होने, अत्याचारी होने के कारण और अन्य राजनीतिक कारणों से एक व्यक्ति अपने राज्य को छोड़कर दूसरे राज्य में शरण लेता था। बृहस्पति राजा को शरणागतों की रक्षा, उनके निवास के प्रबंध आदि के लिये विशेष निर्देश देते हैं। उनका कथन है कि, अन्य राष्ट्रों में उत्पन्न द्विजों, क्षत्रिय कुमारों तथा सामन्तों के साथ समान (का सा) व्यवहार करे।[२] उनका स्पष्ट आदेश है कि शरणागत चाहे सर्वपातकी हो उसकी रक्षा की जाये।[3] बार्हस्पत्य शरण देने के सिद्धान्त का यह अर्थ नहीं कि, शत्रु पक्ष के शरणार्थी के विषय में पूरी सूचनाएं प्राप्त किये विना ही उसे शरण प्रदान कर दीं जाय। उनका कथन है कि, उसका विश्वास न किया जाय।[४] गुणों और मनोभावों की परीक्षा[५] लेने के बाद उसे शरण प्रदान की जाय। बृहस्पति की ही भाँति मार्कण्डेय पुराण का लेखक कहता है कि उस व्यक्ति का जीवन निरर्थक है जो पीड़ित शरणागत की सहायता नहीं करता; शरणागत चाहे शत्रु पक्ष का ही व्यक्ति क्यों न हो।[६] इस प्रकार अपने मित्र, मध्यम एवं उदासीन ही नहीं वरन् शत्रु राज्य से आये हुए व्यक्ति को शरण देना प्राचीन भारतीय अन्तर-राष्ट्रीय विधान का महत्वपूर्ण अंग

---

१. बृ० सू० ५।३।

२. वही ३।५०। अन्यराष्ट्राजान् क्षत्रबन्धून् कुमारसामन्तादीनात्मवत् सम्भावयेत्। भोजनाच्छादनादिभिः।

३. वही ३।५१। शरणागतं सर्वपातकयुक्तमपि रक्षेत्।

४. वही ५।१९। शत्रुपक्षादागतं न विश्वसेत्।

५. वही ५।२०–२१। गुणतः संगृह्णीयात्। भावैः परीक्षयेत्।

६. International Law & Inter State Relations in Ancient India page 42 (Mārkaṇḍeya Purāṇa (trans. Pargiter p. 663) "Fie on the life of a man that shows no favour to one in pain who has come seeking for protection even though certainly be" longing to an enemy's party.

था। बृहस्पति इसे नैतिक कर्तव्य के रूप में ही स्वीकार कराने को नहीं तैयार हैं। अतः वे शरण देने का सिद्धान्त मानते हुए शरणार्थी के विषय में पूर्ण सूचनाएं एवं उसकी नवीन राजभक्ति की जानकारी आवश्यक मानते हैं। यूरोपीय राजनीति में शरण देने का अधिकार सर्व्वोच्च सत्ता की भावना के साथ चलता है। बहुत से राष्ट्र अपने राष्ट्रवासियों की रक्षा अथवा उन्हें शरण देने के अपने अधिकार का दावा करते हैं। हेग कन्वेंशन के पांचवें अध्याय की ११वीं, १२वीं, १३वीं तथा १४वीं धाराओं के द्वारा युद्धशील राज्यों की स्थल सेनाओं को शरण देने का अधिकार निर्धारित होता है।[१]

अन्तर-राष्ट्रीय स्तर पर नीति निर्धारण एवं अपने राज्य के लिये सफलता पूर्वक उसका प्रयोग शास्त्र, अध्ययन, अनुभव एवं अध्यवसाय की वस्तु था और अब भी है तथा संभवतः विश्व-राज्य-कल्पना के साकार होने तक सदैव रहेगा। यही कारण है कि, बृहस्पति का स्पष्ट कथन है कि षाड्गुण्य के गुण दोषों की सदैव बुद्धि द्वारा परीक्षा करके उनका प्रयोग किया जाय।[२] बृहस्पति नीति विषयक यह ज्ञान राजा के लिये ही नहीं वरन् मंत्रियों के लिये भी परमावश्यक मानते हैं।[३] मंत्री नीति के विनिश्चय में राजा का प्रमुख सहायक होता था। उसके लिये मनु, उशनस् आदि के शास्त्रों का ज्ञाता होना, दण्डनीति आदि के प्रयोग में कुशल होना, क्या कार्य करने योग्य है और क्या अकार्य है इसके विनिश्चय करने की क्षमता वाला होना आवश्यक था।[४] विदेश नीति के सामरिक पक्ष के कार्यान्वीकरण का समस्त भार सेनापति पर होता था। अतः बृहस्पति का दृढ़ मत है कि वह शत्रु देश की भौगोलिक अवस्था का ज्ञाता हो। मृदु-स्वभाव का व्यक्ति हो और अर्थशास्त्र के प्रयोगों की योग्यता वाला व्यक्ति हो। अपनी तथा शत्रु सेना की स्थिति का ज्ञाता हो। निर्गम अथवा आक्रमण के प्रकार के विनिश्चय की क्षमता वाला व्यक्ति हो।[५]

विदेश नीति के विनिश्चय की संवैधानिक प्रक्रिया :—विदेश नीति का महत्व स्वीकार करते हुए बृहस्पति ने नीति के विनिश्चय की संवैधानिक प्रक्रिया का वर्णन किया था। उपलब्ध बार्हस्पत्य अंशों से ज्ञात होता है कि, सम्मेलन में पहले राजा को कार्य निवेदन करना पड़ता था।[६] उसके (भाषण के)

---

१. Satows' Guide to Diplomatic Practice p. 222.

२. शान्ति० ५७।१६। ३. बृ० सू० ४।३२,४३।

४. बृ० स्मृ० Additional Texts पृ० ४९४।

५. वही० Additional Texts पृ० ४९३।

६. बृ० सू० ४।३७। स्वामिना कार्य निवेदनम्।

अनन्तर मंत्रिगण यथा गुरुत्व मन, वचन एवं कर्म द्वारा अंजलिबद्ध प्रणाम करके राजा की वन्दना करते थे। तत्पश्चात् आलोच्य विषय पर अपना-अपना मत प्रकट करते थे। पहले राजपक्ष के गुणों फिर दोषों का वर्णन करते थे। उसके पश्चात् माध्यम एवं शत्रु के दोषों का वर्णन आवश्यक था। पुन: प्रयोजनीय उपायों का निरूपण करके स्वामी को प्रसन्न करके कार्य करते थे।[1] इस प्रकार बार्हस्पत्य राज्य-व्यवस्था के अन्तर्गत विदेश नीति की पूर्ण मीमांसा के पश्चात् ही उसे कार्यान्वित करने का प्रश्न उठता था। नीति का विनिश्चय राजा का व्यक्तिगत अधिकार नहीं था। विदेश विभाग और दौत्य सम्बन्धों पर ही अन्तर-राज्य जगत् में अपने राज्य की प्रतिष्ठा निर्भर करती थी।

विदेश विभाग अथवा परराष्ट्र मंत्रालय:—कार्य विभाजन की योजना और विभागीय महत्व के कारण विश्व की आधुनिक सरकारों की भाँति बृहस्पति ने भी विदेश विभाग को मंत्री[2] नामक मंत्री के अन्तर्गत सम्भवत: रखा होगा। राजतंत्र के विकास के साम्राज्यवादी पक्ष के प्रबल होने के पूर्व प्रधान मंत्री अथवा मंत्री का ही विशेष महत्व होता था जो राजा का प्रधान सलाहकार, सहायक एवं गृह तथा विदेश नीति का नियंता होता था। किन्तु डा० काशी प्रसाद जायसवाल का मत है कि गुप्त अभिलेखों, बृहस्पति स्मृति और बाद में उसे संधि विग्रहिक कहा जाता था। जबकि मानव (धर्मशास्त्र) कूटनीतिज्ञ मंत्री को 'दूत' संज्ञा प्रदान करता है जिसकी कार्यसीमा के अन्तर्गत विदेशी शक्तियों से संधि एवं विग्रह करने के अधिकार थे और जो संधियों को भंग करता था।[3] संकलित बृहस्पति स्मृति में डा० जायसवाल के मत के समर्थन में कहीं भी वर्णन नहीं उपलब्ध होते। कहना कठिन है कि, किस प्रमाण के बल पर उन्होंने अपना मत प्रकट किया था। संकलित स्मृति ग्रन्थ में मंत्री और दूत की योग्यताओं के वर्णन उपलब्ध होते हैं। मंत्री की योग्यताओं का वर्णन करते हुए बृहस्पति का कथन है कि, कार्याकार्य के विनिश्चय

---

१. बृ० सू० ४।३७-४३।

२. वही Additional Text पृ० ४९४।

३. Hindu Polity page 285.

But subsequently he is called Sāndhivigrahika, in inscriptions of the Gupta Period, in Brihaspati's Law and later...The Mānava styles the minister of Diplomacy as Dūta, who had jurisdiction with regard to peace and war with foreigna powers and who broke up alliances.

की क्षमता, दण्डनीति तथा मनु, बृहस्पति एवं उशनस् (? संभवतः धर्मशास्त्रों) शास्त्रों का ज्ञान, गूढ़ मंत्र (अर्थात् राजनीति के दांव-पेचों का ज्ञान, जिसमें संधि, भेद, संधान आदि सभी चालें सम्मिलित रही होंगी) का ज्ञान मंत्री[1] के लिये आवश्यक था। बृहस्पति उसके लिये उत्तम वंश, चारित्रिक दृढ़ता, निर्भीकता, विनय-सम्पन्नता और उपधाशुद्धि अनिवार्य मानते हैं।[2] मनु इस विभाग का महत्व स्वीकार करते हुए दूत[3] को विभागीय अध्यक्ष मानते हैं जबकि शुक्रनीति के लेखक ने बार्हस्पत्य परम्परा के अनुगमन को ही उचित माना है। उसके अनुसार मंत्री का कार्य था वह विचार करे कि कब और कैसे तथा किसके साथ साम, दान, दण्ड तथा भेद नीति का अनुकरण किया जाय और प्रत्येक के उत्तम, मध्यम तथा सामान्य परिणाम (क्या होंगे) तथा नीति के विनिश्चय के पश्चात् राजा को उसकी सूचना देना।[4] संभवतः यह मंत्री अपने शास्त्रीय ज्ञान द्वारा नीति के निर्धारण के समय सिद्धान्त तथा व्यवहार दोनों ही पक्षों में विशेषज्ञ के रूप में संतुलन स्थापित करता रहा होगा। युद्ध समितियों में भी नीति के प्रमुख वक्ता के रूप में स्थान ग्रहण करता रहा होगा।

आधुनिक सरकारों का जितना भी पत्र व्यवहार या विदेशों से सम्बन्ध होता है उस पर विदेश मंत्री या उसकी ओर से हस्ताक्षर होते हैं। उनके आदेशों पर विदेश नीति सम्बन्धी प्रपत्र, संधिपत्र, सम्मेलन, वास्तविकता और विधि के सम्बन्धी प्रपत्र, मेनिफेस्टो एवं घोषणाएं प्रसारित की जाती हैं। संधियों का स्वीकरण वह या उसके प्रतिनिधि करते हैं।—दौत्य, सेना के कर्मचारियों को वही आदेश देता है। शासक (–प्रेसिडेंट) के दर्शन की आज्ञा प्राप्त करने के लिये

---

१. बृ० स्मृ० Additional Tests ४९३।४।

मनुबृहस्पत्युशनश्शास्त्रवित् दण्डनीत्यादिकुशलो कार्याकार्यविनिश्चतमतिः गूढ़मंत्रो मंत्री स्यात्।

२. वही, पृ० ४९३।४।

उभयतः उत्तमवंशप्रभवः शुद्धो—अशठोऽजिह्मः सम्मानासम्मानविकृतः विगतभीः—अहार्यः सर्वोपधाशुद्धो—मंत्री स्यात्।

३. मनु ७।६५–६६। दूते संधिविपर्ययौ
दूत एव हि संधत्ते भिनत्त्येव च संहतान्।

४. शुक्र २।८४–९४। मंत्री तु नीतिकुशलः।
सामदानं च भेदश्च दण्डः केषु कदा कथम्।
कर्तव्यः किं फलं तेभ्यो बहु मध्यं तथाल्पकम्॥

विदेशी प्रतिनिधि उसी को सम्बोधित करते हैं।[१] आधुनिक विदेश मंत्री और प्राचीन मंत्री के कार्यों में बहुत कुछ साम्य है। आधुनिक युग की ही भाँति संधि-पत्र पर हस्ताक्षर एवं युद्ध की घोषणा सम्राट् की ओर से वही करता था।

बार्हस्पत्य राज्य-व्यवस्था के अन्तर्गत अन्तर-राज्य राजनीति में दूत का महत्वपूर्ण स्थान था, क्योंकि, वही स्वराज्य एवं परराज्य के सम्बन्धों को व्यावहारिक रूप प्रदान करता और विदेशों में अपने राज्य की और से संधि तथा विच्छेद अथवा विग्रह की स्थिति की औपचारिक रूप से घोषणा करता था। बृहस्पति उसके पद के लिये युद्धनीति तथा कूटनीति का समान रूप से ज्ञान आवश्यक मानते हैं। उनका मत है कि, दूत सुन्दर, बुद्धिमान् , वक्ता, पटु अर्थात् व्यवहार कुशल, स्मृतियों का ज्ञाता, नीति की गति का ज्ञाता, युद्ध सम्बन्धी देश, काल, संधि, भेद, संधान आदि का ज्ञाता तथा अनुरक्त होना चाहिए।[२] इसी प्रकार दूत के कार्यों का विवेचन मनु ने किया है। मनु के कथन दूते संधिविपर्ययौ[3] की व्याख्या करते हुए कुल्लूक भट्ट का कथन है कि, क्योंकि दूत भिन्न लोगों में संधि सम्पादित करने और संगठितों को अलग करने की क्षमता रखता हैं, अतः परदेश में वह ऐसे कार्य करता है जिससे संगठितों में भेद हो जाता है अथवा नहीं होता। इस कारण दूते संधिविपर्ययौ कहा गया है।[४] दूत के कार्यों का उल्लेख करते कौटिल्य का कथन है कि अपने संदेश का वहन, संधि की स्थापना, अपने स्वामी के प्रताप का प्रदर्शन, मित्र बनाना, षड्यंत्रों की योजना, मित्रों में भेद उत्पन्न करना, शत्रु के चारों ओर सैनिकों का प्रवेश कराना, मित्रों और रत्नों का हरण आदि[५]। बृहस्पति तथा अन्य अर्थशास्त्रियों के वर्णनों से यही ध्वनि निकलती है कि, परराष्ट्र में रहते हुए भी अपने राज्य के हित की कामना और तन्निमित्तिक कार्यों का सम्पादन, उसका प्रधान लक्ष्य होता था, जिसके लिये वह शत्रु तथा

---

१. Satow's Guide to Diplomatice Practice p. 18.

२. बृ० स्मृ० Additional Texts. पृ० ४९३।

संधिभेद–संधान–स्थानज्ञोऽनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान् देशकालज्ञो दर्शनीयो नीतिगतिज्ञः प्राज्ञो वाग्मी दूतः स्यात्।

३. मनु ७।६४–६५।

४. वही, ७।६६।

यस्माद् दूत एव भिन्नानां संधिसम्पादने क्षमः संहतानां च भेदने तथा परदेशे दूतस्तत् कर्म करोति येन संहता भिद्यन्तै न वा भिद्यन्ते तस्माद्दूते संधिविपर्ययौ।

५. अर्थ, १।१६। पृ० ३२।

शत्रु के मित्र राज्यों में भेद की नीति द्वारा फूट डालने के प्रयत्न करता एवं शत्रु की आन्तरिक सुरक्षा तथा व्यवस्था को भंग करने के मार्ग का अनुसरण करता था। अपने मित्र राष्ट्रों को भी अधिक शक्तिशाली न होने देना और शत्रु तथा मित्र के कार्यों का निरीक्षण, तत्सम्बन्धी सूचनाओं का स्वराज्य में प्रेषण उसके मुख्य कर्तव्य थे। यही नहीं, अपने सौम्य व्यवहार, कुशल वक्तृता द्वारा बिना कटु हुए अपने राज्य की नीति का प्रातिनिध्य उसका आदर्श होता था। ओपेन हाइम ने भी अपने अन्तर-राष्ट्रीय विधान में इसी प्रकार की योग्यताओं को मान्यता प्रदान की है। उनके अनुसार सभी आधुनिक राज्य अपने कूटनीतिक प्रतिनिधि की नियुक्ति में विशेष ध्यान रखते हैं कि, वह अपना देशवासी हो, वक्ता हो, अपने भाषणों द्वारा लोगों के हृदयों पर अपने विचारों के अनुकूल भावना जागृत करने में समर्थ, सामाजिकता के गुणों, अच्छे स्वभाव और चित्ता-कर्षक विशेषताओं वाला, कूटनीतिज्ञ, अकटुभाषी, सूक्ष्मवक्ता, अनेक भाषाओं का ज्ञाता और अपने देश के हितों का भली भाँति प्रातिनिध्य करने में समक्ष हो।[१]

इस प्रकार अन्तर-राज्य सम्बन्धों के निर्धारण पर राज्य की प्रतिष्ठा और उसका महत्व निर्भर करता था।

१. Inter National Law, Vol. 1, pp 697–98.
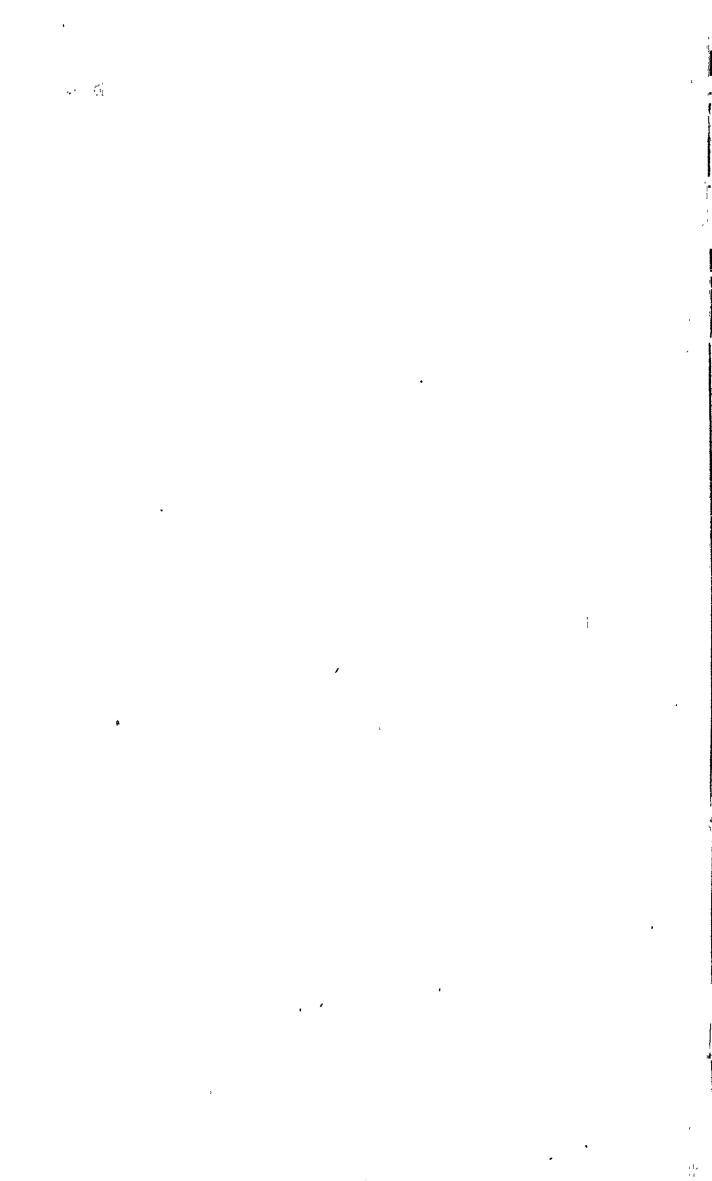
उपसंहार

विगत पृष्ठों में बार्हस्पत्य राज्य-व्यवस्था के सैद्धान्तिक निरूपण, सिद्धान्तों के व्यवहार पक्ष और भावी चिन्तन परम्परा के लिये बृहस्पति के योगदान सम्बन्धी प्रश्नों के अध्ययन के प्रयत्न किये गये हैं। यज्ञीय विधान की पूर्णाहुति की भाँति, विषय की समाप्ति के पूर्व बार्हस्पत्य चिन्तन की विशेषताओं पर विहंगम दृष्टि अनुचित और अनावश्यक न होगी।

प्राचीन भारत में व्यक्ति के समस्त जीवन को संचालित करने वाले चार धर्मतत्वों (वर्ग-चतुष्टय) का विशेष महत्व था। समस्त ज्ञान की परिधि एवं सीमा भी ये ही धर्मार्थकाममोक्ष माने जाते थे। इनका आदर्श था—बिना दूसरे वर्ग के अधिकार क्षेत्र में प्रवेश किये अपने वर्ग का उपभोग। समय की गति के साथ-साथ यह आदश विस्मृत हो गया एवं अनजाने में ही धर्म ने शेष सभी वर्गों पर विजय प्राप्त कर ली थी। राजनीति में भी धर्म प्रवेश कर गया जिसके फल-स्वरूप एक प्रतिक्रियावादी दृष्टिकोण महत्वपूर्ण हो गया। इसके नेता बृहस्पति थे। जैसा अन्यत्र भी कहा गया है बृहस्पति ने राजनीति को धर्म-पाश से मुक्त करने के प्रयत्न किये और शासन की सफलता के लिये वार्ता (कृषि, वणिक्, कुसीद, तथा पशुपालन) तथा दण्डनीति को महत्व प्रदान किया। उनके पथ को अपनाते हुए शुक्र ने दण्डनीति को ही एक-मात्र विद्या घोषित किया। इनका संदर्भ राजनीति और शासन था, जन साधारण का जीवन नहीं, जिसमें बृहस्पति ने भी चातुर्वर्ण्य का महत्व स्वीकार किया था। ऐसा प्रतीत होता है कि, उत्तर वैदिक कालीन कर्मकाण्ड पद्धति ने राजनीति को भी विशेष रूप से प्रभावित किया था और राजकीय नीतिविनिश्चय और शासन के कार्यों में पुरोहित वर्ग का हस्तक्षेप हुआ करता था, जिसे समाप्त करके बृहस्पति ने भगीरथ प्रयत्न द्वारा, राजनीति को अर्थ वर्ग के अन्तर्गत पृथक् स्थान प्रदान किया और उसे ज्ञान अथवा विद्या की स्वतंत्र शाखा के रूप में विकसित किया था। इसी कारण उनकी नीति अदेवमातृका कहलायी।

धर्म और राजनीति के पृथक्करण कार्य के साथ-साथ बृहस्पति को राजनीति विषयक प्रथम शास्त्रीय ग्रन्थ प्रदान करने का भी श्रेय है। अर्थशास्त्रीय परम्परा के जनक के रूप में ग्रीक राजनीतिशास्त्र के जन्मदाता अरस्तू से उनका सादृश्य स्थापित हो सकता है। बार्हस्पत्य चिन्तन की यह विशेषता है कि अपने विषय का प्रथम प्रयत्न होने के बाद भी उसकी वैज्ञानिक चिन्तन परम्परा में कहीं

भी शिथिलता प्रकट नहीं होती। ऐसा प्रतीत होता है कि अपने प्रौढ़ चिन्तन के लिये बृहस्पति ने सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय का गंभीर अनुशीलन किया था। संवैधानिक विकास परम्पराओं तथा ऐतिह्य ज्ञान द्वारा परिशुद्ध उनका चिन्तन सर्वांगीण रहा। उन्होंने अपने मत के समर्थन में प्रत्यक्ष एवं परोक्ष दोनों ही रूपों में भारतीय इतिहास के विभिन्न पक्षों को संदर्भ के लिये प्रस्तुत किया है।

राज्य के जन्म सम्बन्धी सिद्धान्त के निरूपण के लिये बृहस्पति ऐतिहासिक विकास परम्परा और प्रकृति के क्रिया-कलापों का आधार स्वीकार करते हैं। एक ऐसी वस्तु की कल्पना और उसकी जन्म-गाथा का वर्णन जो सहस्राब्दियों पूर्व घटित हुई हो, बृहस्पति के ही कल्पनाशील मस्तिष्क की अनुभूति हो सकता था। इस कल्पना के लिये उन्होंने प्रश्न को इस प्रकार देखा कि राज्य का स्वरूप और उसके कार्य क्या हैं? और उसके अभाव में होने वाली अवस्था क्या रही होगी। उन्होंने प्रकृति की कार्यप्रणाली का अनुभव किया। वे उसकी निरन्तर नियमितता से अप्रभावित नहीं रह सके। उन्होंने भी अंग्रेज मनीषी लोक की भाँति प्रकृति की नियमितता एवं उसकी कार्य शक्ति को राज्य के उद्भव के पहले प्रजा के कार्यों का संचालक तत्व माना और प्रारम्भिक स्वर्णयुग की कल्पना की। प्रकृति के नियमों को वे धर्म की संज्ञा प्रदान करते हैं और मानव प्रकृति के नियमों को अपने स्वार्थ और व्यक्तिगत हितों के कारण भंग करने लगा। फलतः पतन के युग ने प्रवेश किया। प्राचीन भारतीय राज्य-चिन्तकों में बृहस्पति और भीष्म के अतिरिक्त स्वर्णयुग की कल्पना किसी ने नहीं की। वे राज्य के उद्भव के पूर्व अव्यवस्था या मात्स्य-न्याय का युग मानते रहे। बृहस्पति मात्स्य-न्याय युग को भी राज्य के उदय के पूर्व के युगों में ही स्थान प्रदान करते हैं। यह पूर्व युग की अन्तिम स्थिति थी, न कि राज्य के जन्म के पूर्व की सामान्य स्थिति। एक राजा के पश्चात् दूसरे राजा के सिंहासनारोहण या राज्य क्रान्ति के कारण होने वाली अव्यवस्था ही बार्हस्पत्य मात्स्य-न्याय की कल्पना की सहायक परिस्थिति थी।

राज्य की आधुनिक राजनीतिक कोश की परिभाषा के बहुत ही सन्निकट परिभाषा करते हुए बृहस्पति का कथन है कि राज्य की सात प्रकृतियाँ होती हैं, (जिनमें) पृथिवीपति, अमात्य, राष्ट्र, कोश, दुर्ग, दण्ड एवं मित्र (की गणना होती है)। राज्य की यह परिभाषा स्पष्ट कर देती है कि राज्य के निर्माण के लिये राजा या शासक ही पर्याप्त नहीं है वरन् राज्य का भौगोलिक विस्तार, प्रजा, राजकीय कोश, सुरक्षित राजधानी, सैन्यशक्ति, सहायक मंत्रियों का वर्ग और मित्र शक्ति सभी समान रूप से महत्वपूर्ण हैं। प्रभुसत्ता की आधुनिक परिभाषा के अनुसार अपने आन्तरिक कार्य क्षेत्र की ही भाँति विदेशी सम्बन्धों

के निर्धारण के स्वतंत्र कार्य क्षेत्र से सम्पन्न राज्य, प्रभुसत्ता-सम्पन्न राष्ट्र-राज्य होता है। राज्य की प्रकृतियों में मित्र शक्ति की गणना बृहस्पति एवं अन्य भारतीय अर्थशास्त्रियों की अपनी विशेषता है।

प्राचीन भारतीय अराजक राष्ट्रों और राजतंत्रों दोनों प्रकार के राज्यों और उनकी शासन प्रणालियों का उन्हें पूर्ण ज्ञान था। अराजकों की संघ शक्ति का उन्हें भली भाँति ज्ञान था और उसके विपरीत एकबुद्धि राजा पर निर्भर करने वाले राजतंत्रों का भी। वैदिक परम्परा के प्रबल पोषक के रूप में वे राजतंत्रों के पोषक थे और अर्थशास्त्र की रचना भी उन्होंने राजा के पथ प्रदर्शन के लिये की थी। राजतंत्रों की शक्ति राजा के व्यक्तित्व पर निर्भर करती थी, अतः उन्होंने राजा के लिये गुणवान् होना परमावश्यक माना है। ये सामान्य व्यक्तिगत गुण ही नहीं थे। गुणों में वे विद्यागुण, अर्थगुण तथा सहायगुण, तीनों को, समान महत्व प्रदान करते हैं। उनका स्पष्ट कथन है कि अराजक राष्ट्र परस्पर एक दूसरे की रक्षा कर लेते हैं किन्तु जिन (राजतंत्रों) का राजा मूर्ख होता है उनका शीघ्र-क्षय हो जाता है। राजा के व्यक्तित्व के महत्व की स्थापना के लिये वे राजा के व्यक्तित्व के निर्माण में विभिन्न दैवी शक्तियों का योग मानते हैं। उनके दैवी सिद्धान्त की विवेचना से स्पष्ट हो जाता है कि उनका सिद्धान्त जितना दैवी है उतना ही व्यावहारिक और भौतिक भी। दैवीकरण और शक्तियों का योग, पद के निर्माण के लिये था, व्यक्ति के लिये नहीं। राजवंश परम्परा के पोषक के रूप में नवजात भावी राजा में वे दैवी शक्ति के चमत्कार प्रदर्शित करते हैं। वे राजा को स्थावर एवं चर जगत् का स्वामी मानते हैं। उनका मत है कि उसी के भय से लोग कर्तव्य विमुख नहीं होते। वह वर्णाश्रमों का नेता है। एक सामान्य मानव में यह क्षमता जन साधारण को स्वीकार्य न होती। संभवतः राजा के व्यक्तित्व के दैवीकरण का यही रहस्य था। जहाँ वह देवताओं का सादृश्य रखता था और उनके प्रतिनिधि के रूप में शासन करता था, वहीं वह प्रजा का शासक होते हुए भी सर्वोत्कृष्ट, महान् सेवक था, जिसके समस्त कर्तव्यों का संक्षेप होता था—प्रजारंजन। वह प्रजा का राजनीतिक ही नहीं, नैतिक शासक भी था। सुशासन के पुण्य और अन्याय आदि के समस्त पापों का भी वही भागी होता था। तेज और स्नेह, करुणा एवं अनुशासन आदि भावनाओं का उसके व्यक्तित्व और पद में अद्भुत सामंजस्य होता था।

राजा की मंत्र-शक्ति का प्रतिनिधित्व मंत्री—अमात्य एवं उसका सहायक वर्ग करता था। बृहस्पति राजा के लिये सुनिश्चित और सुनियोजित मंत्र का ज्ञाता होना अनिवार्य मानते हैं। प्रत्यक्ष, परोक्ष एवं अनुमेय कार्यों की बहुलता के कारण उसे मंत्रिवर्ग की नियुक्ति करनी पड़ती थी। बौद्ध भारत में राज्य के निर्माण

और राजा के साम्राज्यवादी प्रयत्नों की रूपरेखा के निर्माण में अग्रामात्य का विशेष योग होता था। बृहस्पति मंत्री और पुरोहित को राजा के माता-पिता के समान मानते हैं। वे स्पष्ट निर्देश करते हैं कि, बाह्य नीति और आन्तरिक नीति के विनिश्चय के अवसरों पर राजा मंत्रियों से परामर्श करे और वे यथा गुरुत्व अपना अभिमत प्रकट करें। बृहस्पति मंत्रियों की नियुक्ति तथा पद वितरण के पूर्व पारिवारिक, व्यक्तिगत, शैक्षिक एवं अनुमान सम्बन्धी सभी गुणों और उपधा (मनोवैज्ञानिक) परीक्षा को महत्व प्रदान करते हैं। कौटिल्य के युग तक इन मापदण्डों के बारे में आचार्यों में बड़ा मतभेद रहा। कौटिल्य ने भी लगभग बार्हस्पत्य मत को ही स्वीकार किया है।

राज्य की अन्तर-राष्ट्रीय प्रतिष्ठा और आंतरिक शक्ति क्षमता का श्रेय प्रशासन नीति को प्रदान करते हुए बृहस्पति का कथन है कि, राजा को गर्भिणी का सहधर्मी होना चाहिये। विषय की सम्यक् विवेचना करते हुए उनका कथन है कि, जिस प्रकार भावी शिशु की मंगल कामना करते हुए गर्भिणी आत्मप्रिय और आत्मसुख का त्याग कर देती है, उसी भाँति प्रजा सुख और हित की कामना करते हुए राजा व्यक्तिगत हानि भी सहन कर ले। उन्हें स्पष्ट ज्ञान था कि, इस महान् आदर्श की पूर्ति प्रत्येक राजा के लिये संभव नहीं, अतः उन्होंने राज-सत्तम का आदर्श प्रस्तुत किया। यह आदर्श प्रेम पूर्ण अनुशासन का था। उनका कथन है कि जिस राजा के राज्य में पिता के गृह में निवास करने वाली संतानों की भाँति प्रजा रहती है—वह राजसत्तम होता है। आन्तरिक प्रशासन के नेता मंत्रियों के साथ आदर्श सम्बन्धों की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए उनका कथन है कि राजा न ही अत्यधिक कठोर हो और न ही हर्षुल एवं मृदु। हर्षुल राजा की मंत्री अवमानना करने लगते हैं और हम राज निर्माता हैं, इत्यादि कहने लगते हैं। सूत्र में बंधे पक्षी की भाँति वे उसे वश में करके उससे क्रीड़ा करना चाहते हैं। अतः वह वसन्त के सूर्य की भाँति हो। न अधिक तेज और न ही शीतल, वह मृदु भी हो, कठोर भी। शासकीय विषयों का महत्व स्वीकार करते हुए उनका कथन है कि, राजा के जितने भी सेवक हों वे सचिव सम्मत हों।

राज्य की दृढ़ता एवं राजधानी की प्रतिष्ठा के लिये दुर्ग का निर्माण किया जाता था। प्रशासन का समस्त कार्य सुविधा के लिये विभिन्न प्रशासकीय विभागों के अन्तर्गत होता था। राज्य के समस्त कार्य कोशाधीन होते थे। बृहस्पति कोश नीति अर्थात् राजकीय अर्थनीति के विनिश्चय और उसके कुशल प्रयोग को विशेष महत्व प्रदान करते हैं। वे वित्तीय प्रशासन में होने वाले परिहापण (गबन) और भ्रष्टाचार के घोर विरोधी हैं।

बृहस्पति आत्म, दारा और लोक की रक्षा के लिये बल संग्रह नीति के बल के समर्थक हैं। वे सैन्य-संख्या पर नियंत्रण परमावश्यक मानते हैं। वे सैन्य शक्ति की असाधारण वृद्धि का विरोध करते हुए कहते हैं कि वह राजा को मार डालती है। उनके इस कथन की सत्यता पुष्यमित्र की सैनिक क्रान्ति से सिद्ध हो जाती है।

न्याय प्रशासन के आदर्श प्रस्तुत करते हुए उनका कथन है कि राज्य में कोई भी स्वधर्म से विचलित व्यक्ति अदण्ड्य नहीं होता चाहे वह राजा का निकट सम्बन्धी ही क्यों न हो। अदण्ड्यों को दण्ड देने वाला और दण्ड्यों को अदण्डित छोड़ देने वाला राजा नरकगामी होगा। बार्हस्पत्य न्याय सम्बन्धी आदर्श समकालीन वर्णाश्रम व्यवस्था से अप्रभावित नहीं रह सके। वे वर्णों के अनुसार निश्चित और निर्धारित अपराधों के लिये दण्ड देने के पक्षपाती हैं। उदाहरणार्थ महापातकों के लिये वे वध दण्ड की योजना करते हैं किन्तु महापातकी होने पर भी ब्राह्मण को वध दण्ड नहीं दिया जा सकता। शिर का मुण्डन करा कर उसे निर्वासित करना ही सबसे बड़ा दण्ड था। बार्हस्पत्य न्याय व्यवस्था की विशेषता थी कि वे अपराध के आक्षेप मात्र से किसी व्यक्ति को अपराधी नहीं मान लेते थे। वे अपराधी घोषित किये गये व्यक्ति और वादी दोनों को ही अपना पक्ष प्रस्तुत करने का अवसर प्रदान करते हैं। क्रियापाद द्वारा विषय की सम्यक् विवेचना के पश्चात् अपराधी को दण्ड देने के वे पक्षपाती हैं। न्याय व्यवस्था की जटिलता स्वीकार करते हुए उनका कथन है कि असत्य सत्यसन्निभ, और निर्दोष अपराधी प्रतीत होते हैं। अतः दण्ड देने के पूर्व सम्यक् विवेचना अनिवार्य है क्योंकि बिना विचार किये न्याय के अन्तर्गत माण्डव्य ऋषि पर चोरी का अपराध मान लिया गया था। बृहस्पति निर्णय के लिये स्थानीय मान्यताओं, अवसर एवं अवस्था सभी को महत्व प्रदान करते हैं। आधुनिक न्याय व्यवस्था की भाँति बार्हस्पत्य न्याय साक्ष्याधीन नहीं है।

बृहस्पति अपने राजा को विश्वेश्वर पद प्रदान कराने के लिये विशेष रूप से प्रयत्नशील थे। विश्वेश्वर पद की प्राप्ति के लिये अन्तर-राज्य क्षेत्रों में अपने राज्य के महत्व की स्थापना के प्रयत्न और उन राज्यों से शान्ति और युद्ध सम्बन्धों की रूपरेखा आवश्यक हो जाती थी। अपने राज्य की स्थिति के लिये उसे मण्डल सम्बन्ध स्थापित करने पड़ते थे। मण्डल में शत्रु, मित्र, मध्यम एवं उदासीन आदि सभी राज्य होते थे। बृहस्पति अष्टादशक राज-मण्डल मानते थे जबकि कौटल्य आदि परवर्ती अर्थशास्त्री द्वादश राज-मण्डल के समर्थक थे। संभवतः बृहस्पति, विजिगीषु राजा की राज्य-प्रकृतियों की भी इस मण्डल के निर्माण के लिये गणना करते रहे होंगे। इन राज्यों से सम्बन्धों की स्थापना में

वे षाड्गुण्य के सभी अंगों को समान रूप से महत्व प्रदान करते हैं और उनके लिये, साम, दान, भेद एवं दण्ड के अतिरिक्त माया, उपेक्षा तथा वध आदि सभी उपायों को मान्यता प्रदान करते हैं। बृहस्पति राज्य की अभिवृद्धि के लिये कोश एवं बल (सेना) दोनों को ही महत्वपूर्ण मानते हैं किन्तु वे यथा-संभव युद्ध के घोर-विरोधी हैं। उनका मत है कि, कलह बालक करते हैं। उन्हें विश्वास है कि नीति के कुशल प्रयोग द्वारा अपने राज्य की वृद्धि और शत्रु का पतन दोनों ही संभव हैं। अन्तर-राज्य सम्बन्धों में अविश्वास के प्रयोग की नीति उनकी विशेषता है। वे केवल हीन शक्ति शासक के साथ ही युद्ध करने को मान्यता प्रदान करते हैं। उनका कथन है कि, तीनों उपायों (साम, दान एवं भेद) से संयुक्त होने पर भी सम शासक से युद्ध न करे क्योंकि इसमें अन्योन्याहति ही होती है। बलिन् से तो युद्ध करने का प्रश्न ही नहीं उठता था।

इस प्रकार बृहस्पति ने जिस राज्य-व्यवस्था एवं परम्परा को जन्म दिया उस पर अग्रसर होकर कौटिल्य आदि अर्थशास्त्रियों ने विषय का अध्ययन एवं प्रतिपादन ही नहीं किया वरन् वैज्ञानिक चिन्तन की भावना का संवर्धन भी किया था।

●

अंग्रेजी-हिन्दी परिभाषिक शब्दावली

According to seniority.	यथा गुरुत्व
Accused.	प्रतिवादी
Approved.	सम्मत, स्वीकृत
Arrest.	आसेध
Assistant.	सहाय, सहायक
Asylum.	शरण, आश्रय
Calamity.	व्यसन
Chief Justice.	प्राड्विवाक
Circle of States.	मण्डल योनि
Complainant.	वादी
Conquering monarch,	विजिगीषु
Council of Ministers.	मन्त्रिपरिषद्
Councillors.	मंत्री, परामर्शदाता
Counsel	मंत्र, मत
Coup' d' etate	सैनिक क्रान्ति
Crisis	संकट
Defendant.	प्रतिवादी
Department.	तीर्थ, विभाग
Decided policy.	अभिमत
Divergence of Opinions.	मत वैभिन्य
Documents.	लिखित प्रमाण
Elements theory.	प्रकृति सिद्धान्त
Enlightened ruler.	उदारचेता शासक
Extremist	उग्रवादी
Fort architecture.	दुर्ग वास्तु
Government.	शासन यंत्र, सरकार
Hall of audience.	आस्थान मण्डप
Hall of Justice.	न्याय अथवा धर्म सभा
Inter-National Law.	अन्तर-राष्ट्रीय विधान
Inter-State Relations.	अन्तर-राज्य सम्बन्ध
Internal Policy.	आन्तरिक नीति

Internal Solidarity.	आन्तरिक दृढ़ता
Judgment.	निर्णय
Judicial Administration.	न्याय प्रशासन
Judicial Procedure.	न्याय प्रक्रिया
Justice.	धर्म, न्याय, व्यवहार
Lodging of plaint.	वाद की स्थापना
Majority vote.	बहुमत
Ministry	मन्त्रिपरिषद्
Oath	शपथ
Occupation	भोग
Of Prime Importance	कूटस्थानीय
Ordeal	परीक्षा
Personnel	भृत्यवर्ग
Plaint	वाद
Plaintiff	वादी
Policy	नीति
Proof	प्रमाण
Public Administration	राजकीय प्रशासन
Regulating force.	नियामक शक्ति
Republic	गणतन्त्र
Ruler	शासक
........different titles.	राजा, भूपति, भूप, नरपति, पृथिवीपति, विश्वेश्वर सम्राट्
Secrecy of Counsel	मंत्रगुप्ति
Six fold policy	षाड्गुण्य
,, Sub-headings.	सन्धि, विग्रह, यान, स्थान, संश्रय एवं द्वैधीभाव
,, Ways or means of policy.	साम, दान, भेद, दण्ड, माया, उपेक्षा, वध,
Sovereignty	राजसत्ता, प्रभुसत्ता
Subordinate Executives	कर्म सचिव
Surity	प्रतिभू
War of Nerves.	शीतयुद्ध, मौन आहव
Witness.	साक्षी

★

सहायक ग्रन्थ सूची

वैदिक साहित्य

अथर्ववेद—विश्व बन्धु शास्त्री, होशियारपुर, १९६०, अनु० ग्रिफिथ चौखम्बा प्रकाशन

ऐतेरेय ब्राह्मण—हरि नारायण आप्टे, पूना, १८९६, अनु० ए० बी० कीथ, हार्वर्ड ओरियन्टल सिरीज, वाल्यूम, २५, १९२०

ऋग्वेद—एफ मैक्स मूलर, चौखम्बा प्रकाशन, लन्दन, १९६५ सातवलेकर

यजुर्वेद—वाजसनेयी संहिता–महीधर कृत व्याख्या····ए० वेबर, लन्दन, १९५२, चौखम्बा प्रकाशन १९१२, वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशोकर–उव्वट महीधर व्याख्योपेत, वम्बई, १९२९

शतपथ ब्राह्मण—ए० वेबर, चौखम्बा प्रकाशन १९६४, अनु० जे० एगलिंग, सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, वाल्युम १७,२६,४१,४३,४४, आक्सफोर्ड, १८८२–१९००

धर्मसूत्र

आपस्तम्ब—आर० एन० सूर्यनारायण, बंगलोर, १९३३, हरदत्त कृत टीका, चौखम्बा प्रकाशन बनारस, १९३२, अनु० जे० बुह्लर, सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, वाल्यूम २, आक्सफोर्ड, १८७९

गौतम—हरदत्त कृत टीका, आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज, ६१, पूना, १९१०

बौधायन—ई० हुल्श, लिपजिग, १८८४, चौखम्बा प्रकाशन १९३४, अनु० बुह्लर, सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, वाल्यूम १४, १९३२

गृह्यसूत्र

पारस्कर गृह्यसूत्र—चौखम्बा प्रकाशन १९२६, बम्बई, १९१७

धर्मशास्त्र

कात्यायन स्मृति जौला, सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, वाल्यूम ३३

बृहस्पति स्मृति—प्रो० के० वी० रंगस्वामी आयंगर, गायकवाड ओरियन्टल सिरीज ८५, बड़ोदा, १९४१, जौली, सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, वाल्यूम ३३

मानव धर्मशास्त्र—जूलियस जौली, ट्रबनर ओरियन्टल सिरीज; लन्दन, १८८७, कुल्लूक भट्ट कृत टीका, बम्बई, १९२९, बुहलर, सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, वाल्यूम २५, आक्सफोर्ड १८८६, गंगानाथ झाग, ५ वाल्यूम, कलकत्ता, १९२०-२६

याज्ञवल्क्य—मिताक्षरा सहित, वामन शास्त्री पंसीकर, बम्बई, १९०९, हरि नारायण आप्टे, आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज़, वाल्यूम २, पूना, १९०३–०४, मित्रमिश्र–वीरमित्रोदय, चौखम्बा प्रकाशन, बनारस, १९२१

स्मृतीनां समुच्चयः—हरिनारायण आप्टे, आनन्दाश्रम संस्कृत सिरीज़, पूना, १९०५

व्याकरण ग्रन्थ

अष्टाध्यायी—पाणिनीयाष्टकम् , गुरुकुल हरिद्वार, १९५९

कामसूत्र—वात्स्यायन, यशोधर कृत टीका, चौखम्बा प्रकाशन १९२९

अर्थशास्त्र

कामन्दकीय नीतिसार—ज्वालाप्रसाद मिश्र, बम्बई, १९१०, गुजराती टीका

कौटिलीय अर्थशास्त्र—डा० आर० श्याम शास्त्री, मैसूर, १९१९, जौली, पंजाब संस्कृत सिरीज़, लाहौर, १९२३, टी० गणपतिशास्त्री, १९२४, उदयवीर शास्त्री, १९२५, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी १९६२

नीतिवाक्यामृत—हरिबलीया टीका, पन्नालाल सोनी, बम्बई, १९२२

बार्हस्पत्य सूत्र—पं० भगवद्दत्त, पंजाब संस्कृत सिरीज़, लाहौर, १९२१

शुक्रनीतिसार—मिहिर चन्द्र, बम्बई, १९०९, मनु० डा० बी० के० सरकार, सेक्रेड बुक्स आफ दि हिन्दूज, वाल्यूम १३, इलाहाबाद, १९१४

निबन्ध ग्रन्थ

अभिलषितार्थचिन्तामणि—सोमेश्वर देव, मैसूर, १९२६

दण्डविवेक—वर्धमान–गायकवाड ओरियन्टल सिरीज़ ५२, बड़ोदा, १९३१

धर्मकोश—लक्ष्मण शास्त्री जोशी, वाल्यूम १, पार्ट १–सतारा, १९३७

नीतिकल्पतरु—क्षेमेन्द्र, वी० डी० महाजन, भंडारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९५६

नीतिमयूख—नीलकण्ठ, बम्बई, १९२१

राजधर्मकौस्तुभ—अनन्त देव, गायकवाड ओरियन्टल सिरीज, ४२, बड़ोदा, १९३५

राजनीतिरत्नाकर—चण्डेश्वर

वीरमित्रोदय—राजनीति प्रकाश–मित्रमिश्र, चौखम्बा प्रकाशन,बनारस,१९१६

वीरमित्रोदय—लक्षण प्रकाश—मित्रमिश्र, चौखम्बा प्रकाशन,बनारस, १९१४

सरस्वतीविलास—प्रतापरुद्र, डा० आर० श्याम शास्त्री, मैसूर, १९२७

स्मृतिचन्द्रिका—जे० आर० घरपुड़े, पूना, १९४६

पुराण

अग्नि पुराण

स्कन्द पुराण

महाकाव्य

महाभारत—क्रिटिकल एडीशन, सुक्थंकर, भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, १९२७–५७, दक्षिणी संस्करण, जी० पी० एस० शास्त्री, मद्रास, १९३१, कलकत्ता संस्करण, शिरोमणि, बिब्लियोथिका इण्डिका, कलकत्ता, १८३४–३९, अनु० पी० सी० राय

रामायण—विश्वबन्धु शास्त्री, लाहौर, १९३५

जैन एवं बौद्ध ग्रन्थ

अंगुत्तरनिकाय—मौरिस एवं हार्डी, पाली टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन, १८८५–१९००, अनु० उडवर्ड, पाली टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन १९३२

आचारांग सूत्र—अनु० जैकोबी, सेक्रेड बुक्स आफ दि ईस्ट, वाल्यूम २२, आक्सफोर्ड, १८८४

जातक—कौवेल, पाली टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन, १९३२

दीघनिकाय—रिस डेविड्स एवं कार्पेन्टर, पाली टेक्स्ट सोसाइटी, लन्दन १९३२

संस्कृत साहित्य

अभिज्ञानशाकुन्तल—कालिदास, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी

पंचतंत्र—पुण्यभद्र, हर्टेल, हार्वर्ड ओरियन्टल लैनमैन सिरीज, केम्ब्रिज, १९०८

प्रतिमानाटक—भास, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी

बृहत् संहिता—वराह मिहिर, चौखम्बा प्रकाशन १९५९

बुद्धचरित—अश्वघोष, कौवेल, आक्सफोर्ड, १८९३, अनु० कावेल, सेक्रेड आफ बुक्स दि ईस्ट, वाल्यूम ४०, आक्सफोर्ड, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी, १९५२

मालविकाग्निमित्र—कालिदास, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी

मुद्राराक्षस—विशाखदत्त, ,, ,, ,,

हर्षचरित—बाण भट्ट, ,, ,, ,,

ललित विस्तर—एस० लेफमेन, हाल, १९०२

वास्तुशास्त्र

आर्किटेक्चर आफ मानसार—पी० के० आचार्य, इलाहाबाद, १९२७

ए डिक्शनेरी आफ हिन्दू आर्किटेक्चर—पी० के० आचार्य, इलाहाबाद, १९२७

मानसार—पी० के० आचार्य, इलाहाबाद, १९३३

विट्रूवियर (मानसार में उपलब्ध उद्धरण)—पी० के० आचार्य, इलाहाबाद, १९३३

समरांगण सूत्रधार—भोजदेव, गायकवाड ओरियण्टल सिरीज, बड़ोदा, १९२४

कोश

अमरकोश—अमरसिंह, सतीश चन्द्र विद्याभूषण, कलकत्ता, १९०१

ए संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी—एच० एच० विलसन

ए संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी—मोनियर विलियम्स, आक्सफोर्ड, १९५१

डिक्शनरी आफ पाली प्रोपरनम्स—मलाल सेकर

शब्दकल्पद्रुम—राधाकान्त देव, चौखम्बा प्रकाशन, वाराणसी १९६१

अभिलेखात्मक सामग्री

इपीग्राफिया इण्डिका—कोर्पस इन्स्क्रिप्शनम इण्डिकेरम, वाल्यूम १, ईश्र हुल्श, आक्सफोर्ड, १९२५, कोर्पस इंस्क्रिप्शनम इण्डिकेरम, वाल्यूम, ३, फ्लीट, कलकत्ता, १८८८

प्रियदर्शिप्रशस्तयः—पं० रामावतार शर्मा, पटना, १९१५

सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स बियरिं आन इण्डियन हिस्ट्री एण्ड सिविलाइजेशन—डा० डी० सी० सरकार, कलकत्ता, १९४२

मध्यकालीन (अनुदित) ग्रन्थ

आइने अकबरी—अबुल फजल—अनु०ग्लैंडविन १८००

आधुनिक ग्रन्थ

इण्टरनेशनल लौ—ओपेन हाइम

इण्टरनेशनल लौ ऐण्ड इण्टर स्टेट रिलेशन्स इन एन्शियन्ट इण्डिया—डा० एच० एल० चटर्जी, कलकत्ता, १९५८

इण्डस सिविलाइजेशन—सर मौर्टिमर ह्वीलर (कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया, वाल्यूम १ सप्लीमेंट), कैम्ब्रिज, १९५३

इण्डिया ऐज नोन टु पाणिनि—डा० वी० एस० अग्रवाल, लखनऊ, १९५३

इण्डो आर्यन पौलिटी—पी० सी० बसु, इलाहाबाद, १९१९

इवोल्यूशन आफ इण्डियन पौलिटी—डा० आर० श्याम शास्त्री, कलकत्ता १९२०

ए डिक्शनरी आफ इण्डियन पोलिटिकल आइडियाज—डा० यू० एन० घोषाल, बम्बई, १९५९

एलिमेंट्स आफ पोलिटिकल साइन्स—लीकोक, लन्दन, १९२४

एन्शियन्ट इण्डिया ऐज डिस्क्राइब्ड बाई मेगस्थनीज एण्ड एरियन—मैकक्रिण्डल, कलकत्ता, १९६६

एसेज आन दि लौज आफ नेचर—जौन लौक, वोन लेडेन, आक्सफोर्ड, १९५४

कल्चरल हिस्ट्री फ्राम दि वायु पुराण—डी० आर० पाटिल, पूना, १९४६

कार्पोरेट लाइफ इन एन्शियन्ट इण्डिया—डा० आर० सी० मजुमदार, कलकत्ता, १९२२

कारमाइकेल लेक्चर्स आन एन्शियन्ट इण्डियन पौलिटी—डा० डी० आर० भण्डारकर, कलकत्ता १९

केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया—वाल्यूम १, दिल्ली, १९५५

कौटिल्य की राज्य व्यवस्था—डा० एस० एल० पाण्डेय, लखनऊ १९५६

गवर्नमेंट्स आफ ग्रेटर यूरोपियन पावर्स—हरमैन फाइनर, लन्दन, १९५६

गुप्त इम्पायर—डा० आर० के० मुकर्जी, बम्बई, १९५९

गुप्तकालीन मुद्राएं—डा० ए० एस० अल्तेर, पटना, १९५४

डेवलपमेंट आफ हिन्दू आइकानोग्राफी—डा० जे० एन० बेनर्ज्या, कलकत्ता, १९५६

डेवलपमेंट आफ हिन्दू पौलिटी ऐण्ड पोलिटिकल थ्योरी—एन० सी० बन्द्योपाध्याय, कलकत्ता १९२७

दि अर्ली हिस्ट्री आफ सीलोन—डा० जी० सी० मेंडिस, कलकत्ता, १९५४

दि इवोल्यूशन आफ डिप्लोमेटिक मेथड—हेराल्ड निकलसन, लन्दन, १९५४

दि नेचर ऐण्ड ग्राउन्ड्स आफ पोलिटिकल ओब्लीगेशन इन हिन्दू स्टेट—जे० जे० अंजरिया, बम्बई, १९३९

दि न्यू फाउन्डेशन्स आफ इण्टरनेशनल लॉ—जार्ज अमेरिकानो, न्यूयार्क, १९४७

दि पोलिटिकल थ्योरी इन एन्शियन्ट इन्डिया—डा० बेनी प्रसाद, इलाहाबाद, १९२७

दि रिलेटिविटी आफ पीस ऐण्ड वार—ग्रोब, येल, १९४९

दि स्टेट इन एन्शियन्ट इण्डिया—डा० बेनी प्रसाद, इलाहाबाद, १९२८

दि हिस्ट्री आफ दि गुर्जर प्रतीहाराज—डा० बी० एन० पुरी, बम्बई,

दिल्ली सल्तनत—अंग्रेजी एवं हिन्दी—डा० ए० एल० श्रीवास्तव, आगरा, १९५३

पब्लिक ऐडमिनिस्ट्रेशन इन एन्शियन्ट इण्डिया—डा० पी० एन० बेनर्ज्या, लन्दन, १९१६

पाणिनिकालीन भारतवर्ष—डा० वी० एस० अग्रवाल, चौखम्बा प्रकाशन बनारस, १९५५

पालियामेन्टरी गवर्नमेंट इन इंग्लैंड—हेराल्ड जे० लास्की, लन्दन, १९३८

पोलिटिकल इन्स्टीट्यूशन्स ऐण्ड थ्योरीज़ आफ दि हिन्दूज—डा० बी० के० सरकार, लिपजिग, १९२२

पोलिटिकल थ्योरी—एन्शियन्ट एण्ड मेडिवल—डब्ल्यू० ए० डनिंग, न्यूयार्क, १९२३

पोलिटिकल थौट इन इंग्लैंड—फ्राम बेकन टु हेलीफैक्स—गूथ, लन्दन, १९५०

पोलिटिकल हिस्ट्री आफ एन्शियन्ट इण्डिया—डा० एच० सी० राय चौधरी, कलकत्ता, १९५०

प्री बुद्धिस्ट इण्डिया—आर० एल० मेहता, बम्बई, १९३९

प्री हिस्टोरिक इण्ड़िया—स्टुअर्ट पीगोट, लन्दन, १९५२

बुद्धिस्ट इण्डिया—रिसडेविड्स, कलकत्ता, १९५०

बुद्धिस्ट रेकार्ड्स आफ दि वेस्टर्न वर्ल्ड—सेमुअल बील, लन्दन, १८८४

भारतीय संस्कृति—शिवदत्त ज्ञानी, बम्बई, १९४३

मिलिटरी सिस्टम इन एन्शियन्ट इण्डिया—डा० बी० के० मजुमदार, कलकत्ता, १९६०

राजधर्म—प्रो० के० वी० रंगस्वामी आयंगर, अडयार, १९४१

लेवायथन—टौमस हौब्स

लोकल सेल्फ गवर्नमेंट इन एन्शियन्ट इण्डिया—डा० आर० के० मुकर्जी, आक्सफोर्ड, १९२०

वार इन एन्शियन्ट इण्डिया—वी० आर० आर० दीक्षितर, मद्रास, १९४४

वैदिक सेलेक्शन—पार्ट २–दि युनिवर्सिटी आफ बौम्बे न० १४८ बम्बई, १९३६

शुक्र की राजनीति—डा० एस० एल० पाण्डेय, लखनऊ, १९५२

शेरशाह—डा० के० आर० कानूनगो, १९२१

सम ऐस्पेक्ट्स आफ एन्शियन्ट हिन्दू पौलिटी—डा० डी० आर० भण्डारकर, कलकत्ता, १९२९

ऐस्पेक्ट्स आफ पोलिटिकल आइडियाज ऐण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन एन्शियन्ट इण्डिया—डा० आर० एस० शर्मा, बनारस, १९५९

सम हिस्टौरिकल ऐस्पेक्ट्स आफ बंगाल इन्स्क्रिप्शन्स—डा० बी० सी० सेन, कलकत्ता, १९४२

सेटोज गाइड टु डिप्लोमैटिक प्रैक्टिस—संस्करण, ४ सर नेवेली ब्लेण्ड, ग्लासगो, १९५७

स्टडीज इन एन्शियन्ट इण्डियन पौलिटी—एन० एन० लो, कलकत्ता, १९४४

स्टडीज इन कौटिल्य—डा० एम० वी० कृष्ण राव, मैसूर, १९५३

स्टडीज इन हिन्दू पोलिटिकल थौट—ए० के० सेन, कलकत्ता, १९२६

स्टेट एण्ड गवर्नमेंट इन एन्शियन्ट इण्डिया—डा० ए० एस० अल्तेकर, बनारस, १९५५

हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र—प्रो० पी० वी० काणे, बम्बई, १९५

हिस्ट्री आफ पोलिटिकल थ्योरीज—जी० एच० सबाइन, न्यूयार्क, १९३७

हिन्दू ऐडमिनिस्ट्रेटिव इन्स्टीटयूशन्स—वी० आर० आर० दीक्षितर, मद्रास, १९२९

हिन्दू जुडीशल सिस्टम—वरदाचारियर, लखनऊ, १९४६

हिन्दू पालिटी—डा० के० पी० जायसवाल, बंगलोर, १९५५

हिन्दू राज्यशास्त्र—पं० अम्बिका प्रसाद बाजपेयी, प्रयाग, १९४९

हिन्दू सभ्यता—डा० आर० के० मुकर्जी, अनु० वी०—एस० अग्रवाल

हिन्दू सिविलाइजेशन—डा० आर० के मुकर्जी, बम्बई, १९५६

क्षत्रिय क्लान्स इन बुद्धिस्ट इण्डिया—डा० बी० सी० लो, कलकत्ता १९२२

पत्र-पत्रिकाएं—विशेष लेख

जर्नल आफ दि यू० पी० हिस्टोरिकल सोसाइटी—कोश इन दि स्मृतीज—डा० आर० के० दीक्षित, न्यू सिरीज, वाल्यम ५, पार्ट १, लखनऊ १९५७

जर्नल आफ दि युनिवर्सिटी आफ बौम्बे—राज्यशास्त्रज आफ बृहस्पति, उशनस्, भारद्वाज एण्ड विशालाक्ष, प्रो० पी० वी० काणे, बम्बई, १९४०

जर्नल आफ दि रिसर्चेज आफ दि यूनिवर्सिटीज आफ उत्तर प्रदेश—किंगशिप इन याज्ञवल्क्य स्मृति, डा० आर० के० दीक्षित, आगरा, १९५८

प्रोसीडिंग्ज आफ इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस—२३ वर्ष, अलीगढ़, १९६० हिन्दू पौलिटी—आर० बाजपेयी ।
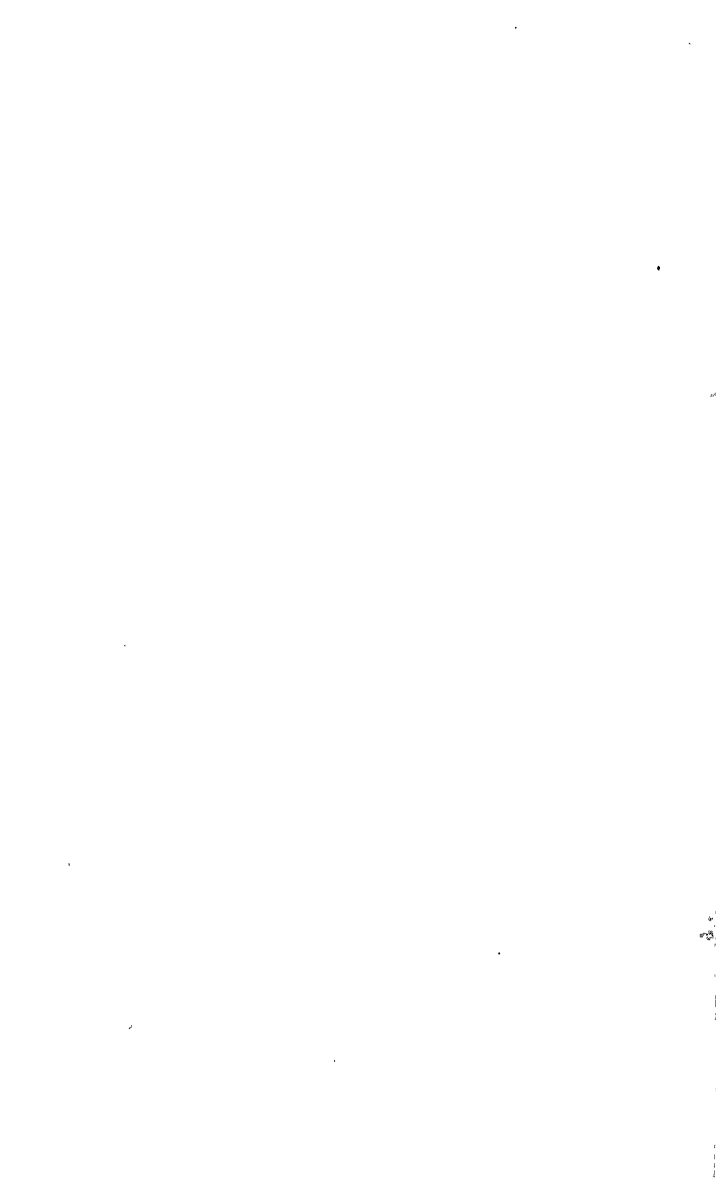
बार्हस्पत्य राज्य-व्यवस्था

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	४ (टि०)	Elementary	Elements
५	१८	इससे	इसे
६	१४	महत्त्व-वास्तविक	महत्त्व, वास्तविक
९	४ (टि०)	धृत	धृ
"	७ "	की धर्म	भी धर्म
१०	२७	वितानों	विधानों
१२	२१	मब्द	शब्द
१३	१५ (टि०)	अंधें	अंधे
२५	१६	पुराणसूक्त	पुरुषसूक्त
२६	४ (टि०)	नार्थितुमिच्छति	नार्चितुमिच्छति
३२	२५	"लीज़"	"लॉज़"
४०	६ (टि०)	से क्या	से भी
४३	१६	के लिये निकटभूत	के बाद निकट भविष्य
४५	६ (टि०)	पापान्दयस्युग्रेण	पापान्दहत्युग्रेण

पृष्ठ ४९ से ८१ तक अध्याय संकेत 'राजत्व सिद्धान्त०' न होकर 'पृथिवीपति' होगा।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५३	१३	छत्रिय	क्षत्रिय
५५	३ (टि०)	Ovor	Over
५७	७ "	साधकः	साधकाः
५८	१३ "	व्यपतेत्य	व्यपेत्य
"	"	वरयाँचकार	वरयाञ्चकार
५९	९	छिद्रष्टा	छिद्रद्रष्टा
"	३ (टि०)	प्रजाप्रगल्भः	प्रज्ञाप्रगल्भः
६०	१	शास्त्रज्ञान	शास्त्रज्ञान
६४	५ (टि०)	अद्रोहणैव	अद्रोहेणैव
८०	२२	वरान्	वरन्

पृ० ९० के बाद पृ० ९१ की अंतिम दो पंक्तियाँ पढ़ें। पृष्ठ ९० में टिप्पणी की प्रारंभिक २ पंक्तियाँ टि० ७, पंक्ति २ के बाद पढ़ें।

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
९५	२५	संख्या	संस्था
१०४	१८	छाता	छाया
११६	८	प्रदेषद्	प्रदेष्ट्
११८	२१	मन्त्री तथा	मैत्री तथा
११९	१६	लिपि कन्ध	लिपि बद्ध

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११९	१९	सुधारु	सुचारु
१२०	१०	होता था	होती थीं।
१२४	७	बनाना	बनाता
"	१५	मंत्री के	मैत्री के
१२५	५	पद्धति पर दण्ड देने वाला राजा अपराधी हीनाधिक के पाप में	पद्धतिपर हीनाधिक दण्ड देने वाला राजा अपराधी के पाप में
१२७	५ (टि०)	Prag	Frag
१२८	९	नाम	लाभ
१३०	२०	व्यथा	वृथा
१३३	२०	अवैधानिक	अवैज्ञानिक
१३४	१७	अन्य	वन्य
१४०	११ (टि०)	द्युतं	द्यूतं
१४१	५ "	Snluanate	Sultanate
१४२	६	सम्मिलन रूप	सम्मिलित रूप
१४३	३ (टि०)	मनु और पुलिस	मनु ऐण्ड पुलिस
१४५	६	सामजफल सुत्त	सामञ्फल सुत्त
१४८	५ (टि०)	षडगिनी	षडंगिनी
१५२	८	विशिष्ट	विष्टि
"	२६	अनासेच्य	अनासेध्य
१५४	१ (टि०)	प्रपसकक्षोरस्या	प्रपक्षकक्षोरस्या
१५७	२२	विपयक वस्तु वास्तु-	विषयक वस्तु-
१६०.	२४–२५	अट्टाकर्तो	अट्टालकों
१६१	१६	निदेश	निवेश
१६२	२६	चौथे	चौड़े
१६६	१४	कर्ता	वार्ता
१७३	२५	तथा···हो जात है।	०
१७५	८	डा० ऋतेकर	डा० अल्तेकर
१७७	३	अनुसंधान	अनुसंयान
१८०	१५	मुक्ति	भुक्ति
१८६	२ (टि०)	यदि त तथा	यदि तत्तथा
१८८	१६	अत्यंगना	अंत्यंगना
१९२	८	दिव्या प्रमाण	दिव्य प्रमाण
"	११ (टि०)	पेजवने	पैजवनें
१९७	" "	बाध्येते	बाध्यते
१९८	५ "	Outtines	Outlines

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२०५	१२	पता लगाता	०
२०७	१४	न्विषि	त्विषि
”	५ (टि०)	यह	सह
२१५	७	अर्थ-स्वतन्त्र	अर्ध स्वतन्त्र
”	२१	धर्मार्थशास्त्र	धर्मार्थशास्त्री
२१६	१७	कृत्रिमों संबंधों	कृत्रिम सम्बन्धों
२१९	४	प्रयोजकीय	प्रयोजनीय
२२३	४	विद्याविद् उच्छेद, अपचय, शत्रु के कार्यों के चार प्रकार मानते हैं। पीडन और कर्षण	विद्याविद् शत्रु के कार्यों के चार प्रकार मानते हैं : उच्छेद, अपचय, पीड़न और कर्षण।
२३०	१	नष्ट करजा	नष्ट करना
”	४ (टि०)	निर्विषीध	निर्विषी
२४०	४	माध्यम	मध्यम
२४१	५ (टि०)	सम्मानविकृतः	सम्मानाविकृतः
२४२	१ (टि०)	Diplomatice	Diplomatic
२४३	१४	समक्ष	समर्थ
२४५	१०	आदश	आदर्श
२४९	१	के वल	०